इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

अंतर–विषयक एवं परा–विषयक अध्ययन विद्यापीठ
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

बीपीवाईसी–131
भारतीय दर्शन

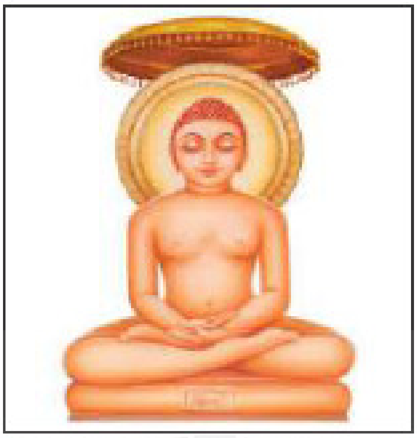
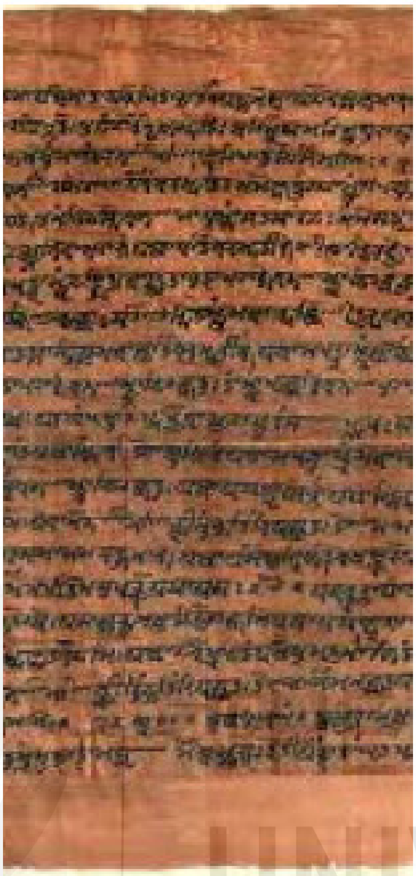

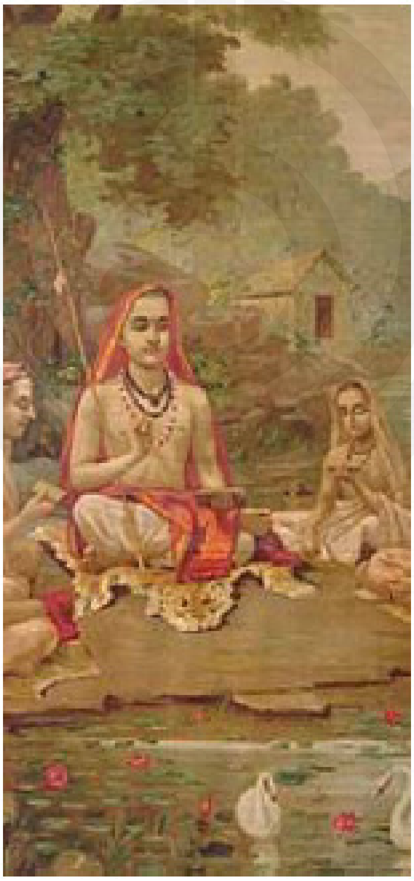
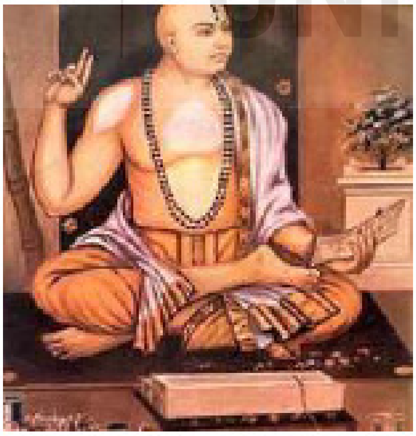

भारतीय दर्शन

"शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।"

– इन्दिरा गांधी

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

अंतर–विषयक एवं
परा–विषयक अध्ययन विद्यापीठ
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

बीपीवाईसी–131

भारतीय दर्शन

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

अंतर–विषयक एवं परा–विषयक अध्ययन विद्यापीठ
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

विशेषज्ञ समिति

प्रो. पी. टी. सेबस्टियन
विजिटिंग प्रोफेसर, जेएनयू
एवं आचार्य (दर्शनशास्त्र),
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

डॉ. गीता नाथ
दर्शन विभाग
रामजस महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. सुमेश एम. के.
दर्शनशास्त्र विभाग
कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. रूपलेखा खुल्लर
दर्शनशास्त्र विभाग
जानकी देवी स्मृति महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. अमित कुमार प्रधान
दर्शनशास्त्र विभाग,
रामजस महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. बिन्स सेबस्टियन
दर्शनशास्त्र विभाग,
सेन्ट स्टीफेन्स महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. सुदम्या कुलकर्णी
दर्शनशास्त्र विभाग
जानकी देवी स्मृति महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. गरिमा मणि त्रिपाठी
दर्शनशास्त्र विभाग
माता सुन्दरी महिला महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

सुश्री प्रियम माथुर
परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र)
एसओआईटीएस, इग्नू

एसओआईटीएस अकादमिक सदस्य
प्रो. नन्दिनी सिन्हा कपूर
प्रो. वी रुपिणि
डॉ. शुभांगी वैद्य
डॉ. सदानन्द साहू

पाठ्यक्रम निर्माण दल

खण्ड	इकाई लेखक	इकाई अनुवादक
खण्ड 1 भारतीय दर्शन का परिचय		
इकाई 1 भारतीय दर्शन की रूपरेखा	प्रो. एम. आर. नन्दन	श्री प्रवेश कुमार
इकाई 2 भारतीय ग्रंथ	प्रो. एम. आर. नन्दन	श्री प्रवेश कुमार
इकाई 3 महाकाव्यों का दर्शन	श्री अजय जायसवाल	डॉ. विजय कुमार
इकाई 4 नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन	श्री अजय जायसवाल	श्री आशुतोष व्यास
खण्ड 2 औपनिषदिक दर्शन: मूल विषय– I		
इकाई 5 उपनिषदों के दर्शन का परिचय	श्री दीपक कुमार सेठी	डॉ. अफजल अहमद
इकाई 6 मोक्ष के विभिन्न उपागम	श्री अजय जायसवाल	डॉ. अफजल अहमद
इकाई 7 प्रश्न उपनिषद्	श्री दीपक कुमार सेठी	डॉ. अफजल अहमद
इकाई 8 मुण्डक उपनिषद्	डॉ. जॉन पीटर	डॉ. आर. एस. दूवा
इकाई 9 माण्डूक्य उपनिषद्	डॉ. जॉन पीटर	डॉ. आर. एस. दूवा
खण्ड 3 औपनिषदिक दर्शन: मूल विषय– II		
इकाई 10 ईश उपनिषद्	श्री अजय जायसवाल	डॉ. अफजल अहमद
इकाई 11 कठोपनिषद्	डॉ. जॉन पीटर	श्री आशुतोष व्यास
इकाई 12 छान्दोग्य उपनिषद्	प्रो. एम आर नन्दन	श्री प्रवेश कुमार
इकाई 13 बृहदारण्यक उपनिषद्	डॉ. परिमल जी. के.	श्री प्रवेश कुमार

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड 4 नास्तिक दर्शन		
इकाई 14 चार्वाक	प्रो. सुधा गोपीनाथ	प्रो. ए. के. राई
इकाई 15 जैन दर्शन	प्रो. सुधा गोपीनाथ	प्रो. ए. के. राई
इकाई 16 बौद्ध दर्शन– 1	प्रो. सुधा गोपीनाथ	प्रो. ए. के. राई
इकाई 17 बौद्ध दर्शन– 2	प्रो. सुधा गोपीनाथ	प्रो. ए. के. राई

खण्ड 5 आस्तिक दर्शन		
इकाई 18 न्याय–वैशेषिक	डॉ. सत्य सुन्दर सेठी	श्री दिलीप जायसवाल
इकाई 19 सांख्य–योग	डॉ. सत्य सुन्दर सेठी	श्री दिलीप जायसवाल
इकाई 20 मीमांसा	डॉ. सत्य सुन्दर सेठी	श्री दिलीप जायसवाल
इकाई 21 वेदान्तः शंकर, मध्व, रामानुज	डॉ. एस. भुवनश्वरी	डॉ. आनन्द पाण्डे
इकाई 22 शैव दर्शन और वैष्णव दर्शन	डॉ. जॉन पीटर	डॉ. आनन्द पाण्डे

विषय–वस्तु सम्पादक

डॉ. रुपलेखा खुल्लर, जानकी देवी स्मृति महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. गरिमा मणि त्रिपाठी, माता सुन्दरी महिला महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. विजय कुमार

विषय–वस्तु सम्पादन (हिन्दी)

डॉ. अमित कुमार प्रधान, रामजस महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. विजय कुमार

श्री आशुतोष व्यास, परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र), एसओआईटीएस, इग्नू, नई दिल्ली

प्रारूप सम्पादक

प्रो. नन्दिनी सिन्हा कपूर, एसओआईटीएस, इग्नू, नई दिल्ली

श्री आशुतोष व्यास, परामर्शदाता, एसओआईटीएस, इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम समन्वयक

प्रो. नन्दिनी सिन्हा कपूर, एस. ओ. आई. टी. एस, इग्नू नई दिल्ली

अकादमिक परामर्श (दर्शनशास्त्र) श्री आशुतोष व्यास

कवर डिजाइन सुश्री प्रियम माथुर

सामग्री निर्माण

श्री वाई. एन. शर्मा	श्री सुधीर कुमार
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)	अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली	एम.पी.डी.डी., इग्नू, नई दिल्ली

जनवरी, 2021

© इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2021

ISBN : 978-93-90773-69-5

सर्वाधिकारी सुरक्षित। इस कृति का कोई भी अंश या किसी भी अन्य रूप में, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पुनरूत्पादित नहीं किया जा सकता है।

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय से संबंधित सूचना प्राप्त करने के लिए इसके मैदान गढ़ी, नई दिल्ली–110068 स्थित कार्यालय से संपर्क किया जा सकता है।

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुल सचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरण प्रभाग द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित

टाइपसैटिंग एवं मुद्रण : मैसर्स हाईटेक ग्राफिक्स, डी–4/3, ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया, फेस–2, नई दिल्ली – 110020

पाठ्यक्रम परिचय

प्रस्तुत पाठ्यक्रम प्राचीन भारतीय दर्शन की मूलभूत मान्यताओं/सिद्धान्तों को रेखांकित करता है। यह पाठ्यक्रम नौ भारतीय दार्शनिक प्रणालियों/सम्प्रदायों की मूल अवधारणाओं के साथ–साथ अनेक उपनिषदों का उनकी विस्तृत दार्शनिक व्याख्याओं के साथ चर्चा करता है। इस पाठ्यक्रम की अपरिहार्यता का कारण यह है कि यह, आगामी दार्शनिक अध्ययनों की पृष्ठभूमि तैयार करता है एवं तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के परिचयात्मक दृष्टिपात के लक्ष्य की प्रतिपूर्ति करता है। इस मूल पाठ्यक्रम का उद्देश्य भारतीय दर्शन के विभिन्न विषयात्मक प्रसंगों के माध्यम से परिचय कराना और दर्शन में मूलभूत अवधारणाओं की निर्मिति एवं उनका विश्लेषण है।

दर्शन अथवा भारतीय दर्शन पद विस्तारित रूप से भारतीय उपमहाद्वीप में उद्भूत अनेक दार्शनिक विचारों की परम्पराओं में से प्रत्येक को संदर्भित करता है; दृष्टान्ततः, हिन्दु दर्शन, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, और जनजातिय एवं दलित दर्शन। समान अथवा गुंथा हुआ उद्भीव वाले, ये सभी दर्शन विश्व–दृष्टि का एक सामान्य बुनियादी विषय धारण करते हैं, और सादृश्यतः प्राथमिक रूप से सत्य और मोक्ष प्राप्ति के बारे में अपनी धारणाओं के माध्यम से, तत्त्वमीमांसा की व्याख्या का प्रयास करते हैं। इन दर्शनों की एक विशेषता यह है कि ये समान "प्रणाली" से सम्बन्धित होने के बावजूद एक–दूसरे से असहमत हो सकते हैं, जैसे द्वैत और अद्वैत समान परम्परा से उद्भूत होते हुये भी अपने दृष्टिकोण में भिन्न हैं या फिर जैसे अवैदिक जैन और वैदिक सांख्य, बहुलवाद के बारे में समान विचार रखते हैं, जबकि दोनों पूर्णतः स्वतन्त्र दर्शन प्रणालियां हैं।

स्नातक सामान्य दर्शन पाठ्यक्रम दर्शन की मूलभूत मान्यताओं/सिद्धान्तों के समग्र बोध के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए संरचित किया गया है। प्रथम पाठ्यक्रम बीपीवाईसी–131 रू भारतीय दर्शन है जो प्राचीन भारतीय दर्शन, जोकि वेदों के दर्शन से लेकर नास्तिक दर्शन सम्प्रदायों जैसे चार्वाक और बौद्ध दर्शन तक विस्तृत है, की मूलभूत मान्यताओं को समाहित करने का प्रयास करता है। इसमें पांच खण्डों में विभाजित 22 इकाईयां हैं। प्रथम खण्ड "भारतीय दर्शन का परिचय" भारतीय दर्शन का प्रवेश–बिन्दु है क्योंकि यह प्रथमतः आधारभूत अवधारणाओं का परिचय देता और तत्पश्चात् इस बात की विशद जानकारी देता है कि कैसे प्राचीन भारतीय ग्रंथ दर्शन की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।

प्रथम खण्ड चार इकाईयों में विभाजित है। यह खण्ड पाश्चात्य एवं भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के मध्य भेदों को तथा पाश्चात्य एवं भारतीय विचारकों के द्वारा दर्शन के लक्ष्य को भिन्न तरह से देखने के विचार को जानने में सहायता करता है। यह खण्ड भारतीय तत्त्वमीमांसा के मूल प्रश्नों, जैसेकि सत् (वास्तविक) एवं जीवन के लक्ष्य (मोक्ष को सम्मिलित करते हुए) के दृष्टिकोण, को देखने का प्रयास करता है, इसके साथ यह खण्ड भारतीय दर्शन के प्रसंग में इन प्रश्नों के उत्तरों के ढंग अथवा ज्ञानमीमांसा के विस्तार को देखने का प्रयास करता है। इस खण्ड की एक इकाई भारतीय ग्रन्थों पर है। इस इकाई में, आप भारतीय संस्कृति के स्रोतों को जानेंगे। यद्यपि, इस इकाई की अध्ययन सामग्री में *वेद* (जिन्हें श्रुति भी कहते हैं) और बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों को सम्मिलित नहीं किया गया है। परन्तु, अन्य इकाईयां इन स्रोतों के सम्बन्ध में आरक्षित हैं। अतः यह इकाई, केवल अग्रलिखित को सम्मिलित करती है स्मृति, पुराण, वेदांग और महाकाव्य। दर्शन में भारतीय ग्रन्थों की प्रासंगिकता "महाकाव्यों का दर्शन" नामक इकाई की ओर ले जाती है। प्राचीन भारतीय परम्परा में, अन्य अनेक ग्रन्थों के साथ–साथ तीन मुख्य ग्रन्थ थे जिन पर हिन्दू धर्म और दर्शन विश्वास रखता था; *रामायण, महाभारत,* और *भगवद् गीता*। दर्शन और साहित्य के मध्य गहरा मूल सम्बन्ध

है— और हिन्दू नैतिक दर्शन के अनेक पहलू जैसेकि पुरुषार्थ, मोक्ष का लक्ष्य, कर्म सिद्धान्त आदि— प्राचीन भारतीय साहित्य से प्रभावित थे। यह खण्ड विभिन्न भारतीय दर्शनों में भेदों का परिचय भी देता है तथा विस्तारित रूप से उन्हें आस्तिक और नास्तिक दर्शन प्रणालियां में वर्गीकृत करता है, यह विभाजन इस तथ्य पर आधारित है कि कुछ दर्शन—सम्प्रदाय, जिन्हें दर्शन प्रणालियां कहते हैं, वेद की प्राधिकारिता को स्वीकारते हैं, और जो वेद की प्राधिकारिता/प्रमाणिकता को नहीं स्वीकारते उन्हें नास्तिक सम्प्रदाय कहते हैं। चार्वाक, बौद्ध और जैन नास्तिक दर्शन प्रणालियां हैं, और न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, अद्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत आस्तिक दर्शन प्रणालियां हैं।

खण्ड 2 एवं 3 की विषय—वस्तु उपनिषद् हैं। *उपनिषद्* हिन्दू ग्रन्थ हैं जो वेदान्त (शब्दार्थ मीमांसानुसार, वेद का अन्तिम भाग) की मूल शिक्षा को निर्मित करते हैं। वे संस्कृत साहित्य के किसी विशेष कालावधि से सम्बन्धित नहीं हैं, प्राचीनतम, जैसे *बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थों* की रचना—अवधि के पश्च काल में (प्रथम शताब्दी ईसापूर्व लगभग), जबकि नवीनतम उपनिषद् मध्य और प्रारम्भिक आधुनिक कालावधि में रचे गये/संग्रहित हुए। उपनिषदों ने भारतीय दर्शन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला, और ब्रिटिश कवि मार्टिन सेमूर स्मिथ के द्वारा 100 अधिकतम प्रभावोत्पादक पुस्तकों में सम्मिलित किये जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि दार्शनिक और भाष्यकार शंकर ने 11 मुख्य उपनिषदों, जिन्हें सामान्य तौर पर प्राचीनतम माना जाता है और उत्तर वैदिक काल एवं मौर्य काल से सम्बन्धित किया जाता है, पर भाष्य लिखा है। वेदान्त दर्शन उपनिषदों के विभिन्न निर्वचनों को रखती है, जैसाकि विभिन्न दार्शनिकों द्वारा किये गये अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत परम्परा के निर्वचन। **खण्ड 2 औपनिषदिक दर्शनः मूल विषय I** वेदान्त दर्शन का परिचय करवाता है, और उपनिषदों में वर्णित मोक्ष के तीन उपागमों/उपायों, कर्म—सिद्धान्त, लक्ष्य आधारित मीमांसा जिसने शनैः—शनैः समस्त भारतीय दर्शनों के नीति सिद्धान्तों को आकार प्रदान किया, आदि को देखने का प्रयास करता है। यह खण्ड *प्रश्न, मुण्डक* और *माण्डूक्य उपनिषद्* के दर्शन की व्याख्या करता है। यह खण्ड आपको उपनिषदों में पाये जाने वाले विभिन्न दार्शनिक एवं वैज्ञानिक मुद्दों के आधारों को देखने में सक्षम बनायेगा। अन्त में, आप यह समझने की स्थिति में होंगे कि भारत में दर्शन केवल बौद्धिक परिश्रम नहीं है, अपितु यह मानवीय जीवन का पथप्रदर्शक भी है।

तृतीय खण्ड **औपनिषदिक दर्शनः मूल विषय II** है। यह खण्ड कुछ प्राचीनतम उपनिषदों जैसे ईश, छान्दोग्य और बृहदारण्यक को सम्मिलित करता है। इस खण्ड में आप ईश, कठ, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् के दार्शनिक सिद्धान्तों और युक्तियों का अध्ययन करेंगे। इन उपनिषदों के कुछ विचार्य—बिन्दु निम्नलिखित हैं,

ईश उपनिषद् अद्वैत वेदान्त की अद्वय दृष्टि से मनुष्य और क्रिया का सामंजस्य बिठाता है। *कठ उपनिषद्* मनुष्य के जीवन के अन्त के प्रश्न पर विचार करता है। "जब कोई मर जाता है तो क्या होता है? क्या मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है? वह क्या है जो मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है?" *छान्दोग्य उपनिषद्* आत्मा और ब्रह्म की तादात्म्यता की व्याख्या करता है, यह वेदान्तिक ब्रह्माण्डीय—उत्पत्ति और जीवन का विकास सम्बन्धी विचार की भी व्याख्या करता है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* आत्मा की तरह पहचाने गये ब्रह्म के सर्व—प्रकाशक, परम, स्व—प्रकाश और आनन्दमय सत् को उदाहरणों से स्पष्ट करता है।

खण्ड 4 एवं 5 की विषय—वस्तु भारतीय दर्शन प्रणालियां (सम्प्रदाय) हैं। भारतीय दर्शन की प्रणालियां मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित हैं; नास्तिक और आस्तिक। जो वेदों की प्रामाण्यता को नहीं स्वीकारते वे नास्तिक प्रणालियां और जो वेद की प्रामाण्यता को स्वीकारते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं। चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक दर्शन—सम्प्रदाय हैं।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

चतुर्थ खण्ड नास्तिक दर्शन प्रणालियां, चार इकाईयों को सम्मिलित करता है। यह खण्ड चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शनों की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और नीतिमीमांसा का परिचय प्रदान करवाता है। इस खण्ड में आप प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन, और बौद्ध परम्परा के अन्य विभिन्न दर्शनों का अध्ययन करोगे। आप न केवल बौद्ध परम्परा का विकास, अपितु भारतीय दर्शन की सम्वाद परम्परा की झलक भी देखोगे, कि कैसे एक ही ग्रन्थ या उपदेश के विभिन्न निर्वचन अनेक दार्शनिक विचारों को जन्म देते हैं। यह न केवल बौद्ध दर्शन के बारे में, बल्कि सभी भारतीय दर्शन प्रणालियों के बारे में सत्य है।

अगला खण्ड आस्तिक दर्शन प्रणालियों के बारे में है, जो पांच इकाईयों में विभाजित है। यह विश्वास किया जाता है कि सभी भारतीय दर्शनों की सामान्य विषय–वस्तु सत् के बोध और निर्वचन में एकता और विविधता (अद्वैत और द्वैत) का विचार, तथा मोक्ष प्राप्ति की व्याख्या का प्रयास है। भारतीय दर्शन मुख्यतः 1500 ईसापूर्व से कुछेक शताब्दी ईस्वी में स्वरूप पाते हुए, यहाँ तक कि अस्तित्व–विषयक महत्वपूर्ण सामाजिक–राजनैतिक–आर्थिक मुद्दों की आलोचनात्मक गवेषणा और दार्शनिक निर्वचन के रचनात्मक तरीकों के द्वारा 21वीं सदी में अमर्त्य सेन और अन्य के द्वारा संरचित हो रहा है। इस खण्ड की इकाईयां न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, और मीमांसा दर्शन की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र, ईश्वर की अवधारणा, मोक्ष की अवधारणा का वर्णन करती हैं। यह खण्ड प्रत्येक दर्शन के अन्य विभिन्न मतों का वर्णन भी करता है। न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, मीमांसा–वेदान्त को भारतीय दर्शन की सम्बद्ध प्रणालियां स्वीकारा जाता है।

यह खण्ड वेदान्त दर्शनों और भक्ति सम्प्रदाय का भी वर्णन करता है। वेदान्त पद का अभिधार्थ (सीधा अर्थ) "वेदों का अन्त, वेदों का निष्कर्ष भाग, वैदिक शिक्षा और प्रज्ञा की परिणति"। इस प्रकार मूलतः यह पद उपनिषदों, जोकि वेदों का अन्तिम साहित्यिक उत्पाद है, को संदर्भित करता है। उपनिषदों के मत/विचार वेद का अन्तिम उद्देश्य, अथवा वेदों का सार है। वेदान्त ने उपनिषदों की विभिन्न व्याख्याओं और निर्वचनों को सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार उपनिषद संक्षिप्त एवं सूत्ररूप में प्रेरक अर्थों से परिपूर्ण कथनों से की विपुलता वाले ग्रंथ हैं। दैदीप्यमान महत्व एवं गतिशील अन्तर्प्रज्ञा इन लघु एवं सशक्त कथनों में निबद्ध हैं। संक्षेप में कहा जाये तो इसी कारण से उपनिषदों ने विभिन्न निर्वचनों/व्याख्याओं को जन्म दिया। कालक्रम में, वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय उद्भूत हुए, उनमें प्रमुख हैं, शंकर का अद्वैत, रामानुज का विशिष्टाद्वैत और मध्व का द्वैत। इनमें से प्रत्येक का अध्ययन इकाई चार में करेंगे। अन्तिम इकाई शैववाद और वैष्णववाद है, जो विशाल अनुयायियों के साथ हिन्दू श्रद्धा के लोकप्रिय मत हैं। यद्यपि, लोक–प्रचलित हिन्दु विश्वास में शिव त्रिदेवों में से एक हैं और प्रलय (सृष्टि का विनाश/संहार/लय) का दायित्व रखते हैं, जबकि ब्रह्मा और विष्णु क्रमशः सृष्टि–निर्माण और सृष्टि–पालन के देव कहे जाते हैं। शैववाद और वैष्णववाद दोनों भांति–भांति के धार्मिक विश्वास और प्रथायें रखते हैं। इनके अनेक उप–सम्प्रदाय सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं। उन्हें भारत के अत्यधिक प्राचीन विश्वास के रूप में स्वीकारा जाता है। वेदों में भी इन देवों का अल्प मात्रा में ही सही, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष संदर्भ उपस्थित है। यद्यपि शिव एवं विष्णु के बारे में वैदिक समझ इतनी विकसित नहीं थी कि उन्हें परम सत्ता के रूप में स्वीकारा जाये। मध्यकाल के भक्ति आन्दोलनों के परिणामस्वरूप ये धार्मिक परम्पराएं धार्मिक परिक्षेत्र तथा दार्शनिक क्षेत्र दोनो में विकास की साक्षी रहीं।

डायक्रिटिकल संकेत Diacritical Marks

डायक्रिटिकल संकेत रोमन से भिन्न शैली में लिखी जाने वाली भाषा के शब्दों को रोमन शैली में लिखने के लिए उपयोग किए जाते हैं। अधिकतर मानक पुस्तकों में इनका प्रयोग मिलता है। यह सूची इसलिए दी गई है ताकि यदि आप संदर्भ/सहायक अंग्रेजी–पुस्तकों को पढ़ें तो इन संकेतों के आने पर आपको कठिनाई न हो।

स्वर (Vowels)

Devanāgarī	Transcription		Category
अ	A	A	monophthongs and syllabic liquids
आ	ā/â	Ā/Â	
इ	I	I	
ई	ī/î	Ī/Î	
उ	U	U	
ऊ	ū/û	Ū/Û	
ऋ	ṛ	Ṛ	
ॠ	ṝ	Ṝ	
ऌ	ḷ	Ḷ	
ॡ	ḹ	Ḹ	
ए	E	E	diphthongs
ऐ	Ai	Ai	
ओ	O	O	
औ	Au	Au	
ं	ṁ/ṅ	Ṁ/Ṅ	anusvara
ः	ḥ	Ḥ	visarga
ँ	˜		chandrabindu
ऽ	ʽ		avagraha

व्यंजन Consonants					
velars	**palatals**	**retroflexes**	**dentals**	**labials**	**Category**
क k K	च c C	ट ṭ Ṭ	त t T	प p P	tenuis stops
ख kh Kh	छ ch Ch	ठ ṭh Ṭh	थ th Th	फ ph Ph	aspirated stops
ग g G	ज j J	ड ḍ Ḍ	द d D	ब b B	voiced stops
घ gh Gh	झ jh Jh	ढ ḍh Ḍh	ध dh Dh	भ bh Bh	breathy-voiced stops
ङ ṅ Ṅ	ञ ñ Ñ	ण ṇ Ṇ	न n N	म m M	nasal stops
ह h H	य y Y	र r R	ल l L	व v V	approximants
	श ś Ś	ष ṣ Ṣ	स s S		sibilants
	क्ष् Kṣ	त्र् Tr	ज्ञ् Jñ		

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

विषय सूची

खण्ड 1 भारतीय दर्शन का परिचय	**11**
इकाई 1 भारतीय दर्शन की रूपरेखा	13
इकाई 2 भारतीय ग्रंथ	30
इकाई 3 महाकाव्यों का दर्शन	47
इकाई 4 नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन	60
खण्ड 2 औपनिषदिक दर्शनः मूल विषय–I	**73**
इकाई 5 उपनिषदों के दर्शन का परिचय	75
इकाई 6 मोक्ष के विभिन्न उपागम	91
इकाई 7 प्रश्न उपनिषद्	103
इकाई 8 मुण्डक उपनिषद्	112
इकाई 9 माण्डूक्य उपनिषद्	126
खण्ड 3 औपनिषदिक दर्शनः मूल विषय–II	**139**
इकाई 10 ईश उपनिषद्	141
इकाई 11 कठोपनिषद्	152
इकाई 12 छान्दोग्य उपनिषद्	163
इकाई 13 बृहदारण्यक उपनिषद्	177
खण्ड 4 नास्तिक दर्शन	**187**
इकाई 14 चार्वाक	189
इकाई 15 जैन दर्शन	201
इकाई 16 बौद्ध दर्शन–I	215
इकाई 17 बौद्ध दर्शन–II	228
खण्ड 5 आस्तिक दर्शन	**241**
इकाई 18 न्याय–वैशेषिक	243
इकाई 19 सांख्य–योग	261
इकाई 20 मीमांसा	279
इकाई 21 वेदान्तः शंकर, मध्व, रामानुज	292
इकाई 22 शैव दर्शन और वैष्णव दर्शन	313

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड 1

भारतीय दर्शन का परिचय

खण्ड परिचय

खण्ड 1 भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के परिचय के माध्यम से भारतीय दर्शन की सामान्य विशेषताओं को रेखांकित करने का प्रयास करता है। इस हेतु, इस इकाई में *वेद, उपनिषद्, पुराण* और *महाकाव्य* की दार्शनिक भूमिका को दिखाने का प्रयास किया गया है, ताकि शिक्षार्थी भारतीय दर्शन की न केवल ऐतिहासिक अपितु दार्शनिक उत्पत्ति भी समझ सके।

प्रथम इकाई 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' भारतीय दर्शन की केन्द्रीय विशेषताओं की सहायता से, यह समझने का प्रयास करती है कि क्या भारतीय एवं पाश्चात्य परम्पराओं में कोई मूलभूत अन्तर है, यदि हाँ, तब ये अन्तर क्या हैं, इसके साथ ही यह इकाई इन प्रश्नों को सम्बोधित करती है कि दर्शन क्या है, परम सत्ता/सत् क्या है? आदि। यह कुछ आध ाारभूत भारतीय सिद्धान्त जैसेकि पुरुषार्थ, वर्णाश्रम इत्यादि की भी चर्चा करती है।

द्वितीय इकाई 'भारतीय ग्रंथ' वेदांग, स्मृति, पुराण आदि की दार्शनिक विचारों को सम्बोधित करती है। इस इकाई में यह देखने का एक प्रयास किया गया है कि कैसे इन ग्रन्थों ने भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में भूमिका निभाई। इनके साथ–साथ, *महाभारत* के पात्र विदुर और भीष्म के नैतिक एवं राजनैतिक दर्शन की भी चर्चा की गई है। लेकिन *महाभारत* एवं अन्य महाकाव्यों की विस्तृत चर्चा इस इकाई में सम्मिलित नहीं की गई है क्योंकि अगली इकाई महाकाव्यों के दर्शन पर केन्द्रित है।

तृतीय इकाई 'महाकाव्यों का दर्शन' से सम्बन्धित है। इस इकाई में रामायण, *महाभारत* और *गीता* के दार्शनिक विचारों को देखने का प्रयास किया गया है। इस इकाई में इन महाकाव्यों द्वारा प्रतिपादित तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं नीति–दर्शनों की चर्चा की गई है।

चतुर्थ इकाई 'नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन' में भारतीय दर्शन प्रणालियों में प्रचलित आस्तिक और नास्तिक के विभाजन को सम्बोधित किया गया है। न केवल विभाजन, बल्कि यह इकाई भारतीय दर्शन प्रणालियों के इस विभाजन के आधार की भी व्याख्या करती है।

इकाई 1 भारतीय दर्शन की रूपरेखा[1]

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 परिचय
1.2 सत् पर दार्शनिकों की दृष्टि
1.3 भारतीय संदर्भ में ज्ञान
1.4 दर्शन और जीवन
1.5 सारांश
1.6 कुंजी शब्द
1.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ
1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के प्रमुख उद्देश्य:

- भारतीय दर्शन के बारे में मुख्य रूप से पश्चिमी विद्वानों की भ्रान्तियों तथा कुछ भारतीय विद्वानों की अन्य भ्रांतियों को दूर करना है। भारतीय दर्शन को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन भ्रांतियों को दूर किया जाए।

- भारतीय संदर्भ में दर्शन और धर्म के बीच अंतर स्पष्ट करना है। यह इकाई प्रदर्शित करती है कि दर्शन को शब्द के कठोर अर्थ में लिया जाए तो दर्शन धर्म जैसा नहीं है। भारतीय सन्दर्भ में कुछ मुख्य दार्शनिक मुद्दे पश्चिम चिन्तन परम्परा की तुलना में बिल्कुल अलग राह पर विकसित हुए हैं।

- भारतीय विचारधारा का सार प्रस्तुत करना है।

1.1 परिचय

भारतीय संदर्भ में दर्शन का अर्थ दर्शन अथवा तत्व माना जाता है। अब हम यह विचार करेंगे कि किस प्रकार दर्शन का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ दर्शन और तत्व के साथ स्वयं को सहस्थापित करता है। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'– जिसके माध्यम से तत्व को देखा जाता है। 'देखना' शब्द को अक्षरशः या दार्शनिक दोनों तरीकों से समझा जा सकता है। यद्यपि अंतर अप्रासंगिक है किन्तु यहाँ हम केवल बाद के तरीके पर विचार करेंगे। दार्शनिक अर्थ में 'देखने' का अर्थ 'अनुभूति' करना है। अतः दर्शन का अर्थ अनुभूति करना हुआ। पुनः जब कभी हम अनुभव करते हैं तब हम सदैव किसी विषय की अनुभूति करते हैं। जब हम

[1] प्रो. एम आर नन्दन, दर्शन विभाग, शासकीय महिला महाविद्यालय, माण्ड्या, अनुवाद– श्री प्रवेश कुमार, दिल्ली

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

'किसी विषय' का अनुभव नहीं करते हैं तो इसका अर्थ है हमें बिल्कुल भी अनुभूति नहीं हुई है। यदि हम स्मरण करें कि 'जानने' के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अनुभूति करना' 'जानने' के अनुरूप है और इस प्रकार अनुभूति ज्ञान के सादृश्य है। यह सादृश्यता (साम्यता) लगभग एकैक होती है अर्थात् यह सादृश्यता लगभग समाकारी है। यह पक्ष आगे स्वयं नष्ट हो जायेगा। इस दिशा में आगे बढ़ने से पहले हमें तत्त्व क्या है, के बारे में जानना चाहिए।

तत्त्व शब्द दो शब्दों तत् और त्व से उत्पन्न हुआ है। तत् का अर्थ यह अथवा वह है। और त्व का अर्थ 'तुम' है। अतः तत्त्व का अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर 'तुम वही हो' होता है। भारतीय विचारधारा में तत् किसके लिए प्रयुक्त होता है यह जानना बहुत जरूरी है। यहां इसका अर्थ सत् अथवा 'परम' सत् होता है। इसका अध्ययन दर्शन की एक शाखा तत्वमीमांसा के अन्तर्गत किया जाता है। दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त 'वही' से तात्पर्य तत् अर्थात् परम सत् से है। चूँकि दर्शन सत् को जानना है इसलिए इसमें न केवल तत्वमीमांसक घटक सम्मिलित है बल्कि एक महत्वपूर्ण ज्ञानमीमांसात्मक घटक भी सम्मिलित हैं। अतः इन दो घटकों का मेल न्यूनाधिक भारतीय संदर्भ में दर्शन के विवरण को पूरा करता है।

एक अन्य घटक और भी है जिसे समझना अभी शेष है। स्पष्ट रूप से 'त्व' ज्ञाता के लिए प्रयुक्त होता है अर्थात् इसका अर्थ ज्ञानमीमांसात्मक विषय है तथा हम ज्ञानमीमांसात्मक विषय को वास्तविक सत् से जोड़ कर एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्राप्त करते हैं। भारतीय विचारधारा में सत् और व्यक्ति अथवा ज्ञानमीमांसीय विषयी के बीच कोई अन्तर स्पष्ट नहीं किया गया है इसलिए व्युत्पत्तिमूलक रूप से भारतीय विचारधारा में ज्ञान आन्तरिक है। (तथापि यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि ज्ञान (वर्तमान में) अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से कहीं आगे बढ़ गया है)। परन्तु उपर्युक्त उपप्रमेय के दार्शनिक अर्थ का अपना आलोचनात्मक महत्व है। जहां कहीं भी व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित है वहां पर मूल्य भी स्वतः ही सम्मिलित हो जाते हैं और इस प्रकार मूल्य मीमांसा दृष्टिगत हो जाती है। जब मनुष्य सत् से परिचित होता है तब यह (सत्) और इससे जुड़े अनेक मुद्दों को स्वर मिल जाता है। इस प्रकार भारतीय संदर्भ में मूल्य न केवल दर्शन की एक विषय सामग्री है बल्कि दर्शन को स्वयं 'मूल्य' माना जाता है। परिणामस्वरूप भारतीय विचारकों का दर्शन के प्रति मूल दृष्टिकोण कुछ विशेष हो जाता है।

1.2 सत् पर दार्शनिकों की दृष्टि

सत् के तार्किक प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में भारतीय चिन्तन अनिवार्य रूप से बहुलवादी है। सर्वप्रथम हम सत् के विभिन्न प्रकारों से आरंभ कर सकते हैं और ऐसा दो विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता सकता है।

तालिका 1

सत् के सिद्धांत

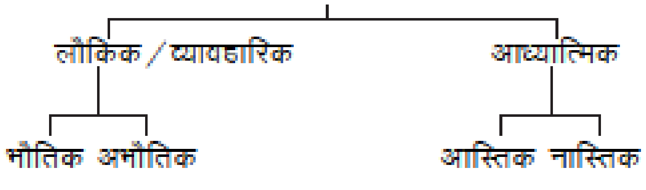

तालिका 2

सत् के सिद्धांत

- एकात्मवादी
- द्वैतवादी
- अद्वैतवादी
- बहुलवादी

आइए देखें तालिका 1 क्या कहती है। किन्तु पहले इस प्रश्न पर विचार करना लाभदायक होगा कि सत् क्या है। वास्तव में यह अपने आप में एक बहुत कठिन प्रश्न है। शुरूआती क्रम में सत् की परिभाषा यह दी जा सकती है कि सत् वह है जो प्रत्येक वस्तु का परम स्रोत है परन्तु उसका अपना कोई स्रोत नहीं है। अर्थात् जो स्वयंभू है, स्वतंत्र है वही सत् है। दार्शनिक जगत में यह परिभाषा गरमागरम बहस का विषय रही है। यदि हम इसे सत् की काम चलाऊ परिभाषा माने तो आश्चर्यजनक रूप से हम पाते हैं कि प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने इसके विभिन्न उत्तर दिये हैं। उनके उत्तरों की यह बहुलता हमें फेयरबेण्ड के 'प्रोलिफेरेसन ऑफ एन ओसीन ऑफ थ्योरीस' वाक्यांश की याद दिलाती है। अतीत में प्रचलित व्यापक विश्वास के विपरित, सभी भारतीय विचारकों ने सत् को अध्यात्मिक नहीं माना है। न ही उन्होंने इसे सर्वसम्मति से लौकिक माना है। वास्तव में, दर्शन जैसा एक जटिल विषय इस प्रकार के साधारण विभाजन की अनुमति नहीं देता है। निश्चित रूप से कुछ विचारकों ने आध्यात्मिक सत् को स्वीकार किया और इसके विपरीत कुछ अन्य विचारकों ने केवल लौकिक सत् को ही स्वीकार किया। तथापि अनेक मामलों में ये दोनों विभाजन आपस में एक दूसरे से समानता और असमानता दोनों प्रदर्शित करते हैं। परिणामस्वरूप हम पाते हैं कि सत् के लौकिक और आध्यात्मिक दो रूप हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत में विचारकों ने न तो इस जगत का और न ही किसी सम्भावित (आध्यात्मिक) जगत (यदि विद्यमान है तो) की उपेक्षा की है। इस महत्वपूर्ण पक्ष को हमें सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

स्तर 2 पर लौकिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों का विभाजन परस्पर विशिष्ट और विस्तृत है अर्थात् एक ओर यह भौतिक और अभौतिक का विभाजन है तथा दूसरी ओर आस्तिक और नास्तिक का विभाजन है। यद्यपि लौकिक क्षेत्र का (आध्यात्मिक क्षेत्र का भी) यह विभाजन पूर्णतः स्पष्ट एवं विशिष्ट होता है परन्तु लौकिक सिद्धांत बिना किसी आत्म–विरोध के आध्यात्मिक सिद्धांत के किसी भी विभाजन के साथ सहमति प्रदर्शित कर सकता है इस आधार पर उपरोक्त चार विकल्पों के निम्नलिखित चार संयोजन बनते हैं;

1. भौतिक आस्तिक
2. भौतिक नास्तिक
3. अभौतिक आस्तिक
4. अभौतिक नास्तिक

आइए इन शब्दों के अर्थ जानें। जो सिद्धांत जगत की स्वतंत्र सत्ता मानता है भौतिक है। इसी प्रकार, वह सिद्धांत जो भौतिक जगत की अपेक्षा किसी अन्य (आध्यात्मिक) पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता मानता है, अभौतिक है। भौतिक जगत को सत् मानने में नास्तिक होने की जरूरत नहीं है। सत् का कोई सिद्धांत बिना किसी आत्म–विरोध के विश्व और ईश्वर को समान स्तर प्रदान कर सकता है। द्वैत और वैशेषिक दर्शन सत् की पहली व्याख्या करते हैं और चार्वाक बाद वाली व्याख्या करता है नीचे दिये गए आरेख से यह स्पष्ट हो जाता है–

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

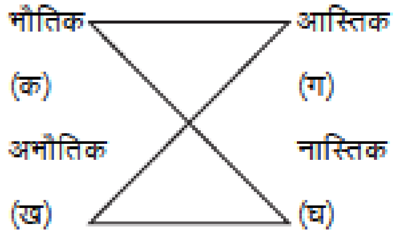

यहां क और ख का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है और इसी प्रकार ग और घ का भी सम्बंध नहीं है। पश्चिमी परंपरा में 'मन' को अभौतिक माना गया है। किन्तु भारतीय संदर्भ में ऐसा नहीं है क्योंकि कम से कम कुछ भारतीय विचारधाराएं मन को छठी ज्ञानेन्द्रि मानती है। सांख्य मन को प्रकृति से उत्पन्न मानता है। इस प्रकार यह उतना ही भौतिक है, जितनी कोई अन्य ज्ञानेन्द्रि। वैशेषिक एक अन्य ऐसी विचारधारा है जिसे इस सम्बन्ध में सांख्य के साथ रखा जाता है। अब हमें दो मुख्य तात्विक शब्दों – यथार्थवाद और आदर्शवाद को जानना चाहिए। यथार्थवाद अपनी सभी भिन्नताओं के साथ बाह्य जगत को नितांत वास्तविक मानता है जबकि आदर्शवाद अपनी सभी भिन्नताओं के साथ बाह्य जगत को मन की उत्पत्ति मानता है। स्पष्टतः यहां मन को छठी ज्ञानेन्द्रि नहीं समझा जाना चाहिए। योगाचार, एक अन्य बाद वाली बौद्ध विचारधारा, इस विषय पर आदर्शवाद का समर्थन करती है।

अब यह स्पष्ट है कि (क) और (ख) परस्पर एक दूसरे से अलग और बिल्कुल विस्तृत है। (घ) के अंतर्गत दो उपभाग है; नास्तिक और अज्ञेयवादी। अब एक ओर (ग) आस्तिक है तो वहीं दूसरी ओर (घ) नास्तिक और अज्ञेयवादी है। ये दोनों परस्पर अलग–अलग हैं और पूर्णतया विस्तृत हैं। चूंकि नास्तिक और अज्ञेयवादी सिद्धांत दार्शनिक रूप से अलग–अलग हैं अतः दूसरे और चौथे प्रकारों का पुनः दो दो बार विभाजन किया जाता है। इसी प्रकार चार की बजाय हमारे पास छह सिद्धांत हो जाते हैं। प्रत्येक सिद्धांत प्रत्येक अन्य दूसरे सिद्धांत से अलग हैं। कभी–कभी यह अन्तर बहुत बड़ा होता है और कभी कभी छोटा होता है। अतः भारतीय दर्शन में कोई साधारण और सरल विभाजन नहीं है बल्कि जटिलता और विविधता को भारतीय विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ माना जाता है। यह पहलू तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है जब तालिका 1 और तालिका 2 एक दूसरे का प्रतिच्छेद करती हैं। इस प्रतिच्छेदन पर विचार करने से पहले हमें तालिका 2 पर प्रकाश डालना चाहिए।

तालिका –2 सत् के सिद्धांतों को स्पष्ट करती है और संख्या के आधार पर इनमें भेद बताती है अर्थात् वास्तविक पदार्थों की संख्या अंतर बताने की कसौटी बन जाती है। एक सत्तावाद अथवा अद्वैतवाद मानता है कि सत् एक है। द्वैतवादी और बहुलवादी सिद्धांत के तात्पर्य स्वतः ही स्पष्ट है क्योंकि इनका अर्थ क्रमशः 'दो' अथवा 'दो' से अधिक है।

अद्वैतवादी सिद्धांत अपने आप में अद्भुत है। यह संख्या के बारे में कोई दावा नहीं करता बल्कि यह द्वैतवाद को अस्वीकार करता है। ध्यान रहे यदि द्वैतवाद स्वीकार्य नहीं हो तो बहुलवाद भी स्वीकार्य नहीं होगा। उपनिषद् अद्वैतवादी हैं और वैशेषिक बहुलवादी है।

अब हम तालिका 1 और 2 को मिलाएंगे इस प्रकार के एकीकरण से सभी चौबीस दार्शनिक पद्धतियां प्राप्त हो जाती हैं। इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि ये चौबीस दार्शनिक पद्धतियां एक ही समय में एक साथ उभर कर सामने आयीं बल्कि उनमें से अधिकतर कभी इस समय तो कभी उस समय पनपती रहीं।

सत् के सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय और पश्चिमी परंपराओं में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। प्रश्न समान हैं क्योंकि समस्याएं भी समान है। समान प्रकार के प्रश्नों के उत्तर भिन्न–2 व्यक्तियों के लिये अलग–अलग समय एवं स्थानों में भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। प्रायः स्थानिक–कालिक कारक समाधानों का आकलन करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। ज्ञान से सम्बन्धित मुद्दों पर विचार करने के पश्चात अंतिम पहलू स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. दर्शन' पद का क्या अर्थ है?

....

....

....

....

....

2. भारतीय दार्शनिक संदर्भ में दर्शन को परिभाषित कीजिए।

....

....

....

....

....

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

1.3 भारतीय संदर्भ में ज्ञान

जानने की इच्छा केवल मानव का कोई असाधारण गुण नहीं है बल्कि यह वृत्ति पशुओं में भी देखी जा सकती है। यद्यपि इस सम्बन्ध में इन दोनों में अन्य स्तरों पर बड़े अन्तर पाये जाते हैं। पहला अन्तर यह है कि ज्ञान प्राप्ति की सीमा एवं ज्ञान प्राप्ति की योग्यता प्रत्येक प्रजाति में अलग–अलग होती है। दूसरे, मानव का ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य एवं उसकी ज्ञज्ञन की अवधारणा संस्कृति दर संस्कृति बदलती रहती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि संस्कृतियों में उच्च या निम्न क्रम होते हैं। इसका केवल इतना अर्थ है कि ज्ञान की अवधारणाएं संस्कृति के सापेक्ष होती हैं। दर्शन का सार दो मुख्य कारको, उद्देश्य और विचार में निहित हैं।

भारतीय एवं पाश्चात्य आवधारणाओं को चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक, एक दूसरे की आपस में तुलना एवं समालोचना के माध्यम से सबसे अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। प्राचीन यूनानियों का ज्ञान के लिए ज्ञान सिद्धांत में विश्वास था जिसने शुद्ध विज्ञान

की उत्पत्ति और विकास को प्रेरणा प्रदान की। इसके विपरीत उत्तर जागरण काल (Post-renaissance age) ने 'ज्ञान ही शक्ति है' की घोषणा की। बेकन (Bacon) द्वारा प्रतिपादित इस उक्ति ने विज्ञान के विकास की मूल दिशा को सदा के लिए बदल दिया। तथापि प्राचीन भारतीयों ने इससे हट कर एक अलग मनोस्थिति प्रदर्शित की। एक ओर जहां व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्होंने औषध और शल्य चिकित्सा का ज्ञान विकसित किया वहीं दूसरी ओर, खगोल विज्ञान और गणित का किसी अन्य विशिष्ट कारण से विकास किया। यह कारण न तो पूरी तरह आध्यात्मिक था और न ही पूरी तरह सांसारिक। उनका उद्देश्य व्यावहारिक लक्ष्यों को पूरा करने के लिए यज्ञ करना और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने के लिए भी यज्ञ करना था। प्राचीन भारतीयों ने यूनानी उक्ति में बिल्कुल विश्वास नहीं किया और शायद न ही उन्होंने इसके बारे में सोचा। यदि हम ज्ञान को मूल्य मानते हैं तो हमें निष्कर्ष निकालना पड़ेगा कि उन्होंने कभी भी इसे स्वयं में मूल्यवान नहीं माना। इस प्रकार उनके लिए ज्ञान मुख्य रूप से एक उपकरण मात्र था। इस विशेषता का अपवाद केवल चार्वाक पद्धति है जिसे ऐपीक्यूरियनवाद का भारतीय प्रतिरूप समझा जाता है।

सीमित अर्थ में, ज्ञान का भारतीय दर्शन बेकन के ज्ञान के दर्शन के अत्यंत निकट है। वास्तव में, भारतीयों ने ज्ञान को शक्ति माना क्योंकि उनके लिए ज्ञान (अर्थात दर्शन) जीवन पद्धति था और यही कारण है कि उनके लिए ज्ञान का कभी भी आन्तरिक मूल्य नहीं रहा। परन्तु यहां 'शक्ति' शब्द के अर्थ को सही परिप्रेक्ष्य में समझना बहुत जरूरी है। जहां बेकन का 'शक्ति' शब्द से अर्थ प्रकृति पर नियंत्रण करने से था परन्तु यहीं भारतीय संदर्भ में शक्ति को प्रकृति के समक्ष अपने आपको समर्पित करने का साधन माना गया। यही प्रमुख सिद्धांत प्राचीन वैदिक विचारधारा की आधारशिला का निर्माण करता है। 'शक्ति' शब्द के अर्थ में यह मूल परिवर्तन उस विश्व दृष्टिकोण में अन्तर को भी स्पष्ट करता है जिसे आसानी से तब देखा जा सकता है जब भारतीयों और यूरोप वासियों (हमारे प्रयोजन के लिए 'पश्चिम' शब्द का अर्थ केवल यूरोप है।) की विश्वास पद्धतियों और मनोवृत्तियों में तुलना एवं अन्तर किया जाता है। बेकन के उत्तरकालीन यूरोप का विश्वास था कि ब्रह्मांड और इसमें मौजूद हर वस्तु मनुष्य का उद्देश्य पूरा करने के लिए है क्योंकि मनुष्य ही ब्रह्मांड का केन्द्र है। (विचार की इस चिंगारी ने वैदिक चिन्तन के विकास के एक निश्चित चरण का स्वरूप निर्धारण किया जिसे बाद में त्याग दिया गया)। दूसरी ओर प्राचीन भारतीय ने अपने आप को प्रकृति के साथ जोड़कर देखा। हमें पुनः बेकन की 'शक्ति' की अवधारणा के साथ–साथ भारतीय परिप्रेक्ष्य में 'शक्ति' की अवधारणा का विश्लेषण करना चाहिए। पहले जो कुछ कहा गया यहां उसे दोहराना केवल परिणामों के आलोचनात्मक महत्व को मजबूत करना भर है। पश्चिम वासियों के लिय ज्ञान न केवल 'शक्ति' था बल्कि यह उनके लिए अपनी आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को पूरा करने का एक शक्तिशाली हथियार था। पश्चिमवासियों ने कभी भी ज्ञान को कुछ भी प्राप्त करने के माध्यम के रूप में नहीं देखा। यहां तक कि आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भी नहीं। जिस प्रकार चार्वाक भारतीय संदर्भ में एक अपवाद है, उसी प्रकार सुकरात और स्पिनोजा को पश्चिमी संदर्भ में अपवाद माना जाता है। भारतीय सांसारिक सुख को चरम नहीं मानते थे। उनके लिए कुछ और तत्व अधिक महत्वपूर्ण और स्थायी था। इसलिए उनके लिए प्रकृति पर विजय प्राप्त करना ज्यादा महत्व नहीं रखता था। संक्षेप में, इस दृष्टिकोण ने पर्याप्त रूप से अनावश्यक विवाद पैदा किए हैं। यह दृष्टिकोण निस्संदेह सही है किन्तु इसे बहुत गलत ढंग से समझा गया है। परिणामस्वरूप गलत ढंग से यह तर्क दिया जाता है कि भारतीय विचारधरा कुल मिलाकर इस संसार और वर्तमान जीवन को पूरी तरह नकारती है तथा इन्हें अप्रासंगिक एवं महत्वहीन मानती है। यह तर्क, पूरी तरह से भारतीय दर्शन

की गलत समझ का परिणाम है एवं मूलतः अनुचित है। यह कहना कि ल की अपेक्षा ग अधिक महत्वपूर्ण है, का अर्थ यह नहीं हो कि ल महत्वहीन है। यदि कोई चीज अधिक महत्वपूर्ण है तो इसका अर्थ है कि अन्य कुछ और चीज 'कम' महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, भारतीय परंपरा निश्चित रूप से 'वर्तमान' जीवन को महत्वपूर्ण मानती है परंतु स्वयं को यहीं तक सीमित नहीं करती बल्कि यह इससे आगे तक जाती है। इस बिंदु को तीसरे अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

स्पष्ट रूप से भारतीय परंपरा पश्चिमी परंपरा के विपरीत मूल्यों के एक निश्चित सोपानक्रम को बनाए रखती है। जीवन पद्धति के रूप में ज्ञान न केवल सभी प्रकार के मूल्यों को समाहित करता है बल्कि यह व्यक्ति के स्वयं के परिप्रेक्ष्य को भी बदलता है तद्नुसार जीवन में तथा कथाकथित आध्यात्मिक ज्ञान केवल ज्ञानी व्यक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यहां इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि अज्ञान अथवा अविद्या विशेषकर आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करने में तथा सामान्य रूप से कोई भी अन्य लक्ष्य प्राप्त करने में बाधा है। इस प्रकार एक सच्चे ज्ञानी के विचार एवं व्यवहार अज्ञानी से अलग होते हैं। तथा भारतीय दर्शन की यह विशेषता अपने आप में विशिष्ट है जिसका पश्चिमी दार्शनिक परम्परा में पूर्ण अभाव है।

यह आवश्यक नहीं है कि किसी दार्शनिक का निजी जीवन उसके दार्शनिक विचारों के साथ कुछ इस अर्थ में मेल खाये कि उसका जीवन उससे कम ज्ञानी व्यक्तियों के लिए एक अनुकरणीय रूप में आदर्श स्थापित करे। इस विषय पर यदि सुकरात और स्पिनोजा एक छोर पर हैं तो बेकन और हाइडेगर विपरीत छोर पर। बात यह है कि भारतीय परंपरा में दर्शन और मूल्य को अलग नहीं किया जा सकता जबकि पश्चिम में ऐसा नहीं है। पश्चिम में दार्शनिक मूल्यों के स्तर पर कोई दार्शनिक कठोर अपराधी से भी बुरा (ऐसा नहीं है कि यहां है) हो सकता है परंतु भारतीय संदर्भ में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

भारतीय दर्शन के संदर्भ में मूल्यों की इस प्रधानता ने एक बड़ी हॉरमेन्यूटिक चूक को जन्म दिया। बिना सोचे समझे आलोचकों ने निरंतर तर्क दिये कि भारतीय दर्शन कभी भी धर्म से पृथक नहीं रहा है। अतः भारत में, आलोचकों के अनुसार, सही अर्थों में न कोई दर्शन था और (जनजातीय धर्म को छोड़कर) न कोई धर्म था। अतः तथाकथित हिंदू धर्म का अनुचित अर्थ नहीं लगाते हुए इसे धर्म से नहीं जोड़ना चाहिए। यह भ्रम इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि अनेक विद्वानों में धर्म को आध्यात्मिकता के साथ जोड़ कर देखा। भारतीय दर्शन के चारों ओर छाए धुंधलके को एक सामान्यानुमान के द्वारा दूर किया जा सकता है। पश्चिमी दर्शन इसाई दर्शन और यहूदी दर्शन में विभाजित नहीं है तथापि सभी पश्चिमी दार्शनिक (यूनानी दार्शनिकों को छोड़कर) ढीले अर्थ में या तो इसाई हैं अथवा यहूदी। ठीक इसी प्रकार से, 'हिन्दू दर्शन' को धर्म के अर्थ में समझना अत्याधिक अनुचित है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिए कि अधिकतर भारतीय दार्शनिक 'प्रतिबद्ध' हिंदू थे। यह सच है कि भारत में दार्शनिक (जैसे कि रामानुज और मध्व) धार्मिक समूहों अथवा संप्रदायों के संस्थापक बन गए थे। परंतु ठीक इसी प्रकार पश्चिम में सेंट आगस्टीन, सेंट एक्वानस आदि भी थे। जबकि कोई भी उनके दर्शन को इसाई दर्शन नहीं कहता। फिर भी निश्चित रूप से भारतीय परम्परा में बौद्ध और जैन दर्शन शुद्ध दर्शन हैं क्योंकि कड़े शब्दों में कहें तो न तो बौद्ध धर्म और न ही जैन धर्म कोई धर्म है। यहां पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि बौद्ध दर्शन है तो हिंदु दर्शन क्यों नहीं है? इस प्रकार के दर्शन की बात करना घोड़े के आगे गाड़ी रखना है। भारत में दर्शन की उत्पत्ति सनातन धर्म, प्रसिद्ध रूप में कहें तो हिंदू धर्म, से नहीं हुई है बल्कि इसका उलट सत्य है।

अतः पश्चिमी परंपरा के बिल्कुल विपरीत भारतीय दर्शन पूरी तरह आध्यात्मिक है। पूर्व में जब यह कहा गया कि भारतीय में दर्शन भी ज्ञान को शक्ति समझा जाता है तो इससे तात्पर्य यह था कि यहां ज्ञान को आध्यात्मिक शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय दार्शनिकों के लिए ज्ञान एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति थी जो अपने स्वरूप में बिल्कुल अधार्मिक होती है।

यह समझना गलत होगा कि आध्यात्मिकता को केवल ज्ञान में ही देखा जा सकता है। सत् और सौन्दर्य मूल्यों का विचार भी आध्यात्म विभूषित है। उपनिषदीय और अद्वैतीय ग्रंथों में ब्रह्म का विचार इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यह आध्यात्मिक इसलिए है क्योंकि यह न तो सांसारिक है और न ही धार्मिक है। यदि ज्ञान आध्यात्मिक है तो इसका विषय (प्रमा) भी अध्यात्मिक होना चाहिए। रसो वै सः (अर्थात वास्तव में रस) सौंदर्यपरक मूल्य के आध्यात्मिक होना चाहिए। रसो वै सः (अर्थात वास्तव में रस) सौंदर्यपरक मूल्य के आध्यात्मिक स्तर का होने का एक उदाहरण है। इस अर्थ में 'यह' (सः) कम से कम एक व्याख्या के अनुसार 'परा ब्रह्म' अथवा परम सत् है और 'रसा' का अर्थ सुंदरता हो सकता है। यह सम्भव है कि दर्शन में निहित तात्विक अथवा आध्यात्मिक तत्वों का धर्मों द्वारा अपने देवताओं (और संभवतः अपने विरोधियों का प्रतिकार करने के लिए) का स्वरूप निर्धारण करने के उद्देश्य से उपयोग कर लिया गया हो।

आइए, भारतीय दर्शन में ज्ञान की अवधारणा पर पुनः बात करें। भारतीय दर्शन दो स्तरों, परा विद्या (उच्चतर ज्ञान) और अपरा विद्या (निम्नतर ज्ञान) के ज्ञान को स्वीकार करता है। चूंकि ज्ञान आध्यात्मिक है, इसलिए केवल परा विद्या ही सच्चा ज्ञान है जबकि अपरा विद्या सख्त शब्दों में कहें तो बिल्कुल भी ज्ञान नहीं है। जहाँ उपनिषद इस विचार का समर्थन करते हैं वहीं बाद की पद्धतियों (पूर्व मीमांसा को छोड़ कर), जिन्हें उपनिषदों पर टीकाएं माना जाता है, ने प्रत्यक्ष को ज्ञान का साधन माना। उपमान एक अन्य दूसरा प्रमाण है। न केवल निम्नतर ज्ञान (अपरा विद्या) बल्कि भ्रांतिपूर्ण ज्ञान (अख्याति) को भी दर्शन की भारतीय पद्धतियों द्वारा ज्ञान का एक प्रकार माना। अतः इस प्रकार अपरा विद्या ने भी अपना स्थान बनाए रखा। अब प्रश्न यह है कि क्या भारतीय दर्शन अध्यात्मिक जीवन को सांसारिक कार्यों से जोड़ता है? यहाँ यदि आध्यात्मिक जीवन सांसारिक कार्यों को अस्वीकार करना है तो उत्तर नहीं में है। सच्चाई यह है कि आध्यात्मिक जीवन से तात्पर्य सांसारिक जीवन का समर्थन नहीं करता। इस स्थिति में इन दोनों का ऐकीकरण आवश्यक है और इसे बहुत अच्छे ढंग से 'पुरुषार्थ' विचार के द्वारा प्राप्त किया गया। 'पुरुषार्थ' से स्पष्ट है कि धर्म अर्थात उचित साध्नों के द्वारा ही मनुष्य को अर्थ (संपत्ति) की प्राप्ति तथा काम (इंद्रिय सम्बन्धी कोई भी इच्छा) की उचित संतुष्टि करनी चाहिए और इन्हीं साधनों से मोक्ष भी प्राप्त होता है। जहां तक सामाजिक दर्शन और नैतिक दर्शन से सम्बन्धित समस्याओं का प्रश्न है तो मितव्ययिता का सिद्धांत बहुत अच्छी तरह से इनका समाधान कर देता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. 'ज्ञान शक्ति है' इस सिद्धान्त को भारतीय दार्शनिक संदर्भ में विश्लेषित कीजिए।

....

....

....

....

....

2. 'हिन्दू दर्शन' पद के अनुप्रयोग की सम्भावना पर टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

1.4 दर्शन और जीवन

पूर्व में यह बताया जा चुका है कि भारतीय परम्परा में दर्शन को स्वयं में मूल्य माना गया है तथा मूल्य एवं मानव जीवन दोनों एक दूसरे से गुंथे हुऐ हैं। जीवन का उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न के आधार पर भारतीय दर्शन की इस समस्या का समाधान खोजना सरल है। पश्चिम परंपरा (यह सच है कि अस्तित्ववाद में यह प्रयास किया गया परंतु यह अपने आप तक ही सीमित रहा और दर्शन की विश्लेषणात्मक परंपरा द्वारा नष्ट कर दिया गया। में इस समस्या का समाधान ढूंढना आसान नहीं है। भारतीय परंपरा के अनुसार, जीवन का उद्देश्य दुख से सुख की ओर प्रस्थान करना है। यह एकमात्र सूत्र सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में फैला हुआ है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में एक ऊर्ध्वाधर विभाजन देखने को मिलता है जिसके फलस्वरूप सनातनी और असनातनी विचारधाराओं का जन्म हुआ। तथापि, भारतीयों के इस मुद्दे पर अर्थात 'जीवन के उद्देश्य' पर सहमत होते हुए भी उन्हें वैदिक और अवैदिक खेमों में विभाजित किया जाता है (यद्यपि यह विभाजन संतोषजनक नहीं है) एक दूसरे में विरोधी होते हुए भी भारतीय दार्शनिकों ने एक साझे लक्ष्य को अपनाया। अब सवाल यह है कि किस अर्थ में यह लक्ष्य एक दार्शनिक मुद्दा है? दूसरे, किन्हीं दो विपरीत विचारधाराओं का कोई साझा लक्ष्य कैसे हो सकता है?

पहले प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मूल्य के रूप में ज्ञान स्वयं अद्भुत है। यदि जीवन–शैली में गुणात्मक अन्तर पैदा करने वाले किसी साधन का आर्थिक मूल्य है तब, दूसरे ढंग से देखे तो, वह प्रत्येक ज्ञान भी, जो जीवन–शैली को परिवर्तित करता है, मूल्यवान होना चाहिए। अतः ज्ञान भारतीय विचारधारा में विशिष्ट रूप में मूल्यवान होता है। इस प्रकार, जीवन का उद्देश्य एक नैतिक मुद्दा बन जाता है। और इस अर्थ में, यह दार्शनिक मुद्दा हो जाता है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर और भी सरल है। दर्शन की सभी विचारधाराएँ एकमत से स्वीकार करती है कि सुख (आनंद) की खोज मानव का एकमात्र लक्ष्य है। परन्तु यह सहमति यहीं तक है। क्योंकि ये दोनों विपरीत खेमे सुख की व्याख्या के मुद्दे पर भिन्न–भिन्न विचार रखते हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जासकती है। सभी राजनीतिक दल अपने–अपने

घोषणापत्रों में घोषणा करते हैं कि उनका एकमात्र उद्देश्य दबे–कुचले लोगों को ऊपर उठाना है। परंतु ऐसा करने का ढंग प्रत्येक दल का अलग–अलग होता है। अब स्थिति स्पष्ट है। सुख क्या है और कैसे प्राप्त होता है इस पर सनातनी और असनातनी विचारधाराओं में मतभेद है। असनातन पद्धति में भी सुख का विचार अलग–अलग है। चार्वाक विचारधारा का मानना है कि सुख आनंद में निहित है जबकि बौद्ध धर्म मानता है कि यदि सुख को दुख की समाप्ति माना जाए तो सुख निर्वाण में निहित है।

पहले बताया जा चुका है कि आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन का सार है। इस पृष्ठभूमि के आधार पर आइए विश्लेषण करें कि आनन्द क्या है। न तो यह भौतिक संसार और न ही भौतिक सुख स्थायी है। और न ही ये अंतिम हैं। सम्भवतः कोई भी व्यक्ति यह नहीं मानता कि संसार नित्य है। तथापि अधिकांश व्यक्ति इस फेर में नहीं पड़ते कि इस सीमित संसार के अंदर नित्य शान्ति व आनन्द संभव है अथवा नहीं। इस प्रकार का गूढ़ चिन्तन ही भारतीय दर्शन को विशेष बनाता है।

अमरत्व प्राप्त करने की इच्छा यूनानी और भारतीय परम्पराओं में समानरूप से पाई जाती है। तथापि, भारतीय परम्परा में यह इच्छा अलग रूप लेती है। इस प्रकार दुःखों से स्थायी मुक्ति ही अमरत्व है। इसे विभिन्न रूप से मोक्ष, निर्वाण आदि नाम दिए जाते हैं। अपने साधारण अर्थ में वैराग्य का अर्थ त्याग करना है परन्तु वास्तविक अर्थ में जिसका त्याग करना है वह आनन्द नहीं है बल्कि सुख है। वैराग्य ज्ञान के साथ मिलकर नित्य आनन्द प्रदान करता है। अतः भारतीय संदर्भ में वैराग्य का लक्ष्य सांसारिक सुखों का परित्याग करना एवं नित्य आनन्द की प्राप्ति करना है।

स्पष्टतः भौतिक संसार का परित्याग अथवा सन्यास मूलतः आपत्तियों को आमन्त्रित करता है। परन्तु कम से कम एक निश्चित अर्थ में इस प्रकार के परित्याग का समर्थन किया जा सकता है। वैराग्य का अर्थ लोभ का उन्मूलन और जीवन में संतोष का समावेशन करना है। यह वैराग्य का छिपा हुआ अर्थ है। किन्तु दोनों आयामों की अक्सर गलत तरह से व्याख्या की जाती रही है और निष्कर्ष निकला जाता रहा है कि वैराग्य न केवल नकारात्मक हैं बल्कि यह निराशावाद को भी जन्म देता है। यह नकारात्मक विचार यहीं तक सीमित नहीं रहा बल्कि पूरे भारतीय दर्शन में विस्तारित हो गया।

यहां पर यह स्पष्ट जरूरी है कि 20वीं शताब्दी में पश्चिमवासियों का मानना था कि भारत में दर्शन जैसा कुछ नहीं है। दर्शन के नाम पर यहां केवल मिथक और किंकर्तव्यमीमांसा का बोलबाला है जहां पश्चिमी विद्वानों का मानना था कि भारत में दर्शन धर्म द्वारा पूर्णतः दूषित है वहीं मार्क्सवाद के प्रभाव के अंतर्गत कुछ भारतीय विद्वान भारतीय समाज को आक्रांत करने वाले रीति–रिवाजों और परंपराओं से दर्शन को पृथक करने में असफल रहे। यद्यपि उनके तर्कों और वितर्कों के गुण–दोष पर बात करना अब प्रासंगिक नहीं है।

परन्तु इस स्थिति में यह जानना महत्वपूर्ण हो जाता है कि किसी प्रकार वैश्विक धर्म को दार्शनिक आधार पर निर्मित किया जाय। यदि विश्व धर्म को जनजातीय धर्म के अर्थ में धर्म माना जाये तो दर्शन के साथ इसका सम्बन्ध बैठा पाना मुश्किल है इस अर्थ में भारत में दर्शन धर्म से कभी प्रभावित नहीं था। बल्कि विभिन्न धार्मिक मत, जो बाद में आए, दर्शन से प्रभावित अवश्य थे।

परंतु उन विद्वानों की आलोचनाएं हमारे लिये महत्वपूर्ण है जो यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन भारत में दार्शनिक विचारधाराऐं विद्यमान थी। एक आलोचना के अनुसार, चूंकि

भारतीय विचारधारा भौतिक जगत के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करती है एवं उसकी वास्तविकता को नकारती है इसलिए यह आत्म–घाती है। इस आलोचना का दो स्तरों से खण्डन किया जा सकता है। सर्वप्रथम, भारतीय दर्शन पूरी तरह से भौतिक संसार को नहीं नकारता। कोई दर्शन पद्धति सैद्धांतिक रूप से इसलिए नकारात्मक नहीं कही जा सकती क्योंकि यह जगत को अस्थायी मानती है और उसके लिए जो अस्थाई है वह परम सत् नहीं हो सकता। यहां तक कि किसी भी वैज्ञानिक ने ब्रह्माण्ड को शाश्वत कहने की हिम्मत नहीं की है। यदि इस आलोचना के तर्क को सही माना जाए तो प्लेटो का दर्शन भी स्वाभाविक रूप से नकारात्मक हो जाता है।

प्लेटो की भांति भारतीय दार्शनिकों ने भी कुछ स्थायी तत्व स्वीकार किए हैं। वास्तव में अस्थायित्व और स्थयित्व सापेक्ष शब्द है। उनमें से किसी एक की प्रासंगिकता के लिए दूसरे की प्रासंगिकता की जरूरत पड़ती है। दूसरी ओर जो कुछ सापेक्ष होता है वह हमेशा कुछ अलग वस्तु से सापेक्ष होता है। पूर्ण सापेक्षता जैसी कोई चीज नहीं होती है। अंतिम दोनों कथन जो वास्तव में सापेक्षता के सिद्धांत के सार को स्पष्ट करते हैं वह यहां पर भी लागू होते हैं।

आइए, खण्डन के दूसरे स्तर पर विचार करें। क्या किसी भी सिद्धांत को नकारात्मक मानना वैध है। तर्क के अन्तर्गत खण्डन करना एक महत्वपूर्ण सोपान है। परंतु यह अंतिम नहीं है। यदि विज्ञान को नकारात्मक आवश्यकता जैसे की असत्यपानीयता को सन्तुष्ट करने के अर्थ में परिभाषित किया जा सकता है तो दर्शन शास्त्र, चाहे भारतीय हो या पाश्चात्य, को भी इसी अर्थ में (कार्ल पॉपर, 1959, पृष्ठ 41) समझना चाहिए। किसी हद तक भारतीय दर्शन इसी 'खण्डन से मण्डन' के सिद्धांत का अनुसरण करता है। स्पष्टतः यह सिद्धान्त कार्ल पॉपर द्वारा दिया गया है।

दूसरी आलोचना के अनुसार, भारतीय दर्शन निराशावादी है। कोई भी सिद्धांत जो इस संसार और जीवन को पूर्ण अर्थ में अस्वीकार करता है निराशावादी होगा ही। इस आलोचना के दो आधार हैं। पहला, गलत ढंग से दुख से पलायन की इच्छा को बाह्य जगत से पलायन की इच्छा के रूप में समझा गया। दूसरा, भारतीय दर्शन भौतिक सुखों का समर्थन नहीं करता। आइए हम दूसरे पर विचार करत हैं। भौतिक सुखों के खण्डन का अर्थ परम आनन्द का खण्डन नहीं है क्योंकि आनन्द और सुख प्रत्यक्षरूप से अलग–अलग है। मोक्ष केवल आनन्द का संस्कृत रूप है। सुख न केवल क्षणिक है बल्कि यह इस अर्थ में शुद्ध नहीं है कि सुख सदैव दुःख को लेकर आता है। यदि हम बैंथम के मानदंडों को माने तो ये मानदंड सुख को नहीं बल्कि आनन्द को सन्तुष्ट करते हैं। वास्तव में सुख की नहीं बल्कि आनन्द की पहचान हैं। शायद केवल निकटता ही सुख को संतुष्ट करती है। यदि ऐसा है तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी यदि कोई दर्शन मोक्ष से आदर्श मानता है तो भी उसे निराशावादी नहीं कहा जा सकता।

आइए, अब हम पहले स्रोत पर चर्चा करें कि भौतिक संसार से पलायन की इच्छा होना पलायनवादी मनोस्थिति को प्रदर्शित करती है। पुनर्जन्म केवल एक ऐसा मिथक हो सकता है जिसका सत्यापन सम्भव न हो। परंतु इस संसार में पुनर्जन्म की घटनाएं पायी जाती हैं। यदि मोक्ष की प्राप्ति किसी व्यक्ति के जीवन काल के दौरान ही सम्भव हो (जिसे जीवन मुक्ति कहा जाता है), तो भौतिक संसार को बुरा मानने और उसे त्याज्य मानने का कोई कारण नहीं है। तथापि इसके बाद भी न केवल भारतीय दर्शन के आलोचकों बल्कि समर्थकों ने भी मोक्ष की अवधारणा को गलत ढंग से समझा और इसी गलत समझ ने बाहरी संसार को मूलरूप से बुरा एवं त्याज्य मानने की गलती को जन्म दिया।

मोक्ष के प्रति एक ओर आपत्ति उठाई जा सकती है कि क्या मोक्ष सार्थक 'आदर्श' है? इस परिप्रेक्ष्य से पहले तो मोक्ष का अस्तित्व सम्भव होना चाहिए और दूसरे, मनुष्य को इसकी प्राप्ति होना भी सम्भव होना चाहिए। परन्तु यदि इन दोनों में से कोई भी एक सम्भावना सत्य न हो तब भी क्या मोक्ष एक 'आदर्श' रह जायेगा। चलो मान लेते हैं कि मानव के लिये मोक्ष प्राप्त करना सम्भव है। इस स्थिति में यह 'आदर्श' बना रहता है। परन्तु यदि इसके विपरित हम यह मान ले कि मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है तो ऐसा मानने में भी कोई हानि नहीं है। यदि हम किसी अप्राप्य 'आदर्श' की खोज करते हैं तो हम उस 'आदर्श' की ओर बढ़ते हुए उत्तरोत्तर अपनी उन्नति करते हैं। महत्वपूर्ण तो उन्नति करना ही है। प्लेटो का यूटोपिया एक ऐसा उदाहरण है जो इस संबंध में मोक्ष के 'आदर्श' के अत्यंत निकट है। प्लेटो का यूटोपिया एक ऐसा उदाहरण है जो इस संबंध में मोक्ष के 'आदर्श' के अत्यंत निकट है। सही दिशा में प्रगति ही सही अर्थों में प्रगति होती है। इसलिए पूरी तरह से ज्ञान होने के बाद भी कि मोक्ष जैसे 'आदर्श' को प्राप्त करना मानव के लिए असंभव है। मानव मोक्ष प्राप्त करना चाहता है और इस प्रकार मानव निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर प्रगति करता है। यह मोक्ष को आदर्श के रूप में स्वीकार करने का एक लाभ है।

पश्चिमी परंपरा में केवल यूनानी ही आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। तथापि पश्चिमी दर्शन में यह विश्वास नहीं था परन्तु इसाई धर्म में इसे अवश्य स्थान मिला। यहां पर विरोधाभास यह है कि आत्मा की अमरता इसाई धर्म और भारतीय दर्शन में सामूहिक विषय है जबकि इसे पश्चिमी दर्शन और इसाई धर्म में सामूहिक रूप से होना चाहिए था क्योंकि पश्चिम इसाई धर्म की मुख्य भूमि है। यह एक महत्वपूर्ण कारक को इंगित करता है कि धर्म से दर्शन निर्धारण नहीं होता बल्कि इसके विपरीत यदि दर्शन में धर्म का निध् ारिण करने की क्षमता नहीं भी होता है तो इसमें कम से कम धर्म को प्रभावित करने की अनिवार्य क्षमता तो अवश्य होती है।

हम देखते हैं कि मोक्ष, निर्वाण, समस्त दुःखों की पूर्ण समाप्ति भारतीय दर्शनों के लक्ष्य हैं। कुछ विद्वान कहते हैं कि भारतीय दर्शन का एक पारमार्थिक उद्देश्य है। लेकिन यह विचार भी विवाद से परे नहीं है। कुछ विद्वान भारतीय दर्शन को जीवन–दर्शन के रूप में स्वीकारते हैं और इसी आधार पर कहते हैं कि यह दर्शन है, कुछ विद्वान इसी बात के आधार पर इसे दर्शन से भिन्न मानते हैं। भारतीय दार्शनिक बिमल कृष्ण मतिलाल ज्ञानमीमांसा को केन्द्रीय विषय सिद्ध करते हुए इसे दर्शन स्वीकारते हैं और पाश्चात्य दर्शन के समतुल्य मानते हैं, जबकि दया कृष्ण घोषणा करते हैं कि यह दर्शन है क्योंकि इसमें "साम्प्रत्ययिक भ्रम और साम्प्रत्ययिक स्पष्टीकरण है (भ्रम और भ्रम का निराकरण सम्प्रत्यय या अवधारणात्मक रूप है)"। उनके सनुसार, दर्शन सम्प्रत्ययों पर युक्तितः विचार करता है, और भारतीय दर्शन भी वैसा ही करने के कारण दर्शन है।

इस प्रकार, कई विचार इस सम्बन्ध में हैं कि क्यों भारतीय दर्शन दर्शन है। संदर्भ ग्रन्थ सूची से इस सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। इस इकाई में संकेत हेतु यह कह देना भर पर्याप्त है, ताकि कोई भी ऐतिहासिक और लक्षणात्मक वर्णन किया जाये, पर यह भ्रम पैदा न हो जाये कि यही एकमात्र विचार है और सर्वस्वीकार्य है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. भारतीय दर्शन में 'जीवन की जिज्ञासा' क्या है?

....

....

....

....

....

2. क्या भारतीय दर्शन निराशावादी और पलायनवादी है? मूल्यांकन कीजिए।

....

....

....

....

....

1.5 सारांश

दर्शन की उत्पत्ति दो यूनानी शब्दों से हुई है जिनका अर्थ ज्ञान अथवा विवेक से प्रेम है। भारतीय परम्परा में फिलॉसोफी का अर्थ दर्शन अथवा तत्व है। इस संदर्भ में भारतीय दृष्टिकोण पश्चिमी दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न है। दार्शनिक समस्याओं के संदर्भ में भारतीय तथा पश्चिमी परंपराओं में कोई अन्तर नहीं है। भारतीयों ने एक भिन्न परिपेक्ष्य में ज्ञान को शक्ति माना। बेकन ने बाहरी जगत पर प्राधिकार स्थापित करने के उद्देश्य से ज्ञान को साधन माना। दूसरी ओर भारतीयों ने स्वयं दर्शन को मूल्य माना। अतः भारत में दर्शन को एक जीवन शैली माना गया है। चार्वाक के अकेले अपवाद को छोड़कर भारत में सभी दर्शन पद्धतियों ने किस न किसी अर्थ में मुक्ति को अवश्य स्वीकार किया। मोक्ष इसी प्रकार का आदर्श है। दर्शन धर्म से अलग है। तथापि धर्म दर्शन से स्वतंत्र हो भी सकता है और नहीं भी।

1.6 कुंजी शब्द

यज्ञ : यज्ञ पवित्र अनुष्ठान है जो ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है।

निराशावाद : निराशावाद लैटिन शब्द पेसीमस का हिन्दी रूपान्तरण है जिसका अर्थ 'सबसे बुरा' होता है। यह मन की वह पीड़ादायक अवस्था है जो जीवन के बोध को विशेषकर भावी घटनाओं को नकारात्मक ढंग से प्रभावित करती है।

1.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

अग्रवाल, एम. एम. नथिंगनेस एंड फ्रीडमः सात्र एंड कृष्णमूर्ति'. *जर्नल ऑफ इण्डियन काउंसिल आफ फिलॉस्फीकल रिसर्च.* वोल्यूम IX, नं. 1 (सितंबर–दिसंबर, 1991).

एलीज, के. पी. *दि रिलेवेंस आफ रिलेशन इन शंकर अद्वैत वेदांत.* देल्हीः कांट पब्लिकेशंस, 1996.

चक्रवर्ती, अरिन्दम. 'रेशनल्टी इन इण्डियन फिलॉसोफी." इन *अ कम्पेनियन टू वर्ल्ड फिलॉसोफीज.* एडिटिड बाई इलियट डस्च एण्ड रॉन बोन्टेक. 259–278. ऑक्सफोर्डः ब्लेकवेल, 1999.

चट्टोपाध्याय, देबीप्रसाद. *इण्डियन फिलॉसोफीः अ पॉपुलर इन्ट्रोक्शन.* न्यू देल्हीः पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, 1964.

चड्ढा, मोनिमा. ''पर्सेप्चुअल कॉगनीशनः ए न्याय–कांटियन अप्रोच'', *फिलॉसोफी ईस्ट एंड वेस्ट.* वोल्यून 51 नं 2 (अप्रैल 2001).

थचिल, जे. *एन इनिशियेशन टू इण्डियन फिलॉसोफी.* अल्वेयः पॉन्टिफिकल इन्स्टिटयूट ऑफ फिलॉसोफी एण्ड थ्योलॉजी, 2000.

दया कृष्ण. *इण्डियन फिलॉसोफीः अ काउन्टर पर्सपेक्टिव.* न्यू देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1991.

दया कृष्ण. *कन्टरेरी थिंकिंगः कलेक्टिड एस्सेज ऑफ दया कृष्ण.* एडिटिड बाई नलिनि भूषण, जे एल गारफील्ड एण्ड अदर्स. न्यू यॉर्कः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2011.

नटराजन, कांचना. 'प्राइमोर्डियल वाटर्सः सम रिमार्क्स ऑन ऋग्वैदिक क्रियेशन हिम्स'. *जेआईसीपीआर,* 17/2(2001): 147–168.

पप्पु, एसेस रामा राव एण्ड आर. पुलिगन्डल (एडि.). *इण्डियन फिलॉसोफीः पास्ट एण्ड फ्यूचर.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1982.

बालासुब्रमणियम, आर. *दि मेटाफिजिक्स ऑफ दि स्प्रिट.* न्यू देल्हीः इण्डियन काउंसिल ऑफ *फिलॉस्फीकल* रिसर्च, 1994.

बागची, कल्याण कुमार, 'आनटोलॉजिकल आरगूमेंट एण्ड ऑन्टोलॉजी आफ फ्रीडम', *जर्नल ऑफ इण्डियन काउंसिल ऑफ फिलॉस्फीकल रिसर्च,* वोल्यूम X, नं. 1 (सितम्बर–दिसम्बर 1992).

बारलिंगे, सुरेन्द एस. *रिअन्डरस्टेन्डिंग इण्डियन फिलॉसफी.* देल्हीः डी. के. प्रिंटवर्ल्ड, 1998.

ब्राउन जेसन डब्ल्यू. ''माइक्रोजिनेसिस एंड बुद्धिज्म दि कंसेप्ट ऑफ मोमेंट्रीनेस''. *फिलॉसोफी ईस्ट एंड वेस्ट,* वोल्यूम 49, नं. 3 (जुलाई, 1999).

भारत ठाकुर, जे.के. 'ए जनी टुवर्ड्स एसेंस आफ मांडुक्य' ; उपनिषद फार ए थ्योरी आफ टाइम', *इंडियन फिलॉस्फीकल क्वाटर्ली.* वोल्यूम XXV, नं. 2 (जनवरी, 1998).

भारत ठाकुर, जे.के. 'ए थ्योरी आफ टाइम' ; इंडियन फिलास्फीकल क्वाटर्ली, वोल्यूम XXII, नं. 4 (अक्टूबर, 1995). *इंडियन फिलॉस्फीकल क्वाटर्ली.* वोल्यूम, XXIV, नं. 2 (अप्रैल, 1997).

मिश्रा, गणेश्वर. "स्कॉप एण्ड लिमिट्स् ऑफ श्रुति एज प्रमाणः पर्स्पेक्टिव फ्रोम पूर्व मीमांसा एण्ड अद्वैत वेदान्त", इन *शब्दप्रमाण इन इण्डियन फिलॉसोफी.* एडिटिड बाई मंजुलिका घोष एण्ड भास्वति भट्टाचार्य चक्रबर्ती, 108–117. देल्हीः नॉर्थन बुक सेन्टर, 2006.

राधाकृष्णन्, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यूम 1, न्यू देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1977.

रामानुजन, ए के. "इज देयर एन इण्डियन वे ऑफ थिंकिंग? एन इन्फॉर्मल एस्से." *कन्ट्रीब्यूशन्स ऑफ इण्डियन सॉशियोलोजी,* 23/1(1989): 41–58.

हिरियण्णा एम. *आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* लंदनः अनविन पब्लिशर्स, 1973.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

उपाध्याय, बलदेव. *भारतीय दर्शन की रूपरेखा.* वाराणसीः चौखम्भा ओरियन्टालिया, 1979.

चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद. *भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत.* अनुवाद– कन्हैया. नई दिल्लीः पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 2007.

धर्मराजाध्वरीन्द्र. *वेदान्तपरिभाषा.* हिन्दी व्याख्याकार– गजानन शास्त्री मुसलगांवकर. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2010.

दयाकृष्ण. *भारतीय चिंतन परंपराएँ: नए आयाम, नई दिशाएँ.* सम्पादक– कृष्णदत्त पालीवाल. दिल्लीः सस्ता साहित्य मण्डल, 2013.

दयाकृष्ण. *भारतीय दर्शनः एक नई दृष्टि.* जयपुरः रावत पब्लिकेशन्स, 2000.

दासगुप्त, सुरेन्द नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

द्रविड, नारायण शास्त्री. *भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्यायें.* सागरः विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2009.

बच्चुलाल. *भारतीय दर्शन बृहत्कोष* (पंचम, षष्ठम, सप्तम भाग). दिल्लीः शारदा पब्लिशिंग हाउस, 2012.

बच्चुलाल. *भारतीय दर्शन बृहत्कोष* (प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ भाग). दिल्लीः षारदा पब्लिशिंग हाउस, 2004.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

शल्य, यशदेव एवं भगवती. *प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन–धाराएं.* जयपुरः दर्शन प्रतिष्ठान, 1997.

शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण.* दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, 2005.

शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ. *भारतीय दर्शन शास्त्र.* बनारसः मोतीलाल बनारसीदास, 1953.

हिरियण्णा, एम. *भारतीय दर्शन की रूपरेखा.* हिन्दी अनुवाद– गोवर्धन भट्ट आदि. दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1969.

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. 'दर्शन' शब्द तत्व अर्थात् परम सत् से उत्पन्न हुआ है। यह परम सत् ही ज्ञाता है। यह न केवल तात्विक घटक की बल्कि ज्ञान–मीमांसात्मक घटक की भी व्याख्या करता है। तथापि दर्शन की व्याख्या करने में दोनों घटकों की सामूहिक रूप से जरूरत होती है। ज्ञानमीमांसात्मक घटक भी अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह परम सत् के ज्ञान के लिये आवश्यक है। आरंभिक अवस्था में सत् और ज्ञाता विषय के बीच कोई अंतर नहीं था। अतः ज्ञानमीमांसात्मक रूप से ज्ञान आंतरिक हो गया। कालान्तर में मानव ने अपने आप को मूल्यों से जोड़ा और स्वयं की सत् के साथ तादात्यमता स्थापित की। अतः भारतीय संदर्भ में, मूल्य को न केवल दर्शन की विषय सामग्री माना जाता है बल्कि दर्शन को स्वयं एक मूल्य समझा जाता है।

2. भारतीय संदर्भ में फिलॉसोफी को दर्शन कहा जाता है अर्थात् देखना अथवा अनुभूति करना। यह अनुभूति ज्ञान की अनुभूति से मेल खाती है। जब हम कहते हैं कि हमें किसी वस्तु की अनुभूति है तो कहने का अर्थ होता है कि हमें कोई न कोई ज्ञान हो रहा है। यह सादृश्य सम्बन्ध एकैक होता है और यह एकैक लगभग समरूपी होता है। तत्व का अर्थ 'तत्' और 'त्व' दो शब्दों से है। इस शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'तुम वही हो'। यह मुख्यरूप से भारतीय दर्शन में परम सत् को प्रदर्शित करता है। दर्शन शब्द का अर्थ परम सत् से है और इस प्रकार यह परम सत् ज्ञाता हो जाता है जिसमें तात्विक और ज्ञान मीमांसात्मक घटक सम्मिलित हैं तथ यह भारतीय संदर्भ में दर्शन के विवरण को संतोष जनक ढंग से स्पष्ट करता है।

बोध प्रश्न 2

1. उत्तर–जागरण काल में बेकल ने 'ज्ञान ही शक्ति है' सूक्ति का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत ने विज्ञान के विकास की मूल दिशा को सदा के लिए बदल दिया। परंतु प्राचीन भारतीयों ने इस सूक्ति को नहीं माना। इसके विपरीत उन्होंने व्यावहारिक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए यज्ञ और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने के लिए यज्ञ किए। परंतु कठोर अर्थ में भारतीयों ने भी ज्ञान को शक्ति माना क्योंकि उनके लिए ज्ञान जीवन पद्धति था अतः उनके लिए ज्ञान कभी स्वयं में मूल्यवान नहीं था। तथापि, शब्द 'शक्ति' के अर्थ का अवलोकन करना भी जरूरी है। बेकन के दर्शन में 'शक्ति' प्रकृति पर नियंत्रण करने के लिए आवश्यक थी परंतु भारतीय सन्दर्भ में शक्ति प्रकृति के समक्ष स्वयं को समर्पित करने का साधन थी। यही वह प्रमुख सिद्धांत है जो प्रारंभिक वैदिक विचारधारा की आधारशिला है। 'शक्ति' शब्द के अर्थ में मूल परिवर्तन उस विश्वदृष्टिकोण को भी स्पष्ट करता है जिसे आसानी से तब पहचाना जा सकता है जब भारतीयों और यूरोपवासियों की विश्वास पद्धतियों और मनोवृत्तियों की आपस में तुलना की जाती है और फिर उनमें अंतर किया जाता है।

2. भारतीय दर्शन के चारों ओर छाए धुंधलके को एक सामान्यानुमान के द्वारा दूर किया जा सकता है। पश्चिमी दर्शन इसाई दर्शन और यहूदी दर्शन में विभाजित नहीं है तथापि सभी पश्चिमी दार्शनिक (यूनानी दार्शनिकों को छोड़कर) ढीले अर्थ में या तो इसाई हैं अथवा यहूदी। ठीक इसी प्रकार से, 'हिन्दू दर्शन' को धर्म के अर्थ में समझना अत्याधिक अनुचित है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिए कि

अधिकतर भारतीय दार्शनिक 'प्रतिबद्ध' हिंदू थे। यह सच है कि भारत में दार्शनिक (जैसे कि रामानुज और माधव) धार्मिक समूहों अथवा संप्रदायों के संस्थापक बन गए थे। परंतु ठीक इसी प्रकार पश्चिम में सेंट आगस्टीन, सेंट एक्वानस आदि भी थे। जबकि कोई भी उनके दर्शन को इसाई दर्शन नहीं कहता। फिर भी निश्चित रूप से भारतीय परम्परा में बौद्ध और जैन दर्शन शुद्ध दर्शन हैं क्योंकि कड़े शब्दों में कहें तो न तो बौद्ध धर्म और न ही जैन धर्म कोई धर्म है। यहां पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि बौद्ध दर्शन है तो हिंदु दर्शन क्यों नहीं है? इस प्रकार के दर्शन की बात करना घोड़े के आगे गाड़ी रखना है। भारत में दर्शन की उत्पत्ति सनातन धर्म, प्रसिद्ध रूप में कहें तो हिंदू धर्म, से नहीं हुई है बल्कि इसका उलट सत्य है।

बोध प्रश्न 3

1. भारतीय दर्शन में जीवन की जिज्ञासा का समाधान खोजना आसान है। किन्तु, पाश्चात्य परम्परा में इसके समान समाधान खोजना आसान नहीं है (यह सत्य है कि अस्तित्ववाद ने इस तरह का प्रयास किया है, परन्तु यह अकेले द्वीप की तरह रहा और विश्लेषणात्मक दर्शन परम्परा ने इसे बाधित करने का प्रयास किया)। भारतीय परम्परा के अनुसार जीवन का लक्ष्य दुःख से आनन्द (या सुख) की ओर रास्ता बनाना है। यह वह एकमात्र ताना है जिससे सम्पूर्ण भारतीय दर्शन गुंथा हुआ है। एक समय, भारतीय दर्शन परम्परा में ऊर्ध्वाधर विभाजन हुआ जिससे आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों अस्तित्व में आये। किन्तु, वे जीवन के लक्ष्य के मुद्दे पर मिल जाते हैं। उनके मध्य विवाद उन्हें एकसमान लक्ष्य दुःख से सुख की ओर बढ़ने से नहीं रोक पाते हैं।

2. इस आलोचना के दो आधार हैं। पहला, गलत ढंग से दुख से पलायन की इच्छा को बाह्य जगत से पलायन की इच्छा के रूप में समझा गया। दूसरा, भारतीय दर्शन भौतिक सुखों का समर्थन नहीं करता। आइए हम दूसरे पर विचार करत हैं। भौतिक सुखों के खण्डन का अर्थ परम आनन्द का खण्डन नहीं है क्योंकि आनन्द और सुख प्रत्यक्षरूप से अलग–अलग है। मोक्ष केवल आनन्द का संस्कृत रूप है। सुख न केवल क्षणिक है बल्कि यह इस अर्थ में शुद्ध नहीं है कि सुख सदैव दुख को लेकर आता है। यदि हम बैंथम के मानदंडों को माने तो ये मानदंड सुख को नहीं बल्कि आनन्द को सन्तुष्ट करते हैं। वास्तव में सुख की नहीं बल्कि आनन्द की पहचान हैं। शायद केवल निकटता ही सुख को संतुष्ट करती है। यदि ऐसा है तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी यदि कोई दर्शन मोक्ष से आदर्श मानता है तो भी उसे निराशावादी नहीं कहा जा सकता।

भौतिक संसार से पलायन की इच्छा होना पलायनवादी मनोस्थिति को प्रदर्शित करती है। पुनर्जन्म केवल एक ऐसा मिथक हो सकता है जिसका सत्यापन सम्भव न हो। परंतु इस संसार में पुनर्जन्म की घटनाएं पायी जाती हैं। यदि मोक्ष की प्राप्ति किसी व्यक्ति के जीवन काल के दौरान ही सम्भव हो (जिसे जीवन मुक्ति कहा जाता है), तो भौतिक संसार को बुरा मानने और उसे त्याज्य मानने का कोई कारण नहीं है। तथापि इसके बाद भी न केवल भारतीय दर्शन के आलोचकों बल्कि समर्थकों ने भी मोक्ष की अवधारणा को गलत ढंग से समझा और इसी गलत समझ ने बाहरी संसार को मूलरूप से बुरा एवं त्याज्य मानने की गलती को जन्म दिया।

इकाई 2 भारतीय ग्रंथ[2]

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 परिचय

2.2 स्मृति की विषय वस्तु

2.3 पुराण

2.4 वेदांग

2.5 महाकाव्य

2.6 सारांश

2.7 कुंजी शब्द

2.8 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में, आप भारतीय संस्कृति के स्रोतों का परिचय प्राप्त करेंगे। तथापि अध्ययन सामग्री में वेदों (जिन्हें श्रुति भी कहा जाता है) जैसे प्रमुख ग्रंथ, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के स्रोत सम्मिलित नहीं हैं क्योंकि इन स्रोतों का उल्लेख अन्य इकाईयों में किया गया है। इस इकाई में निम्नलिखित शामिल हैं:

- स्मृति
- पुराण
- वेदांग और
- महाकाव्य
- चूंकि ये सभी दर्शन से गूढ़ अर्थों में नहीं जुड़े हैं, इसलिए इनका केवल सरसरी अवलोकन करना ही पर्याप्त होगा।

2.1 परिचय

स्मृति शब्द का अर्थ है "जो स्मरण अथवा स्मृति में है"। ये ग्रंथ जिन्हें स्मृति कहा जाता है, प्रारंभिक अवस्था में लिखित रूप में प्रकट हुए। स्मृति के युग ने वेदों के युग का अनुसरण किया। चूंकि वैदिक काल का विस्तार अनेक शताब्दियों तक रहा है इसलिए यह

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

[2] प्रो. एम आर नन्दन, दर्शन विभाग, शासकीय महिला महाविद्यालय, माण्ड्या, अनुवाद– श्री प्रवेश कुमार, दिल्ली

भी संभावना है कि स्मृति वेदों के समापन काल के दौरान प्रकट हुई हों। परिणास्वरूप, सभी स्मृतिकारों ने दावा किया कि उनकी रचनाएं वेदों के अनुरूप हैं इसलिए उनकी रचनाएं वेदों के स्पष्टीकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यद्यपि, हम स्मृतियों में वेदों से पर्याप्त अंतर आसानी से देख सकते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के विचलनों को वेदों से समर्थन प्राप्त नहीं है।

2.2 स्मृति की विषय–वस्तु

स्मृति को धर्मशास्त्र भी कहा जाता है जिसका अर्थ आचार–संहिता होता है। आचार–संहिता के तीन भाग हैं, अनुष्ठान अथवा कर्मकांड, सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह और पापों, जिनमें अपराध भी सम्मिलित है, का प्रयाश्चित। मुख्य बात यह है कि इनमें किसी भी प्रकार के मौलिक अधिकारों अथवा किसी अन्य प्रकार के अधिकारों का उल्लेख नहीं है। इनमें केवल 'विधि और निषेध' पर बल दिया जाता है। आचार–संहिता 'संविधान' के समरूप है। यह कुछ ऐसा है जैसे कि आजकल की सरकारों द्वारा बनाई गई दंड संहिता है। इस प्रकार स्मृति जीवन के दो पक्षों पर बल देती है: 'धार्मिक' और 'सामाजिक'। धार्मिक पक्ष का अस्तित्व सामाजिक पक्ष के बिना नहीं हो सकता। धार्मिक अनुष्ठान की भूमिका व्यक्तिगत जीवन तक सीमित होती है। संक्षेप में कहें तो सिर्फ घरेलू कार्यों तक। इन सभी आयामों से मिलकर 'धर्मशास्त्र' निर्मित होता है। हालांकि दावा किया जाता है कि प्राचीन काल में अनेकों स्मृतियाँ थीं। तथापि इतिहास में केवल कुछ ही स्मृतियों का उल्लेख मिलता है। इनमें से केवल तीन प्रसिद्ध हैं। तीन व्यक्तियों, मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर, द्वारा विधि और निषेध संहिताबद्ध किए गए तथा फलस्वरूप उनके नामों पर स्मृतियों के नाम पड़े। इन स्मृतियों का सरसरी उल्लेख करना भर पर्याप्त है।

स्मृति का एक महत्वपूर्ण पहलू इसकी नैतिक कठोरता है। कर्तव्यों का निर्धारण और कर्तव्य विशेष के फलन पर विशेष बल कुछ सीमा तक इन्हें संविधान में निर्धारित नीति निर्देशक सिद्धांतों के समान बनाता है। इसमें प्रस्तुत समाज का चारवर्गीय विभाजन एक प्रकार है तथा व्यक्ति के जीवनकाल का चार वर्गों में विभाजन दूसरे अन्य प्रकार विभाजन है। स्मृति न केवल चार वर्गों के बारे में बल्कि व्यक्ति की चार अवस्थाओं ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के बारे में भी अत्यंत स्पष्ट है। इस व्यवस्था में एक अवस्था से दूसरी अवस्था में मनमाने ढंग से जाने की कोई गुंजाइश नहीं है। अंतिम विभाजन अर्थात् पापों का प्रयाश्चित वास्तव में इस प्रकार के निषिद्ध वर्ग परिवर्तन से संबंधित है। इस प्रकार की निषेधता के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत स्वतंत्रता के ऊपर समाज में स्थायित्व को प्राथमिकता दी गई है। यह हमें स्मृति द्वारा समर्पित राजनीति की व्यवस्था के बारे में जानकारी प्रदान करता है। निश्चित रूप से स्मृति ने लोकतांत्रिक प्रणाली का समर्थन नहीं किया, यद्यपि वैदिक युग में लोकतांत्रिक प्रणाली खूब फली–फूली थी।

2.3 पुराण

यह दावा किया जाता है कि भारत में पुराण और इतिहास अपृथक हैं। संस्कृत में माइथॉलॉजी के लिए 'पुराण' शब्द का प्रयोग होता है। इस शब्द के सूक्ष्म अन्तर के साथ दो अलग व्युत्पत्तिपूलक अर्थ होते हैं। एक है; पुरा (भूत), अतीतम् (बीता हुआ), अनागतम्

(घटित होने वाला) जबकि पुरा (भूत), भवम् (घटित हो चुका) दूसरा अर्थ है। संरचना अर्थात् विन्यास के अनुसार पुराण के पांच घटक हैं। इनका उल्लेख नीचे किया गया है:

1) राष्ट्र अथवा राष्ट्रों का विवरण और उनका इतिहास
2) सृजन का इतिहास
3) पुनर्सृजन का इतिहास
4) राजवंशो का विवरण
5) प्रत्येक मनु (मनवन्तर) की कथा

पहले और चौथे घटकों में इतिहास के तत्व सम्मिलित हैं। तथापि, पुराण एवं इतिहास में चूंकि इतिहास एक निश्चित पद्धति का अनुसरण करता है एवं उसी के अनुसार जितना सम्भव हो सकता है उतने ही प्रमाण (तथ्य नहीं) एकत्र करने का प्रयास करता है इसलिए इतिहासकार के दावों पर कभी भी विवाद खड़ा किया जा सकता है। पुराण पूरी तरह से अलग हैं। प्रमाणों (साक्ष्यों) की प्रासंगिकता पुराणों के लिए बिल्कुल प्रतिकूल है। अतः पुराणों के दावों का न तो खण्डन करना सम्भव है और न ही समर्थन।

पुराणों की संख्या अठारह है। चूंकि ये दार्शनिक रूप से अप्रासंगिक हैं, इसलिए इनका उल्लेख करना भी आवश्यक नहीं है। पहले बताए गए पांच घटकों के अतिरिक्त, अनेक पुराण ब्रह्माण्ड विज्ञान से सम्बन्धित है। संभवतया यह एकमात्र विषय है जो दर्शन और पुराणों में समान रूप से पाया जाता है। रोचक बात यह है कि वायु पुराण में भूगोल, संगीत आदि का भी वर्णन करने का प्रयास किया गया है। प्रमाणों की उपेक्षा के अतिरिक्त, पुराणों में एक और त्रुटि है, सभी पुराण, देवताओं और राक्षसों, मृत्यु के पश्चात जीवन आदि से सम्बन्धित किंवदन्तियों को प्रस्तुत करते हैं जो उन्हें गंभीर दार्शनिक अध्ययन के क्षेत्र से बाहर कर देती है।

पुराणों के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि पुराण प्रमुख रूप से धर्म शास्त्रीय मुद्दों से जुड़े हुए हैं फिर भी उनमें जीवन की लगभग सभी गतिविधियां सम्मिलित हैं। अतः पुराणों का अध्ययन सामग्री में महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। परंतु, यह सम्पूर्ण समावेशन अपने आप में एक गंभीर त्रुटि है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. स्मृति की कठोरता की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

....

2. पुराणों के अर्थ को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

2.4 वेदांग

वेदांगों को षडांग भी कहा जाता है जिसका अर्थ छह अंग होता है। इन छह अंगों का कार्य वेदों के विचारों की जटिलता को स्पष्ट करना है। ये छह अंग शिक्षा (स्वर विज्ञान–Phonetics), व्याकरण (अर्थात् वैदिक व्याकरण), छंद, निरुक्त (व्युत्पत्ति विज्ञान एवं शब्दकोश) ज्योतिष और कल्प (कर्मकांड) हैं।

ऐसा विश्वास है कि वैदिक ग्रंथों को भली–भांति समझने के लिये इन सभी अंगों का सही एवं स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है। वेदों की दो असाधारण विशेषताएं इन अंगों की पृष्ठभूमि की रचना करती है। पहला, वेदों के अपौरुषेय (मानव से स्वतंत्र) होने के कारण इनमें किसी भी रूप में किसी भी कारण से किसी भी प्रकार के परिवर्तन की अनुमति नहीं थी। दूसरे, यह भी मान्यता थी कि वेदों को केवल मौखिक रूप से पढ़ाया और याद किया जाए। जिसके फलस्वरूप भारतीयों को वेदों को लिखने में अनेक शताब्दियां लग गई। यहां इस विशेष दिशा–निर्देश के गुण–दोषों की विवेचना किए बिना हम केवल वैदिक परंपरा का संरक्षण करने में वेदांगों द्वारा निभाई गई भूमिका की जांच पड़ताल करेंगे।

शिक्षा

ऋग्वेद भाष्य में सायण ने शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया है, "यह जो स्वर और वर्ण के अनुसार उच्चारण का शिक्षण प्रदान करती है, शिक्षा कहलाती है"। वाणी में स्पष्टता और ठीक–ठीक सुनने की योग्यता वेदों को सीखने की पहली शर्त होती है। यही कारण है कि वेदों को अनुश्रव (जिसके लिए श्रवण–अर्थात सुनने की आवश्यकता होती है) कहते हैं। स्पष्ट उच्चारण की अनिवार्यता पर बल इसलिए दिया जाता है क्योंकि वैदिक भाषा, जो बहुत भिन्न व्याकरण द्वारा निर्मित संस्कृत भाषा का सर्वाधिक प्राचीन रूप है, की अद्‌भुत संरचना के कारण इसके उच्चारण में परिवर्तन भी इसके अर्थ को पूर्णरूप से बदल सकता है।

व्याकरण, छंद और निरुक्त

ये तीन अंग अपने द्वारा वैदिक भाषा के सम्बन्ध में निभाई गई उस भूमिका के चलते, जो कि किसी अन्य भाषा के लिए उसके व्याकरण या शब्द कोश के द्वारा निभाई गई भूमिका के ठीक समान है, विशेष नहीं हैं। चूंकि कोई भी भाषा व्याकरण के बिना संभव नहीं है, इसलिए वैदिक व्याकरण उतनी ही पुरानी होनी चाहिए जितने पुराने वेद हैं। यदि वेद अपौरुषेय हैं तब वैदिक व्याकरण भी अपौरुषेय होनी चाहिए। तथापि, ऐसा नहीं है। व्याकरण की वर्तमान

रचनाओं में, पाणिनी की रचना अष्टाध्यायी सबसे प्राचीन रचना है। ऐसा कहा जाता है कि यह चौथी शताब्दी की रचना है। तथापि, प्राचीन वैदिक शब्दकोश अन्य व्याकरणों का भी उल्लेख करते हैं। अब चूंकि शब्दकोश पाणिनी की रचना की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, इसलिए यह स्पष्ट है कि अन्य व्याकरण रचनाएं पाणिनी के व्याकरण से अधिक प्राचीन हैं। इन पहलुओं के उल्लेख से पता चलता है कि व्याकरण पौरुषेय है। अतः भाषा भी पौरुषेय होनी चाहिए। तथापि, शकटयान के अनुसार व्याकरण भी अपौरुषेय है। शकटयान के अनुसार व्याकरण पर सबसे प्राचीन रचना इंद्र व्याकरण है। इसका यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि एक अनुश्रुति के अनुसार मनुष्य ने इसे इन्द्र से प्राप्त किया था।

छंद का स्रोत किसी पिंगलाचार्य द्वारा रचित 'छंदसूत्र' है। वास्तव में इस लेखक के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस रचना में वैदिक और अवैदिक दोनों छंद सम्मिलित हैं। सामान्यतौर पर संहिताएं निश्चित छंद से बंधी हुई हैं। केवल *कृष्ण–यजुर्वेद* और *अथर्ववेद* संहिताएं कहीं–कहीं पद्यात्मक हैं। इस प्रकार, छंद वेदों के अध्ययन में प्रमुख भूमिका निभाता है। पाणिनी का कहना है कि, 'छंदः पदौ तु वेदस्य' जिसका अर्थ है; छंद ही वेदों का मूल आधार है। समय के साथ–साथ वैदिक भाषा स्वयं छंद हो गई। वैदिक छंद में एक अद्भुत विशेषता है जिसका उल्लेख कात्यायन ने किया है। उनका कहना है, 'यत् अक्षरः परिमाणम् तत् छंदः'। इसका अर्थ है कि जो अक्षरों (वर्णों) की संख्या (अथवा परिमाण) निर्धारित करता है वही छंद है। यह ध्यान रखना चाहिए कि लौकिक संस्कृत के सन्दर्भ में यह सत्य नहीं है। ऐसा माना जाता है कि लौकिक संस्कृत की उत्पत्ति वैदिक छंद से हुई।

वैदिक छंद की रचना पद अथवा चतुष्क से हुई है। साधारण तौर पर माना जाता है कि एक चतुष्क में चार वर्ण होते हैं। शायद, बाद में यह एक विशेषता बन गई क्योंकि ग्यारह प्रधान छंद होते हैं जो न केवल चतुष्कों की संख्या में अलग–अलग हैं। बल्कि प्रत्येक चतुष्क में वर्णों की संख्या में भी अलग–अलग हैं। जहां त्रिष्टुप छंदों में चार चतुष्क होते हैं और प्रत्येक चतुष्क में ग्यारह वर्ण (अक्षर) होते हैं। एक छंद दूसरे छंद से चतुष्कों के विन्यास के आधार पर भिन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए, काकुप छंदों में पहले और तीसरे चतुष्कों में आठ अक्षर तथा दूसरे में बारह अक्षर होते हैं। इस अंतर से पता चलता है कि इसमें बहुत कम स्वतंत्रता है जो अन्यत्र इसकी अनुपस्थिति (न दिखाई देने) से स्पष्ट है।

निरुक्त वैदिक शब्दों का अर्थ प्रदान करते हैं। प्रथम सोपान में शब्दों को एकत्र किया गया जिनसे शब्दकोश का निर्माण हुआ। केवल पर्याय और शाब्दिक अर्थ शब्दों के संकलन करने के मूल उद्देश्य को निष्फल करते हैं। निरुक्त केवल इस प्रकार का अर्थ प्रदान नहीं करता है। यह व्याख्याएं उपलब्ध कराता है। अतः यह किसी साधारण शब्दकोश से कहीं ज्यादा है।

आइए, शब्दकोश की संरचना से आरम्भ करें, यास्क नामक कोशकार ने इन शब्दों का संग्रह किया और सर्वाधिक प्रमाणिक व्याख्या प्रस्तुत की। शब्दकोश में कुल 1770 शब्द हैं जो तीन काण्डों में विभाजित हैं। प्रथम कांड में तीन अध्याय हैं जिन्हें निघण्टु कहा गया है। दूसरे और तीसरे काण्ड में एक–एक अध्याय है जिन्हें 'नैगम और देवत्व' कहा गया है। निरुक्त मुख्यरूप से इन शब्दों की व्याख्या है और कुछ सीमा तक उन्होंने (यास्क ने) कुछ मंत्र उद्ध त किये हैं और उनकी व्याख्या की है। स्वयं निरुक्त में चौदह अध्याय हैं जिनमें से प्रथम छह अध्याय निघण्टुक काण्ड और नैगम काण्ड से संबंधित है और अगले छह अध्याय दैवत् काण्ड से संबंधित हैं। अंतिम दो अध्याय कुछ–कुछ परिशिष्टों की तरह है।

ज्योतिष

प्राचीन भारत में ज्योतिष की उत्पत्ति आवश्यकता के आधार पर हुई। यज्ञ किसी भी व्यक्ति के विवेकानुसार नहीं किए जा सकते थे। कठोर शब्दों में कहे तो यज्ञ ऋतु अनुसार किये जाते थे। प्रत्येक वर्ण (शूद्र को छोड़कर) के लिए यज्ञ करने की ऋतु निर्धारित थी। तैतरीय ब्राह्मण में मिलता है 'वसंते ब्राह्मणः (बसंत ऋतु में ब्राह्मण) अग्निमादधीत (पवित्र अग्नि जलाओ), ग्रीष्मे राजन्यः (ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रिय) अग्निमादधीत, शरदे वैश्यः (वर्षा ऋतु के पश्चात वैश्य) अग्निमादधीत। पवित्र अग्नि प्रज्ज्वलित करना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि केवल इससे ही कोई भी कार्यक्रम आरम्भ होना चाहिए। यज्ञ के प्रसंग में न केवल ऋतु बल्कि यज्ञ आरंभ करने का सही और निश्चित समय भी महत्वपूर्ण होता था इसलिए सूर्य की गति के साथ–साथ खगोलीय पिंडो की गति एवं स्थिति को जानना भी आवश्यक था। यह केवल ज्योतिष के पर्याप्त ज्ञान के माध्यम से ही किया जा सकता था।

कल्प सूत्र

कल्प सूत्रों को कल्प सूत्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनके द्वारा उपलब्ध सभी सामग्री सूत्रों के रूप में है। कल्पसूत्र की व्याख्या वैसी ही है जैसी ब्रह्म सूत्र की; अल्पाक्षरम् (संक्षिप्त), असंदिग्धम् (स्पष्ट अथवा निर्विवाद), सारवत् (सार में परिपूर्ण), विश्वतो मुखम् (सबको अपने आप में समाहित करने वाला)। कल्प सूत्र का शाब्दिक अर्थ कर्म अर्थात् क्रिया–प्रदर्शित सूत्र है। कर्म चार प्रकार से भिन्न है। अतः इस पर अंत में विचार करेंगे। पहले तीन *ऋक्, यजुर्,* और *साम* सभी के लिए सामान्य हैं। परंतु जहां तक विधियों का संबंध है तीनों कल्प सूत्र प्रत्येक वेद में भिन्न–भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, *ऋग्वेद* के *आश्वलायन* और *सांखायन* सूत्र में सभी तीनों कल्प सूत्र सम्मिलित हैं। चूंकि सूत्र की प्रत्येक श्रेणी में भिन्न–भिन्न आदेश हैं, इसलिए इनसे अनुष्ठानों का निर्माण होता है। आइए, प्रत्येक कल्प पर अलग से विचार करें और तालिका का प्रयोग करते हुए सदस्यता निरूपित करें।

तालिका क

श्रौत सूत्र

आश्वलायन	ऋग्वेद
सांखायन	
कात्यायन	शुक्ल यजुर्वेद
बौधायन	
आपस्तम्ब	
सत्याषाढ़	
वैखानस	कृष्ण यजुर्वेद
भारद्वाज	
मानव	
आरशेय	सामवेद
वैतान	अथर्ववेद

तालिका ख
गृह्य सूत्र

आश्वलायन	
सांखायन	ऋग्वेद
परस्कार	शुक्ल यजुर्वेद
भारद्वाज	
आपस्तम्ब	कृष्ण यजुर्वेद
बौधायन	
गोभिल	
खदिर	सामवेद
जैमिनी	
कौशिक	अथर्ववेद

तालिका ग
धर्म सूत्र

वशिष्ठ	ऋग्वेद
बौधायन	कृष्ण यजुर्वेद
आपस्तम्ब	
गौतम	सामवेद

शुक्ल यजुर्वेद और अथर्ववेद से संबंधित धर्म सूत्र मौजूद नहीं हैं।

आइये देखें कि ये सूत्र किसके बारे में हैं। आश्वलायन सूत्र आश्वलायन द्वारा स्थापित किया गया। आश्वलायन शौनक का शिष्य था। इसी प्रकार ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनका नाम उनके संस्थापकों के बाद उसी तरह पड़ा जिस प्रकार न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों के बाद विज्ञान में अनेक नियमों और सिद्धांतों का नाम उनके नाम पर पड़ा जैसे न्यूटन के गति के नियम आदि। सभी श्रौत सूत्र उन विधियों का उल्लेख करते हैं जिनके अनुसार यज्ञ किए जाने चाहिए। ये मुख्यतः आदेशात्मक है और किसी भी प्रकार के विचलन को स्वीकार नहीं करते। मूल तथ्य यह है कि ऐसे अनेक श्रौत सूत्र हैं जो विभिन्न वेदों का समर्थन करते हैं और संकेत करते हैं कि यज्ञ अनेकों ढंगों से किये जा सकते थे।

यहां दो पहलुओं का उल्लेख करना उचित रहेगा। यज्ञ केवल सांसारिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से किए जाते थे। दूसरे, पुरुष पत्नी की अनुपस्थिति में यज्ञ नहीं कर सकते थे। इसका अर्थ है कि पत्नी की समाज में स्थिति पति से अधिक न सही किन्तु समान अवश्य थी।

गृह्य सूत्र, गृहस्थ के कर्तव्यों को बताते हैं सभी गृह्य सूत्र इस बात पर सहमत हैं कि क्या करना चाहिए। परंतु ये अन्य बातों जैसे कि किस प्रकार करना चाहिए पर एक दूसरे से अलग हैं। उदाहरण के लिए विवाह की प्रासंगिकता को लेकर कोई भी गृह्य सूत्र असहमत नहीं है। परंतु वे विवाह किए जाने के ढंगों पर एकमत नहीं हैं। दूसरे, सभी चार सूत्र एक–दूसरे के अनुपूरक हैं। अतः उनमें न तो कोई विकल्प है और न ही कोई परस्पर

विरोध। निष्कर्ष रूप में व्यक्ति को अपना उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए सूत्रों द्वारा बताए गए ढंग से सभी अनुष्ठान करने चाहिए।

गृह्य सूत्र से संबंधित अनुष्ठान दो प्रकार के हैं। पहले प्रकार के अनुष्ठानों (कुछ मामलों में अपवादों को छोड़कर) को जीवन में केवल एक बार किया जाना चाहिए। दूसरे प्रकार के अनुष्ठान प्रतिदिन या वर्ष में एक बार करने चाहिए। ऐसे सोलह उत्तरदायित्व हैं जिन्हें षोडश संस्कार कहा जाता है। इन संस्कारों की चार श्रेणियां हैं: जन्म से पहले, जन्म के पश्चात, वेदों का अध्ययन आरंभ करने और विवाह आदि की तैयारी करने के लिए किए जाने वाले संस्कार। यह ध्यान रहे कि पुरुषों और महिलाओं के लिए भिन्न–भिन्न संस्कार हैं।

इन सभी संस्कारों पर विचार करना आवश्यक नहीं है। महत्वपूर्ण यह जानना है कि इन्हें कैसे सम्पन्न किया जाये और इनको करने में कौन–कौन सी आवश्यक योग्यताएँ संस्कार सम्पन्न करने वाले में होनी चाहिए। इन संस्कारों की एक विशेषता यह थी कि इन्हें सभी वर्णों के व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकते थे या है। इस संबंध में दो प्रकार के भेदभाव भली भांति ज्ञात हैं। एक भेद वर्ण आधारित है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि। दूसरा पक्षपात लिंग आधारित है। फलस्वरूप भेदभाव की पहली श्रेणी ने शायद जाति व्यवस्था को जन्म दिया। जिसके कारण ही बाद में समाज में सोपानक्रमिक व्यवस्था स्थापित हुई। दूसरे, लिंग आधारित भेदभाव ने पुरुषों को प्रभावित नहीं किया। पुरुष के संबंध में यह महत्वहीन रहा परंतु महिलाएं इस भेदभाव की भुक्तभोगी बनीं। इस संबंध में एक तर्क यह है कि शूद्रों की भांति महिलाओं को शिक्षा से वंचित रखा गया क्योंकि वे कुछ महत्वपूर्ण संस्कारों को सम्पन्न नहीं कर सकती थीं। इसके विपरीत यह कहना व्यर्थ है कि कुछ मामलों में पुरुष उन संस्कारों के हकदार नहीं थे जिनकी हकदार महिलाएं थीं क्योंकि पुरुष वास्तव में ऐसी किसी सीमा से बाहर थे। परंतु ऐसा महिलाओं के मामले में नहीं था। यहां एक विशेष संस्कार का उल्लेख किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ब्रह्मोपदेश की आज तक भी शूद्रों और महिलाओं के लिए अनुमति नहीं है। यही वह विशेष संस्कार है जो ब्राह्मण जाति को विशेष रूप से एक अलग जाति बनाता है। यह इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि इस संस्कार के पूरा होने के बाद ब्राह्मण को 'द्विज' (दो बार उत्पन्न) क्यों कहा जाता है। कहा जाता है कि इस संस्कार के किए जाने से पहले ब्राह्मण नहीं है और मान्यतानुसार यह संस्कार उसे दूसरा जन्म देता है।

निश्चित रूप से, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में भी इस विशेष तर्क का सभी समर्थन नहीं करते। वास्तव में जिस तर्क का यहां उल्लेख किया जा रहा है, वह स्मृतियों द्वारा निर्धारित कुछ स्थापित अथवा स्वीकृत मानकों के विपरीत है और जिन्हें ब्राह्मणों के बारे में बताते समय पूरी तरह से उपेक्षित किया गया है। हमारा उद्देश्य निश्चित रूप से चातुर्वण्य अथवा जाति व्यवस्था के गुण–दोषों का अवलोकन करना नहीं है बल्कि विश्वास–प्रणालियों में हुए संरचनात्मक परिवर्तनों पर प्रकाश डालना है। उस परिप्रेक्ष्य को जानना है जिसमें प्राचीन रीति–रिवाजों को समझा गया और उनसे उत्पन्न उन तीव्र परिवर्तनों को, जिन्होंने समाज को प्रभावित किया, प्रदर्शित करना है। क्योंकि यही तो भारतीय समाज में विशेषरूप से शताब्दियों से हुआ है।

यदि हम 'संस्कार' शब्द के शाब्दिक अर्थ पर विचार करे तो यह स्पष्ट है कि इसका अर्थ पुरुष (अथवा महिला) का आध्यात्मिक रूप से उत्थान करना है। तर्क दिया जाता है कि ये सकारात्मक परिणों में अन्य वर्ग प्रस्तुत करते हैं, मानव का भौतिक कल्याण उनमें से

एक है। यदि ऐसा है तो एक विशेष वर्ग (अथवा वर्गों) को इस लाभ से वंचित क्यों किया गया? दार्शनिक ढांचे के अंतर्गत इस प्रश्न का कोई उत्तर खोजना संभव नहीं है। कोई मनोवैज्ञानिक अथवा कोई समाजशास्त्री ही इस प्रकार के प्रश्नों पर प्रकाश डाल सकता है।

इस तथ्य के बावजूद कि संस्कारों का स्वरूप आध्यात्मिक था, इनके अनुपालन के पीछे का एकमात्र उद्देश्य सांसारिक ही है। संस्कारों में भौतिक जीवन के सभी पहलुओं के लिए यदि कोई अर्थपूर्ण आधार नहीं भी खोजा जा सके तो भी आध्यात्मिक समर्थन अवश्य प्राप्त किया जा सकता है। भिन्न–भिन्न कारणों से संस्कारों को उपनिषदों और नास्तिक दार्शनिक पद्धतियों से समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। एक ओर जहां उपनिषदों ने संस्कारों को सांसारिक लक्ष्य के कारण अस्वीकार कर दिया। वहीं नास्तिक पद्धतियों ने प्रबल रूप से संस्कारों के प्रति इसलिए प्रतिक्रिया व्यक्त की क्योंकि ये वेदों से घनिष्ठ रूप से सम्बंधित थे।

अपनी दार्शनिक मान्यताओं में मतभेदों के बावजूद, उपनिषद् और नास्तिक दार्शनिक विचारधाराओं दोनों ने मठों और आश्रमों के जीवन को स्वीकृति प्रदान की। वास्तव में भौतिक जगत की सभी वस्तुओं से उदासीन होने के कारण उन्होंने संस्कारों का विरोध किया। इस चर्चा से एक महत्वपूर्ण तथ्य यह उभर कर सामने आता है कि यदि धर्म को धर्म के रूप में समझा जाये तो दर्शन और धर्म हमेशा एक–दूसरे से मेल नहीं खाते हैं। जहां संस्कारों का संबंध धर्म से है वहीं उपनिषदों का दर्शन से है।

अथर्ववेद का कौशिक सूत्र, पूर्व में उल्लेखित सूत्रों के विपरीत किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक विषय के साथ संबंधित नहीं होने के कारण अपने आप में विशेष है। यह औषधीय पौधों के बारे में बताता है एवं भारतीय चिकित्सा पद्धति को समझने में सहायता करता है। गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र के मध्य एक स्पष्ट अंतर है। जहां गृह्य सूत्र मानव के केवल परिवार से सम्बंधित कर्मों के नियन्त्रण तक सीमित है वहीं धर्म सूत्रों का मुख्य विषय सामाजिक आचार–विचार है। गौतम का धर्म सूत्र सबसे प्राचीन सूत्र माना जाता है। ये सूत्र केवल चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है। गौतम का धर्म सूत्र सबसे प्राचीन सूत्र माना जाता है। ये सूत्र केवल चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनिवार्य कर्तव्यों का ही उल्लेख नहीं करते बल्कि एक शासक के कर्तव्यों–राज धर्म का भी उल्लेख करते हैं। भारतीय संदर्भ में नैतिकता अनिवार्य रूप से धर्म सूत्रों द्वारा प्रस्तावित है। इसलिए, धर्म सूत्र की सीमाएं और कमियों का नैतिक सिद्धांतों की स्वीकार्यता पर विशेषरूप से प्रभाव पड़ा है।

अन्त में, शुल्ब सूत्र पर विचार करते हैं। यद्यपि यह सूत्र भी यज्ञ करने के संदर्भ में ही प्रासंगिक है। यह यज्ञ के केवल ज्यामितीय पक्षों तक सीमित है क्योंकि ज्यामिति के पर्याप्त ज्ञान के अभाव में वेदिकाओं का निर्माण असंभव था। शुल्ब सूत्र प्राचीन भारतीयों के वैदिक जीवन के विभिन्न आयामों को पूरा करने के उद्देश्य से उनके द्वारा विकसित प्राचीन प्रौद्योगिकी का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. शिक्षा से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2. गृह्य सूत्रों पर एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2.5 महाकाव्य

रामायण और *महाभारत* ऐसे दो महाकाव्य हैं जिन्होंने भारत के सभी भागों में अनेक शताब्दियों तक रचित साहित्य को प्रभावित किया है। *रामायण, महाभारत* के विपरीत दार्शनिक रूप से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। हमें इन दोनों महाकाव्यों के साहित्यिक महत्व से भी कोई सरोकार नहीं है, यद्यपि *रामायण* सनातन धर्म के सिद्धांतों और विशेषकर शासक के कर्तव्यों के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध कराती है। यद्यपि इसमें दार्शनिक रूप से कुछ नया नहीं है, इसलिए हम इस पर विचार नहीं करेंगे। हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए *महाभारत* के दार्शनिक पक्ष पर ध्यान देना ही पर्याप्त है।

साहित्य, संस्कृति आदि के अध्ययन में तर्कशास्त्र और ज्ञान मीमांसा, जो दार्शनिक परम्परा का निर्माण करते हैं, का कोई उचित उपयोग नहीं होता है। *महाभारत* का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करते समय भी हम इसके साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पक्षों पर विचार नहीं करेंगे। इस रचना में दो मुख्य दार्शनिक मुद्दे हैं; एक मुद्दा बहुत ही असंतोषजनक ढंग से *भगवद्गीता* में प्रस्तुत किया गया है क्योंकि सह आस्तिक परंपरा की एक रचना है दूसरा मुद्दा नैतिकता और राज्यव्यवस्था का है जिसे इसके दो प्रमुख चरित्रों विदुर और भीष्म के माध्यम से समझाया गया है। परंतु इस कृति के ये दार्शनिक मुद्दे गंभीर रूप से दार्शनिक दृष्टिकोण सम्बंधी गड़बड़ी से ग्रसित हैं। किसी भी मुद्दे की हम कहीं भी विवेचना या आलोचना, जो दर्शन की मुख्य पहचान है, नहीं पाते। कुल मिलाकर हमें इसमें केवल धर्मोपदेश के सिवाय कुछ नहीं मिलता। इसलिए यहां पर इन तत्वों का संक्षिप्त विवरण ही पर्याप्त है।

विदुर का नैतिक दर्शन

नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से कुछ मानव सदगुण को साकार रूप दे देते हैं। विदुर और भीष्म *महाभारत* के ऐसे ही दो चरित्र हैं। *महाभारत* में इनके विपरीत बुराई को साकार रूप देने वाले चरित्र भी हैं। यहां प्रश्न खड़ा होता है कि किसी महाकाव्य को बुराई के चरित्र क्यों प्रदर्शित करने चाहिए। दूसरे, व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखें तो क्या ये वास्तव में बुरे चरित्र हैं?

यह दूसरा प्रश्न दार्शनिक रूप से बहुत गूढ़ है और इसका सरलता से उत्तर नहीं दिया जा सकता। जबकि पहले प्रश्न का समाधान करना कुछ आसान है। कोई भी महाकाव्य प्रस्तुति में विशाल होता है क्योंकि इसमें संसार के सभी तथ्य और जीवन के सभी पक्ष सम्मिलित होते हैं। अतः बुरे चरित्रों को किसी भी महाकाव्य में स्थान मिलना ही चाहिए।

नैतिक सिद्धांतों की विदुर की व्याख्या श्रेयस और प्रेयस की बीच स्पष्ट अंतर से आरंभ होती है। वे (विदुर) श्रेयस की तुलना रूचिकर न होने के कारण औषधि के साथ करते हैं इसके तुरन्त बाद प्रेयस, जिसके साथ बुराई निरन्तर चलती है, की स्थिति को प्रदर्शित करने के लिए तत्काल एक दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है। इस सहगामी संबंध को स्पष्ट बनाने के लिए विदुर प्रेयस (सुखकर) की तुलना मधु (शहद) के साथ करते हैं। विदुर कहते हैं कि सुख की चाह वाला व्यक्ति शहद की चाह रखने वाले उस व्यक्ति के समान है जो पेड़ पर लगे शहद की चाह में नीचे खुले पड़े गर्त या कुऐं में गिर पड़ने की सम्भावना से अनभिज्ञ होता है। ठीक इसी प्रकार सुख की चाह वाला व्यक्ति भी सुख के साथ जुड़ी बुराईयों (दुखों) से अनभिज्ञ होता है।

महाभारत में विदुर अधिकांशतः एक परामर्शदाता की भूमिका निभाते हैं और उनके परामर्श के आधार नैतिक होता है। वे मन की दो अवस्थाओं के बीच स्पष्ट अंतर करते हैं; एक बुद्धिमान व्यक्ति की मानसिक अवस्था और दूसरी अज्ञानी अवस्था। जहां प्लेटो चार मूल सद्‌गुणों की बात करते हैं वहीं विदुर छह मूल अवगुणों (बुराइयों) का उल्लेख करते हैं लालच आथवा लोभ उनमें से एक है। शेष पांच बुराइयां हैं; कामुकता, क्रोध, विवेकहीन मोह, अहंकार और ईर्ष्या। उनके अनुसार ज्ञानी व्यक्ति इन सब से दूर रहता है। यहां यह ध्यान देना बहुत दिलचस्प है कि विदुर प्लेटो से अज्ञानी के चरित्र को लेकर सहमत है। अज्ञानी वह व्यक्ति है जो अपने कर्तव्य की उपेक्षा करता है और वह कार्य करने का प्रयास करता है जो उसका कार्य नहीं है। दूसरे, वह एक सच्चे मित्र और शत्रु में भेद नहीं कर सकता। अज्ञानी व्यक्ति के लिए बताई गई सभी विशेषताएं प्लेटो द्वारा उल्लेखित थेसिमेकस, जो सुकरात के विचारों का कड़े ढंग से विरोध करता है, में पाई जाती है। अंत में, विदुर दस नीति–निदेशक सिद्धांतों की सूची प्रस्तुत करते हैं जिसमें से एक सिद्धांत मनुष्यों को तीन वर्गों, संरक्षकों (दार्शनिक राजा), सैनिकों, और दस्तकारों में बांटता है। यह वर्गीकरण प्लेटो के वर्गीकरण के समान है। विदुर और प्लेटो का मानना है कि इन तीन वर्गों को केवल उन्हें दिए गए कार्यों (कर्तव्यों) को करना चाहिए। इसका अर्थ है कि प्लेटों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपने वर्ग सम्मत कर्तव्यों का निर्वाह करना न्याय है और विुदर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ग सम्मत कर्तव्यों का निर्वाह करना धर्म है। यही कल्याणकारी राज्य का मूल सिद्धांत है और यही विदुर के नैतिक दर्शन का सार भी है।

अंतिम संभाग में विदुर मृत्यु और उसे स्वीकार करने की आवश्यकता के बारे में बात करते हैं। यदि मनुष्य मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता है तो मृत्यु और भय को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में विदुर इस वास्तविक तथ्य (मानव स्वभाव) को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि मनुष्य मुश्किल से ही बुद्धि का अनुसरण करते हैं। यहां पर विदुर एवं बुद्ध में असाधारण समानता है। बुद्ध के अनुसार भी तृष्णा दुःख का कारण है और उपचार सत्य की अनुभूति और दार्शनिक ज्ञान में विद्यमान है। इस संबंध में विदुर, भगवान बुद्ध और प्लेटो के विचारों में समानता प्रदर्शित होती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय परंपरा में दर्शन को सदैव जीवन पद्धति के रूप में समझा गया है।

भीष्म का राजनीतिक दर्शन

राजनीतिक दर्शन का पश्चिमी रूप जिस ढंग से समझा जाता है और प्रयोग किया जाता है वह प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था की अवधारणा से अलग है। यह अन्तर वास्तव में दो विपरीत ध्रुवों जैसा बड़ा अन्तर है। वर्तमान व्यवस्था जहां अधिकारों पर आधारित है वही प्राचीन भारतीय राज व्यवस्था कर्तव्यों पर आधारित थी। यद्यपि वर्तमान लोकतन्त्र व्यवस्था, जो शासन का सर्वाधिक उदार रूप है, भी नागरिकों के लिये मूलभूत अधिकारों के साथ–साथ उनके लिये कुछ कर्तव्यों का निर्धारण करती है। अतः निसन्देह नीति–निर्देशक सिद्धांत किसी भी लोकतन्त्र व्यवस्था की रीढ़ होते हैं। दूसरी ओर, भीष्म का धर्मराज (युधिष्ठिर) को दिया गया राजनैतिक ज्ञान एक अलग स्थिति को प्रदर्शित करता है। वे नागरिकों के कर्तव्यों का उल्लेख किए बिना, केवल शासक के कर्तव्य ओर उत्तरदायित्व बताते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वास्तविक अर्थ में नागरिक राजा है और राजा उनका संरक्षक। प्लेटो ने अनेक शताब्दियों पहले *महाभारत* में प्रदर्शित राजा की अवधारणा के समान संरक्षकों की भूमिका की रचना की थी। भीष्म का व्याख्यान न केवल स्पष्ट रूप से राजा के गुणों एवं विशेषताओं और कर्तव्यों का उल्लेख करता है बल्कि यह लोक प्रशासन पर सर्वप्रथम निबंध भी है। आइए इन पहलुओं पर संक्षेप में विचार करें।

राजा को सक्रिय, सत्यवादी और स्पष्टवादी होना चाहिए। भीष्म के अनुसार ये राजा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं। उसे दयालु तो होना चाहिए परंतु बहुत अधिक मृदु (नरम) नहीं होना चाहिए। यह ध्यान देना दिलचस्प होगा कि प्लेटो दूसरे छोर से आरंभ करते हुए समान निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। वे कहते हैं कि संरक्षकों को संयत शारीरिक प्रशिक्षण के साथ–साथ संगीत का भी प्रशिक्षण दिया जाता चाहिए जिससे वे कठोर तो हो परन्तु दयालु और न्यायप्रिय भी रहें। राजधर्म का सार नागरिक के हितों का संरक्षण करना है। वास्तव में भीष्म ने एक आदर्श राजा में छत्तीस गुण (विशेषताएं) बताए हैं। ये गुण राजधर्म का पालन करने के लिए आवश्यक है। इनके बिना नागरिक राजा से संरक्षण प्राप्त नहीं कर सकते।

विदेश नीति लोक प्रशासन का एक अन्य पहलू है। विदेश नीति में दो शक्तियां शत्रु और मित्र सम्मिलित हैं। मित्रों की भूमिका पर भीष्म अधिक प्रकाश नहीं डालते। परंतु वे कहते हैं कि राजा को यह अवश्य पता होना चाहिए कि शत्रु के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए। इस विषय में बुद्धिमता सदैव राजा की मार्गदर्शक शक्ति होती है। भीष्म इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि युद्ध समाधान नहीं है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शत्रु पर अनावश्यक दया दिखाई जाये एवं उस पर ध्यान न रखा जाये। इसके विपरीत, केवल निरंतर सतर्कता, दुर्बलता को छिपाना, और उचित निर्णय ही सुरक्षा सुनिश्चित कर सकते हैं। ये सभी विवरण सामान्य परिस्थितियों में लागू होते हैं जबकि विपत्ति में शत्रु भी दया के पात्र होते हैं क्योंकि कष्ट के समय अच्छा मानवीय व्यवहार शत्रुता को नष्ट कर सकता है। अंततः दयालुता पूर्ण व्यवहार अन्य कड़वे अनुभवों को नष्ट कर देता है।

भगवद्गीता

भगवद्गीता एक पवित्र ग्रन्थ है। इसमें लगभग 700 श्लोक हैं और इसका मूल स्रोत *महाभारत* है। *भगवद्गीता* के उपदेशक कृष्ण हैं जिन्हें इस पुस्तक में भगवान के रूप में प्रस्तुत किया गया है कुरूक्षेत्र के मैदान में युद्ध प्रारम्भ होने से पहले कृष्ण और अर्जुन

के मध्य होने वाला संवाद इस पुस्तक की विषय वस्तु है। कृष्ण, अर्जुन के अपने भाइयों एवं सगे–सम्बंधियों से युद्ध करने सम्बंधि उलझन एवं नैतिक द्वन्द्व के उत्तर में उसे उसके क्षत्रिय धर्म एवं राज धर्म की याद दिलाते हैं। इसी क्रम में वे विभिन्न यौगिक और वेदान्तिक दर्शन शास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना करते हैं। इसलिए इसे प्रायः हिन्दु धर्मशास्त्र की एक सहायक पुस्तक के साथ–साथ सांसारिक व्यापारों एवं जीवन का मार्गदर्शन करने वाली एक सम्पूर्ण पवित्र सहायक पुस्तक माना जाता है। इसे भारतीय वाग्मय में उपनिषद् का स्तर प्राप्त होने के कारण *गीतोपनिषद्* कहा जाता है। अब, चूँकि *गीता* की उत्पत्ति *महाभारत* से हुई है। इसलिए इसे 'स्मृति' ग्रंथ की श्रेणी में रखा जाता है। तथापि, हिन्दु धर्म की उन शाखाओं के लिये जो इसे उपनिषदों का स्तर प्रदान करती है यह 'श्रुति' की श्रेणी का ग्रंथ है। चूँकि यह सभी उपनिषदों में व्यक्त ज्ञान का सार प्रस्तुत करती है इसलिए इसे 'उपनिषदों का उपनिषद्' भी कहा जाता है।

गीता के तीन प्रमुख विषय हैं। ये हैं: ज्ञान, सामाजिक उत्तरदायित्व (कर्म), और भक्ति अथवा समर्पण। इन मुख्य विषयों के संगम को योग के नाम से जाना जाता है। यहां पर हमारा सरोकार *गीता* के व्यवहारिक जीवन सम्बंधित निर्देश नहीं है बल्कि इसका दार्शनिक पक्ष है। यद्यपि *गीता* में कहीं भी इसके दार्शनिक आधार का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उदाहरण के लिए भक्ति पर विचार कीजिए। भक्ति केवल तभी अर्थपूर्ण हो सकती है जब हम भक्त एवं भगवान को एक दूसरे से सर्वथा भिन्न माने। दूसरे शब्दों में अद्वैत का खंडन भक्ति की प्रासंगिकता को स्वीकार करने की पहली शर्त है। परंतु *गीता* में हमें द्वैत अथवा अद्वैत का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता इसके विपरीत, *गीता* सामाजिक कर्तव्यों अथवा कर्म और ज्ञान का भक्ति में विलय कर देती है।

गीता से एक बात तो स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति इस संसार को त्याग देता है तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। संसार छोड़ना उत्तरदायित्वों को छोड़ना है इस प्रकार *गीता* के समर्थन में एक दावा तो निस्संकोच किया जा सकता है कि *गीता* सांसारिक जीवन की कीमत पर आध्यात्मिकता को प्राथमिकता नहीं देती। तथापि यह आरोप की यह आध्यात्मिकता को प्राथमिकता देती है और यह प्रत्यारोप कि यह आध्यात्मिकता को प्राथमिकता नहीं देती हैं दार्शनिकरूप से महत्वहीन हैं। परंतु इस बात का उल्लेख इसलिए करना आवश्यक है क्योंकि कर्म के संबंध मे मोक्ष की प्राप्ति *गीता* का प्राथमिक उद्देश्य है।

आइए अब भक्ति को छोड़कर और केवल कर्म योग तथा ज्ञान योग पर ध्यान दें। जहां ज्ञान का अर्थ उच्चतम स्तर पर अनुभूति से है वहीं कर्म का अर्थ बिल्कुल इससे भिन्न है। वैदिक काल के दौरान कर्म का अर्थ यज्ञ करना था। परंतु *गीता* में इसका अर्थ सामाजिक कर्तव्यों से है। योग को समर्पण के अर्थ में समझा जाता है। इस प्रकार कर्मयोग को प्रतिबद्धता के बोध के साथ कर्तव्य का निर्वाह करना समझा जा सकता है।

गीता में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व निष्काम कर्म का सिद्धांत है जिसका अर्थ निस्वार्थ ढंग से उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना है। यह दृष्टिकोण यज्ञों का बिल्कुल निषेध करता है क्योंकि व्यक्ति इन्हें स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से करता है तथापि *गीता* कर्म के परित्याग का समर्थन नहीं करती। बल्कि यह कर्म फल की इच्छा के त्याग की महत्ता पर बल देती है। यह केवल निजी हित के उपेक्षा करती है और सामाजिक हित का समर्थन करती है। इस प्रकार व्यक्ति साधन बन जाता है और समाज साध्य अथवा उद्देश्य। कर्तव्य के प्रति निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण किसी भी प्रकार से कर्ता को प्रभावित नहीं करता अर्थात न तो सफलता और नहीं असफलता उसे प्रभावित करती है। यह दृष्टिकोण ही समत्व मनोभाव (स्थितप्रज्ञ) है।

यहां कर्म और वर्ण के अर्थ के बीच संबंध को स्पष्ट करना आवश्यक है। इस अवस्था में, चातुर्वर्ण्य वर्गीकरण प्रासंगिक हो जाता है यदि साधारण भाषा में इसका अनुवाद किया जाए तो इसका अर्थ व्यवसाय (कार्य) के प्रति वचनबद्धता है। 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।' इसका अर्थ है गुण और (व्यवसाय–कार्य) वर्ण का निर्धारण करते हैं अर्थात गुण व्यवसाय (कार्य) का निर्धारण करता है।

गीता प्रतिबद्धता और हित अथवा स्वार्थ के बीच एक स्पष्ट भेद करती है। प्रतिबद्धता निर्वैयक्तिक होती है जबकि स्वार्थ वैयक्तिक (निजी) होता है। निजी स्वार्थ अथवा हित एक अर्थपूर्ण अवधारणा है परंतु निहित प्रतिबद्धता जैसी कोई वस्तु नहीं होती। जब निहित स्वार्थ व्यक्ति को प्रभावित करता है तब वह निषिद्ध साधनों का सहारा ले सकता हैं परंतु निर्वैयक्तिक प्रतिबद्धता इस प्रकार के चयन में नहीं बदलती। *गीता* में कर्म पर बल दिया गया है परंतु फल की उपेक्षा की गई है। यह सिद्धांत की, 'साध्य, साधन को प्रमाणित नहीं करता' *गीता* में निहित है यह अन्य शब्दों में *गीता* का सार है।

एक और पक्ष का उल्लेख करना अभी शेष है। एक गलत धारणा यह है कि कार्यों (व्यवसाय) में सोपानक्रम है। *गीता* में ऐसा उल्लेख नहीं है परंतु 'अच्छा' और 'बुरा' अथवा 'रचनात्मक' और 'विध्वंसात्मक' के बीच स्पष्ट अंतर है। प्रत्येक ऐसे कर्तव्य का निर्वाह करना अच्छा है जो व्यक्ति की प्रकृति (स्वभाव) के अनुरूप होता है अन्यथा, यह बुरा है। स्पष्ट रूप में कहा जाए तो श्रम के बीच विभाजन है और यह समाज के हित में है क्योंकि इस प्रकार का विभाजन अनिवार्य है। अतः कार्य मे गुणात्मक अंतर को प्रबल रूप से अस्वीकार किया जाता है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. भीष्म की विदेश नीति के बारे में आप क्या जानते हैं?

....

....

....

....

....

2. निष्काम कर्म से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

2.6 सारांश

भारतीय धर्मग्रंथों में मुख्य रूप से उपर के तीन वर्णों के हिंदुओं की जीवन शैली का वर्णन किया गया है। मुख्यतः चार स्रोतों से इस जीवन पद्धति को जाना जा सकता है। इन स्रोतों में स्मृतियां भी हैं जिन्होंने जाने–अनजाने में जाति व्यवस्था को संस्था का रूप दिया। और महिलाओं को पददलित किया। तथापि स्मृतियां आज के संविधान से मिलती–जुलती हैं। पुराणों को इतिहास से क्या पृथक् करता है, यह अस्पष्ट है। वेदांग, वेदों के जटिल विचारों को स्पष्ट करते हैं। ये स्वर–शैली, व्याकरण, संरचना आदि का उल्लेख करते हैं। वेदांगों के अनुसार, मंत्रों का उच्चारण करते समय उनके अर्थ को जानना अत्यंत महत्वपूर्ण है। कल्प सूत्रों की संख्या चार है। यह इस बात से संबंधित है कि किन अनुष्ठानों को किया जाना है और कैसे किया जाना है इत्यादि। *महाभारत* का न केवल साहित्यिक महत्व है बल्कि यह राजनीतिक व्यवस्था पर पहली पुस्तक है। शुद्ध दार्शनिक कार्य (रचना) के रूप में *गीता* का महत्व भले ही कम हो परन्तु नैतिक दर्शन के क्षेत्र में इसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। *गीता* अपने नैतिक दर्शन में व्यक्ति की कीमत पर समाज को प्राथमिकता देती है।

2.7 कुंजी शब्द

वेदांग : वेदांग वेद के अंग हैं। ये छह हैं– शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। ये वेद को समझने के लिए आवश्यक हैं।

सूत्र : 'सूत्र' का शाब्दिक अर्थ रस्सी अथवा धागा है जो वस्तुओं को एकसाथ बांधता है ओर अलंकारिक रूप से यह सूक्ति अथवा रेखा, नियम, सूत्र अथवा संहिता के रूप में ऐसी सूक्तियों का संग्रह है।

महाकाव्य : रामायण और महाभारत दो महाकाव्य हैं जिन्होंने अनेक शताब्दियों तक भारतीय साहित्य को प्रभावित किया है।

2.8 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

काणे, पी.वी. *हिस्ट्री ऑफ धर्म शास्त्र,* वॉल्युम–1, 2. पुणेः भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, 1999.

पाण्डे, राजबली. *हिंदू संस्कार्स.* देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 2002.

राधाकृष्णन् एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* वाल्यूम–1. नयू देल्हीः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1967.

हिरियण्णा, एम. *आउटलाइंस ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* लंदनः जॉर्ज एलेन एंड अनविन, 1958.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

दासगुप्त, सुरेन्द नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. 'स्मृति' का एक महत्वपूर्ण पहलू इसकी नैतिक कठोरता है। कार्यों (कर्तव्यों) का निर्धारण और कर्तव्यों के पालन पर विशेष बल कुछ सीमा तक इन्हें संविधान में बताए गए नीति निर्देशक सिद्धांतों के समान बनाता है। समाज का चार श्रेणियों में विभाजन एक प्रकार है और व्यक्तिगत जीवन का चार अवस्था में विभाजन दूसरा प्रकार। स्मृति न केवल चार वर्गों के विभाजन के बल्कि व्यक्ति के जीवन में चार अवस्थाओं (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के बारे में बहुत स्पष्ट उल्लेख करती है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में अपने आप जाने का कोई अवसर नहीं है। अंतिम विभाजन अर्थात पापों का प्रयाश्चित वास्तव में इस प्रकार के निषिद्ध परिवर्तन से संबंधित है। इस प्रकार के निषेध के परिणाम स्वरूप व्यक्तिगत स्वतंत्रता के ऊपर समाज में स्थायित्व को प्राथमिकता दी गई। इससे हमें स्मृति द्वारा समर्थित राजनीतिक व्यवस्था के बारे में अनुमान लगाने में सहायता मिलती है। निश्चित रूप से स्मृति ने लोकतांत्रिक व्यवस्था का समर्थन नहीं किया यद्यपि वैदिक काल के दौरान लोकतांत्रिक व्यवस्था खूब फली–फूली।

2. पुराणों की संख्या अठारह है। चूंकि ये दार्शनिक रूप से प्रासंगिक नहीं है इसलिए उनके बारे में उल्लेख करना आवश्यक भी नहीं है। अनेक पुराण ब्रह्मांड विज्ञान से संबंध रखते हैं। शायद, केवल यही एक विषय है जो दर्शन और पुराण में सामान्य है। रोचक बात यह है कि एक पुराण अर्थात् वायु पुराण में भूगोल, संगीत आदि पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। प्रमाण न मिलने के अतिरिक्त पुराण में एक और त्रुटि है सभी पुराणों में देवी–देवताओं, राक्षसों, मृत्यु के बाद जीवन आदि से संबंधित अनुश्रुतियों को जोड़ा गया है जो गंभीर दार्शनिक अध्ययन का विषय न हो सकने के कारण पुराणों को दार्शनिक से हल्का बना देती है।

बोध प्रश्न 2

1. सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया हैः 'जो स्वर और वर्ण के अनुसार उच्चारण सिखाती है, शिक्षा कहलाती है'। वाणी में स्पष्टता और सही–सही सुनने की योग्यता वेदों को सीखने की पूर्व शर्त है। यही कारण है कि वेदों को अनुश्रव (सुनने के बाद अनुसरण किया जाता है) कहा जाता है।

2. गृह्य सूत्र, गृहस्थ कर्तव्यों को बताता है। सभी गृह सूत्र इस विशेष बात पर सहमत है कि 'क्या किया जाना चाहिए'। परंतु ये अन्य बात कि 'किस प्रकार किया जाना चाहिए' पर सहमत नहीं है। उदाहरण के लिए कोई भी गृह्य सूत्र विवाह की प्रासंगिकता को लेकर असहमत नहीं है। उदाहरण के लिए कोई भी गृह्य सूत्र विवाह की प्रासंगिकता को लेकर असहमत नहीं है। परंतु ये विवाह को किये जाने के तरीकों पर सहमत नहीं है दूसरे सभी चार सूत्र एक–दूसरे के पूरक हैं। अतः उनमें न तो कोई विकल्प है और न ही कोई विरोधाभास। निष्कर्षतः व्यक्ति को अपना दायित्व पूरा करने के लिए उसे निर्धारित ढंग से सभी अनुष्ठान करने चाहिए।

बोध प्रश्न 3

1. विदेश नीति लोक प्रशासन का एक महत्वपूर्ण पहलू है। विदेश नीति में दो शक्तियां शत्रु और मित्र निहित हैं। मित्रों की भूमिका पर तो भीष्म ने बहुत प्रकाश नहीं डाला है। परंतु उनके अनुसार राजा को यह जानना चाहिए कि शत्रु से कि प्रकार निपटा जाए। इस विषय में बुद्धिमता एक मार्गदर्शी शक्ति है। भीष्म इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि युद्ध समाधान नहीं है और न ही इसका यह अर्थ है कि शत्रु को छोड़ देना चाहिए। केवल लगातार सावधानी, अपनी कमी को छिपाना और उचित निर्णय ही सुरक्षा को सुनिश्चित कर सकते हैं। ये सभी विवरण सामान्य परिस्थितियों में लागू होते हैं जबकि विपत्ति में शत्रु भी अनुकंपा का उपभोग कर सकते हैं क्योंकि सकारात्मक मानवीय व्यवहार शत्रुता को भी नष्ट कर सकता है। अतः दयालुतापूर्ण व्यवहार अन्य कड़वीं बातों को भुला सकता है।

2. *गीता* में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व निष्काम कर्म का सिद्धांत है जो निर्वैयक्तिक रूप से दायित्वों का वहन करने में निहित है। यह दृष्टिकोण पूरी तरह से यज्ञ को नकारता है क्योंकि व्यक्ति इसे स्वार्थ के उद्देश्य से करता है। परंतु *गीता* ने यह समर्थन कभी नहीं किया कि 'कर्म' का त्याग कर देना चाहिए बल्कि *गीता* स्पष्ट रूप से इस बात का समर्थन करती है कि 'कर्म–फल' का त्याग कर देना चाहिए।

इकाई 3 महाकाव्यों का दर्शन[3]

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 परिचय

3.2 अवलोकन

3.3 मुख्य मुद्दों/अवधारणाओं पर अनुचिन्तन

3.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

3.5 सारांश

3.6 कुंजी शब्द

3.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में छात्र निम्नलिखित के बारे में जानेंगे;

- दर्शन और साहित्य
- एपिक्स की महाकाव्य के रूप में परिभाषा और विभिन्नता
- मुख्य महाकाव्यों का अवलोकन
- *महाभारत* और *भगवद्गीता* का अवलोकन
- *रामायण* का अवलोकन
- महाकाव्यों की दार्शनिक छाप/दृष्टि

3.1 परिचय

अपने वास्तविक अर्थ में दर्शन शास्त्र से तात्पर्य विश्व संबंधी एकात्मक दृष्टि की खोज करना है। ग्रीक इतिहास में 'सोफिया' और 'फिलो' दोनों को प्रज्ञा के प्रति प्रेम या अनुराग के रूप में समझा गया है और उससे उत्पन्न दृष्टि को 'कोस्मोथियोरिया' के रूप में वर्णित किया गया है। जर्मन दार्शनिकों ने इसे 'वेलतॉशौन' अर्थात् विश्वदृष्टि कहा। भारतीय वैचारिक परम्परा में इसे दर्शन कहा गया। विश्व की दृष्टि के इस प्रतिमान को साहित्य में भी आत्मसात् किया गया। पश्चिम से लेकर पूर्वी जगत के अनेक दार्शनिक एवं साहित्यकारों का मत है कि इन दोनों विषयों को अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए। ये अनेक

[3] श्री अजय जायसवाल, विद्या वाचस्पति शोधक, दर्शन केन्द्र जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, अनुवाद– डॉ. विजय कुमार

वैचारिक मुद्दों पर परस्पर एकात्मकता का प्रदर्शन करते हैं इसलिए दोनों एक दूसरे के अनुपूरक और संपूरक हैं। ऐतिहासिक जगत के मूर्त दृष्टांतों के बिना दर्शन नेत्रहीन और बिना किसी दर्शन के ऐतिहासिकता रिक्त एवं रसहीन है।

जब हम एक विशेष प्रकार के काव्य जैसे कि महाकाव्य (अथवा सामान्य साहित्य) का विश्लेषण करते हैं तो उपरोक्त बिंदु लगभग स्पष्ट हो जाता। महाकाव्य के लिए अंग्रेजी में प्रयुक्त शब्द 'एपिक' का उद्‌भव ग्रीक शब्द 'एपिका' और लैटिन शब्द 'एपिकस' से हुआ है जिनका अर्थ होता है; कथा, कहानी, उपदेशात्मक कथन, कहावत अथवा बड़ी लम्बी कविता। अठारहवीं शताब्दी के आस पास एपिक को भव्य और वीरोचित काव्य के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। इसी तर्ज पर मिलर विलियम ने एपिक को एक ऐसी लम्बी कथा के रूप में परिभाषित किया जिसकी संरचना समय और काल के भव्य स्तर पर की गई हो तथा जिसमें किसी अमर नायक और उसके वीरोचित कृत्यों का अंकन किया गया हो। भारत में एपिक हजारों वर्षों से लिखे जाते रहे हैं। भारतीय सन्दर्भ में एपिक या तो लौकिक साहित्य के रूप में या फिर महाकाव्य (वृहत् कविताएं) के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। इस इकाई में हम ऐसे विभाजन के आधार को समझेंगे और अग्रलिखित महाकाव्यों में से पहले दो महाकाव्यों की विषय वस्तु, प्रसंग और दर्शन पर व्यापक अनुचिंतन करेंगे।

हिन्दू महाकाव्य

महाभारत

रामायण

कालिदास के महाकाव्य

बौद्ध धर्म में अश्वघोष महाकाव्य

जैन धर्म के महाकाव्य

3.2 अवलोकन

भारत के मुख्य महाकाव्यों की विषयवस्तु, प्रसंग और दर्शन पर बात करने से पूर्व संस्कृत साहित्य में काव्य के बारे में एक मूलभूत समझ बनाना आवश्यक है। हालांकि 'काव्य' शब्द को अनेक दार्शनिकों ने अनेक ढंगों से वर्णित किया है किन्तु इस बात पर सबकी सहमति है कि कवि की रचना काव्य है (कविः कर्मा काव्य) और काव्य को पाठक/दृष्टा के अन्दर रस उत्पन्न करने में सक्षम होना चाहिए। इसमें सौन्दर्यात्मक बोध भी समाहित होना चाहिए। फलस्वरूप, अति महत्व के संस्कृत साहित्य का सम्पूर्ण साहित्य काव्य के अंतर्गत आ जाता है।

पुनः काव्य के दो प्रकार हैं;

1– श्रव्य काव्य–

यह भाषा विज्ञान है, इसे पाठ्य अथवा दृश्य दोनों ढंगों से मौखिक रूप से संप्रेषित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत् पद्य (कविता) गद्य और चम्पू (गद्य और पद्य का सम्मिश्रण) शैली के काव्य आते हैं। पुनः गद्य काव्य के दो भाग हैं; कथा (कहानी) और आख्यायिका (आख्यान)। फिर, पद्य काव्य को महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक काव्य में विभाजित किया जाता हैं। मुक्तक काव्य नामक विभाजन विषयवस्तु के आधार पर आधारित है।

2— दृश्य काव्य—

यह मौखिक सम्प्रेषण से परे का काव्य है क्योंकि इसमें चरित्र चित्रण के माध्यम से रस का सम्प्रेषण होता है। इसका जोर चरित्रों की वेषभूषा, हाव—भाव, शारीरिक लोच, रचना, अभिनय, नाटक और अन्य ललित कलाओं पर हो सकता है। इसमें मूलत दृश्य रूपक सम्मिलित होते हैं।

काव्य / महाकाव्य का उद्भव और विकास

संस्कृत साहित्य में काव्य की उत्पत्ति ऋग्वेद के प्रारंभिक काव्यात्मक सूक्तों में हुई है। उषा सूक्त वैदिक काव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। वेदों के बाद के विकास में, जैसे कि *ब्राह्मण, आरण्यक* और *उपनिषद्* में भी, काव्य काव्यात्मक और संवाद शैली में बिखरा हुआ है। इसलिए, वेदों में काव्य अथवा महाकाव्य बीज रूप में पाया जाता है न कि पूर्णतः अंकुरित रूप में। महाकाव्य के रूप में काव्य वास्तविक अर्थों में वाल्मीकि की रामायण और व्यास के *महाभारत* के साथ शुरू होता है। बाद में यह परम्परा अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि विद्वानों के द्वारा आगे बढ़ाई गयी। इस इकाई में, हम प्रथम दो महाकाव्यों की दार्शनिक दृष्टि पर प्रकाश डालेंगे।

महाकाव्यों के लक्षण

प्राचीन भारतीय विद्वानों, जैसे कि भामह, अग्निपुराण के लेखक, दण्डी, हेमचन्द, विश्वनाथ, ने विस्तार से महाकाव्य के कुछ आधारभूत लक्षणों को निर्धारित करने का प्रयास किया है। उनमें से दण्डी के द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य का वर्णन सर्वाधिक उत्कृष्ट और सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत है। दण्डी अपनी पुस्तक *काव्यदर्श* में कहते हैं कि काव्य का आरम्भ परमानन्द उकेरने (आशीर्वादात्मक), दैवीय के प्रति समर्पण भाव (नमस्कारात्मक) से होना चाहिए और विषय वस्तु का सूचक (वस्तुनिर्देशात्मकता) होना चाहिए। इसकी कथावस्तु पूर्णतः काल्पनिक नहीं होनी चाहिए बल्कि प्राचीन एतिहासिक अभिलेखों अथवा पौराणिक परम्परा पर आधारित होनी चाहिए।

काव्य का नायक उच्च नैतिक गुणों, जैसे कि धर्यवान, प्रज्ञावान, साहसी, दयावान आदि, वाला होना चाहिए और उसे एक उत्कृष्ट वंश से सम्बन्धित होना चाहिए। नायक एक या एक से अधिक हो सकते हैं लेकिन उन्हें या तो समान या फिर उच्च वंश वाला होना चाहिए। इसकी रचना सर्गों जैसे कि विभिन्न खण्डों, में होनी चाहिए। सर्गों की संख्या कम से कम आठ होनी चाहिए और प्रत्येक सर्ग में एक विशिष्ट छंद वाले श्लोकों को प्रयुक्त किया जाना चाहिए। जिनमें प्रयुक्त छंद में हलका रूपांतरण किया जा सकता है, केवल कुछ अंतिम श्लोकों को छोड़ कर।

फिर, महाकाव्य को श्रृंगार रस अथवा वीर रस या फिर शांत रस में से किसी एक को प्रधान रस के रूप में और बाकि दो रसों को गौण रसों के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। इसे चार पुरुषार्थों— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। साथ ही, इसे स्पष्ट रूप से कुछ सामूहिक प्रसंगों जैसे कि नगर, गाँव, समुद्र, पर्वत, सूर्य के उदय और अस्त होना, बाग, जल क्रीडा, विवाह, विच्छेद और अलगाव, संतान उत्पत्ति, युद्ध आदि, का वर्णन करना चाहिए।

उपरोक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि *महाभारत* की रचना केवल साहित्यिक विद्वत्ता का नमूना नहीं है बल्कि इसकी अपनी कुछ विशिष्ट दार्शनिक प्रस्थापनाएं भी हैं। आरम्भ में मंगलाचरण, नैतिक चरित्र का विकास, जीवन का अनेक रूपों में प्रस्फुटन, जीवन के लक्ष्यों

के रूप में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, आदि महाकाव्य में अंतर्निहित कुछ मूलभूत दार्शनिक दृष्टियां हैं। आगे हम महाकाव्यों; रामायण और *महाभारत* का एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने के पश्चात् इन्हीं दार्शनिक अवधारणाओं पर विमर्श करेंगे।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिये।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिये।

1. एपिक और महाकाव्य का अर्थ एवं लक्षण क्या हैं?

....

....

....

....

....

2. महाकाव्य के उद्भव और विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

....

....

....

....

....

3.3 मुख्य मुद्दों / अवधारणाओं पर अनुचिन्तन

संस्कृत साहित्य को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है– वैदिक और लौकिक। वैदिक साहित्य का सम्बन्ध परात्पर दार्शनिक मामलों से है। इसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद् आते हैं। इसे शब्द प्रमाण भी कहा जाता है। लौकिक साहित्य का सम्बन्ध भौतिक जगत की विषयवस्तुओं से है। आम व्यक्ति इन विषयों का प्रतिदिन सामना करता है और यह भौतिक जगत पलट कर उसके दिन प्रतिदिन के निजी एवं सार्वजानिक जीवन को प्रभावित करता है। जहां वैदिक साहित्य के प्रथम कवि ब्रह्मा थे वहीं लौकिक साहित्य के प्रथम कवि संत वाल्मीकि माने जाते हैं। इसलिए वाल्मीकि को आदि कवि कहा जाता है। आदि का अर्थ प्रथम और महान दोनों है।

1. रामायण

वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण का विश्लेषण करने से हमें पता चलता हैं कि उन्हें आदि कवि क्यों माना जाता है। जवाहर लाल नेहरू के अनुसार– महाकाव्य की कहानी हमारे (भारतीय) लोगों के जीवन के विभिन्न रूपों को प्रदर्शित करती है। इसकी प्रशंसा में ए ए मेक्डोनल भी कहते हैं, विश्व साहित्य की उद्भव में लौकिक किसी भी रचना ने लोगों के जीवन और चिंतन को उतने गहरे से प्रभावित नहीं किया जितना रामायण ने किया है।

रामायण की संरचना

तथापि रामायण भारत में इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि इसका व्यापकता से वर्णन करना दोहराव ले कर आता है किन्तु फिर भी इसकी बनावट को संक्षेप में समझना आवश्यक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से रामायण शब्द दो संस्कृत शब्दों से मिलकर बना है– राम और आयण, जिसका अर्थ होता है राम का पथ अथवा स्थान। यह राम के भव्य और शौर्यपूर्ण जीवन की कथा है। रामायण में 24000 श्लोक हैं जो सात अध्यायों, बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, आरण्यककाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुंदरकाण्ड, युद्धकाण्ड, उत्तरकाण्ड, में विभाजित हैं। संक्षेप में इन अध्यायों का सार निम्नलिखित है,

1. बालकाण्ड

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें बताया गया है कि राम और उनके भाई, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म कैसे हुआ, उन्हें गुरुकल (प्राचीन वैदिक विद्यालय) में कैसे भेजा गया और उन्होंने किस प्रकार अनेक कलाओं जैसे कि धनुर्विद्या, राजनीति, नीतिशास्त्र, प्रतिदिन के कर्मकाण्ड आदि का ज्ञान प्राप्त किया।

2. अयोध्याकाण्ड

दूसरे अध्याय का प्रसंग स्थान अयोध्या नगरी है। जब चारों राजकुमार अयोध्या वापिस आते हैं तो राम का राजतिलक होना तय होता है। राम शिव धनुष का भंजन करके सीता से विवाह करते हैं। किन्तु, मन्थरा की ईर्ष्या के कारण राम अपना राजमुकुट त्याग कर अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण के साथ चौदह वर्षों के लिए वन को चले जाते हैं।

3. अरण्यककाण्ड

इसमें राम के वन निर्वासन के आरम्भिक वर्षों का वर्णन है। इस दौरान अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं घटित होती हैं जो राम, सीता और लक्ष्मण की धर्मशीलता और साहस को प्रदर्शित करती हैं। अध्याय की परिणति लंका के राजा रावण द्वारा सीता हरण के साथ होती है।

4. किष्किन्धाकाण्ड

कथा दक्षिण भारत के किष्किन्धा के वनों में आगे बढ़ती है जहाँ राम का मिलन अपने परम भक्त हनुमान, सुग्रीव, और जामवन्त से होता है। सीता को लंका से वापिस लाने की योजना बनायी जाती हैं।

5. सुंदरकाण्ड

इस अध्याय में राम के लंका प्रस्थान का वर्णन है। अपने गीतकाव्य, हनुमान और उसकी सेना की प्रशंसा, और सीता की प्रसन्नता की सुन्दरता का बखान करने के कारण इस अध्याय का नाम सुंदरकाण्ड है। इसका पाठ भारत में रामायण से पृथक भी किया जाता है।

6. युद्धकाण्ड

नामानुरुप, इस अध्याय में राम और रावण की सेना के मध्य हुए भीषण युद्ध का वर्णन है। अंततः रावण मृत्यु को प्राप्त होता है और सीता को स्वतंत्र करा लिया जाता है।

7. उत्तरकाण्ड

अंतिम अध्याय राम के वन से अयोध्या वापिस आने के बाद के जीवन के बारे में है। इसमें सीता का त्याग, दो पुत्र लव और कुश का जन्म, सीता का पवित्र धरती में समा जाना, और राम का स्वर्गारोहण भी सम्मिलित हैं।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

रामायण में प्रस्तुत दार्शनिक दृष्टि

1. रस

रस का अर्थ आनंद का वह भाव है जो किसी महाकाव्य, किसी कलाकृति और साहित्य के पढ़ने, सुनने अथवा देखने से श्रोता के अंदर उत्पन्न होता है। ये मानव आत्मा में भावनाओं के स्रोत होते हैं। रामायण का प्रधान रस करुण रस है। इस महाकाव्य का आरम्भ और अंत एक ही रस से होता है। राम और सीता के मिलन, बिछोह और पुनः मिलन में श्रृंगार रस का प्रस्फुटन होता है। वीर रस का प्रादुर्भाव युद्धकाण्ड में देखने को मिलता है। हास्य रस से सामना सूर्पणखा के प्रसंग में होता है। रौद्र रस रावण, अद्भुत रस हनुमान और शांत रस अनेक संतों के चरित्रों के प्रसंग में प्राप्त होता है।

2. नैतिकता से परिपूर्ण चरित्र

इस महाकाव्य में अनेक चरित्र उत्कर्ष चरित्र का प्रदर्शन करते हैं। लेखक उन चारित्रिक गुणों को सामान्य जनों के मन में डालना चाहता है। राम (मर्यादा पुरुषोत्तम) का चरित्र उच्चतम नैतिक स्तर का है। दशरथ पितृ प्रेम को उच्चतम स्तर पर लेकर जाते हैं। कौशल्या और सुमित्रा धैर्य और वात्सल्य प्रेम का प्रदर्शन करती हैं। सुमंत एक आदर्श मंत्री और मन्थरा आदर्श आस्थावान एवं समर्पित दासी है। हनुमान परम भक्त, लक्ष्मण आदर्श भाई और सीता आदर्श पत्नी हैं।

3. मानव केन्द्रित

रामायण में दैवीय गुणों को मानव में प्रतिस्थापित किया गया है। इस महाकाव्य में देवत्व अयोध्या राज्य के साधारण मानवों में भी प्रतिबिम्बित होती है। यह दिखाता है कि मानव भी दिव्य गुणों को धारण कर सकता है। *रामायण* की यह दृष्टि और किसी संस्कृत साहित्य में दिखाई नहीं देती। यह *रामायण* की इस भावना का मानवीय पक्ष भी है।

4. पुरुषार्थ और आश्रम

पुरुषार्थ भारतीय दर्शन की केन्द्रीय अवधारणा है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से पुरुषार्थ शब्द दो संस्कृत शब्दों; पुरुष और अर्थ से निकला है। जिसका अर्थ है जीवन का उद्देश्य। पुरुषार्थ चार हैं, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। यह महाकाव्य अर्थ और काम को अति महत्व नहीं देता हालांकि इन्हें पूर्णतः नकारता भी नहीं है। *रामायण* में इन दोनों को धर्म के नियंत्रण में रखा गया है। राम, हनुमान, लक्ष्मण, विभीषण के चरित्रों में आलोकित धर्म को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। *रामायण* धर्म की अधर्म पर विजय को दिखाती है। महाकाव्य पुनः मोक्ष के बारे में अधिक बात नहीं करता तथापि इसे निरस्त भी नहीं करता।

आश्रम भी सनातन धर्म के आधारभूत स्तम्भ हैं। हालांकि सभी आश्रमों का महाकाव्य में वर्णन किया गया है किन्तु गृहस्थ आश्रम धर्म, जिसका पालन राम अपने राज्य और पारिवारिक मामलों में करते हैं, पर मुख्य बल दिया गया है।

5. आलंकारिक/रूपकात्मक सुझाव

नैतिक और सौन्दर्यात्मक महत्व के अतिरिक्त प्रारम्भ से ही ऋषि और दार्शनिक *रामायण* कथा के रूपकात्मक अर्थ को बताने का प्रयास करते रहे हैं। उदाहरण के लिए, स्वामी विवेकानन्द इसका वर्णन अद्वैतिक सन्दर्भ में करते हैं और राम को परम ब्रह्म के रूप में देखते हैं। सीता को जीवात्मा के और लंका को मानव शरीर के अर्थ में समझते हैं। लंका नामक शरीर में

बंद जीवात्मा सदैव अपने परम ब्रह्म राम से मिलना चाहती है। इसमें राक्षस अर्थात् चारित्रिक दुर्गुण बाधा उपन्न करते हैं। विभीषण सत्त्व गुण के प्रतिनिधि हैं, रावण रजस् गुणों वाला हमारा अहंकार है, और कुम्भकरण जड़ता लिए तमस् गुण धारक है। हनुमान को जीव के गुरु अथवा जीवनदायी बल, जिसके द्वारा आत्मा ईश्वर को स्मरण करती है और उत्तर में ईश्वर रावण रूपी अहम् को मार कर जीवात्मा को बचाती है, के रूप में देखते हैं।

2. *महाभारत*

रामायण के बाद दूसरा महान महाकाव्य *महाभारत* है। *महाभारत* अक्षरशः एक युद्ध को सूचित करने वाला नाम है जो कुरुक्षेत्र में लगभग 5000 वर्ष पूर्व लड़ा गया था। यदि *रामायण* संस्कृत का आदिकाव्य है तो *महाभारत* भारत का पहला ऐतिहासिक महाकाव्य है। *द इलस्ट्रेटिड एनसाईक्लोपीडिया ऑफ हिंदूइज्म* के अनुसार, *महाभारत* मानव इतिहास का सबसे लम्बा महाकाव्य अथवा ग्रन्थ है। इसमें एक लाख से भी ज्यादा श्लोक और 1.8 मिलियन शब्द हैं। यह *ओडेसी* और *इलियड* दोनों की लम्बाई की तुलना में लगभग दस गुना बड़ा है। डब्लू जे जॉनसन जैसे विद्वानों ने इसकी तुलना *बाइबिल, कुरान,* और होमर तथा शेक्सपियर की साहित्यिक रचनाओं से भी की है। भारतीय परम्परा में इसे पांचवा वेद अथवा विश्वकोश (वैश्विक ज्ञान की निधि) भी कहा जाता है।

महाभारत की संरचना

जैसा की ऊपर बताया गया है, *महाभारत* में एक लाख से ज्यादा श्लोक हैं। इसकी रचना व्यास ने गणेश की सहायता से की थी। इसके अध्यायों में कहानियों के अंदर कहानियां हैं। इसमें अठारह पर्व हैं। फिर पर्व में उपपर्व हैं। सम्पूर्ण पर्व विन्यास निम्नलिखित है,

1. **आदिपर्व**– नामानुसार, यह *महाभारत* की उत्पत्ति, भारत और भृगु की संतानों, का वर्णन करता है।

2. **सभापर्व**– यह पर्व इन्द्रप्रस्थ की सभा, युधिष्ठिर द्वारा सम्पादित यज्ञ, द्यूत क्रीडा, द्रोपदी वस्त्रहरण और पाण्डव वन निर्वासन का वर्णन करता है।

3. **वनपर्व**– यह पांडवों के 12 वर्षो के वनवास का वर्णन करता है।

4. **विराटपर्व**– इसमें पांडवों के विराट राज्य में बिताये गए अज्ञातवास का वर्णन है।

5. **उद्योगपर्व**– उद्योग यानि प्रयास। इसमें कौरव और पाण्डव के मध्य युद्ध को रोकने के लिए किये गए प्रयासों का वर्णन है।

6. **भीष्मपर्व**– इसमें युद्ध प्रारम्भ होने और युद्ध भूमि में पितामह भीष्म के शौर्य और वीरता का प्रदर्शन और तत्पश्चात् उनका बाण शैया पर जाने का वर्णन किया गया है।

7. **द्रोणपर्व**– यह द्रोणाचार्य के युद्ध और उनकी मृत्यु का वर्णन करता है।

8. **कर्णपर्व**– यह कुंती पुत्र कर्ण के वीरतापूर्ण युद्ध कौशल का वर्णन करता है।

9. **शल्यपर्व**– इसमें शल्य के सेनापति बनने के उपरांत युद्ध के अंतिम दिन का वर्णन किया गया है। इसी पर्व में भीम और दुर्योधन के अंतिम गदा युद्ध का भी वर्णन मिलता है।

10. **सुप्तिकपर्व**– इस पर्व में यह बताया गया है कि कैसे अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ने पांडवों की बची हुई सेना की सोते समय हत्या कर दी और पाण्डव पक्ष के केवल सात योद्धा और कौरव पक्ष के तीन योद्धा ही जीवित बच पाए।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

11. **स्त्रीपर्व**— इस पर्व में गांधारी के विलाप और कृष्ण को कौरवों के विनाश को लेकर दिए गए श्राप का वर्णन है।

12. **शांतिपर्व**— यह पर्व भीष्म के अभिषेक को दिखता है।

13. **अनुशासनपर्व**— इसमें भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को दिए गए राजधर्म संबंधी उपदेशों (अनुशासन) का संकलन है।

14. **अश्वमेधिकापर्व**— यह पर्व युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ, अर्जुन की विजय यात्रा और कृष्ण के द्वारा अर्जुन को अनु–*गीता* का ज्ञान देने का वर्णन करता है।

15. **आश्रम्वासिकापर्व**— इसमें धृतराष्ट, गांधारी और कुंती की हिमालय के वनों में मृत्यु का वर्णन है।

16. **मौसलापर्व**— इसमें गांधारी के श्राप के परिणामस्वरूप कृष्ण के यदुवंश का विनाश दिखाया गया है।

17. **महाप्रस्थानिकपर्व**— यह पर्व द्रोपदी सहित पांच पांडवों के हिमालय गमन का वर्णन करता है।

18. **स्वर्गारोहणपर्व**— इसमें पांडवों के स्वर्गारोहण का वर्णन किया गया है।

इन आठारह पर्वों के अतिरिक्त *महाभारत* में हरिवंश नाम से एक अध्याय परिशिष्ट के रूप में संलग्न है। इस अध्याय में मुख्य अठारह अध्यायों में वर्णित नहीं किये गए कृष्ण के जीवन का वर्णन किया गया है।

महाभारत में प्रस्तुत दार्शनिक दृष्टि

महाभारत की रचना मनोरंजन के लिए नहीं बल्कि यह सनातन धर्म के आधारभूत दार्शनिक प्रसंगों को प्रदर्शित करने के लिए की गयी है। इसमें प्रस्तुत कुछ आधारभूत दार्शनिक प्रसंग निम्न हैं:

1. पुरुषार्थ

पुरुषार्थ के अर्थ एवं महत्व पर ऊपर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। *महाभारत* में भी उच्च पुरुषार्थ प्रदर्शित करने वाले चरित्रों का चित्रण किया गया है। उदाहरण के लिए, कर्ण, अर्जुन, कृष्ण, भीम, भीष्म आदि का जीवन उच्च पुरुषार्थ के अनुरूप जिया जाने वाला जीवन है। युधिष्ठिर को धर्मराज के रूप में चित्रित किया गया है। पांडवों के स्वर्गारोहण का प्रसंग जीवन के अंतिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष के महत्व को प्रदर्शित करता है।

2. कर्म सिद्धांत

महाभारत की अनेक कहानियां कर्म सिद्धांत के महत्व और प्रभाव की व्याख्या करती हैं, जिनका सीधा अर्थ है कि जैसा कर्म करोगे वैसा फल मिलेगा। यह कर्म क्षेत्र में कारणता का अनुप्रयोग है। उदाहरणार्थ, दुर्योधन और अन्य कौरव पक्ष के लोग द्रोपदी के वस्त्रहरण जैसे अक्षम्य पापपूर्ण कर्म का फल युद्ध में पराजय और मृत्यु के रूप में भोगते हैं। महान आचार्य जैसे कि भीष्म भी अधर्म का पक्ष लेने का फल भुगतते हैं। कर्म सिद्धांत से ईश्वरीय कृष्ण भी नहीं बच पाते और गांधारी के श्राप के कारण सम्पूर्ण यदुवंश के सर्वनाश का दंश झेलते हैं। अतः, कर्म सिद्धांत *महाभारत* के सम्पूर्ण आख्यान का एक मात्र नियामक तत्व है।

3. *भगवद् गीता* और उसका दर्शन

महाभारत की दार्शनिक दृष्टि का उद्भव भीष्म पर्व में *भगवद्गीता*, युद्ध क्षेत्र में अर्जुन को सम्प्रेषित ईश्वर के गीत, के रूप में प्रतिफलित होता है। इसमें आठ अध्यायों में संकलित 700 श्लोक हैं।

भगवद्गीता वेदान्त परम्परा का एक मुख्य ग्रन्थ है और वेदान्त दर्शन बीजरूप में इसमें पाया जाता है। उदाहारण के लिए, आदि शंकराचार्य ने ज्ञान–मार्ग को इसी से लिया था। वैष्णवी विद्वानों जैसे कि रामानुज, निम्बार्क, मध्व, और वल्लभ ने भक्ति मार्ग को इसी से प्राप्त किया। तिलक ने निष्काम कर्म के महत्व को *गीता* से ही सीखा था। समान रूप से, गाँधी और विवेकानन्द ने समन्वय योग– शुद्ध ज्ञान से प्राप्त कर्म की समरसता का मार्ग और ईश्वर के सम्मुख समर्पण, दर्शन का प्रतिपादन *गीता* दर्शन के आधार पर ही किया है।

वर्ण और आश्रम धर्म की सामाजिक संरचना के दर्शन को सांस्थानिक रूप भगवद् *गीता* ने ही दिया है। जब अर्जुन युद्ध भूमि में युद्ध से विमुख हो सन्यासी जीवन को अपनाने की बात करता है तब कृष्ण उसे युद्ध को त्यागने की अपेक्षा कर्म मार्ग पर चलने की शिक्षा देते हैं। सन्यास मार्ग पर जाना उसके स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) के विपरीत है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि स्वधर्म का पालन करते हुए मर जाना किसी अन्य धर्म के साथ जीवित रहने से श्रेयस्कर है।

अतः, भगवद् *गीता* कृष्ण वाणी के माध्यम से वेद, उपनिषद् और पुराण में प्रतिपादित दर्शन का सारगर्भित रूप प्रदर्शित करती है।

4. आलंकारिक/रूपकात्मक सुझाव

कुछ दार्शनिक जैसे कि महात्मा गाँधी का विचार है कि *महाभारत* का युद्ध ऐतिहासिक घटना नहीं है। यह व्यास के द्वारा प्रस्तुत एक उपमा है जिसके माध्यम से वे हिन्दू धर्म के कुछ निश्चित केन्द्रीय उपदेशों, जैसे कि वर्ण और आश्रम व्यवस्था पर आधारित निष्काम कर्म, को प्रतिपादित करना चाहते थे। गांधी के अनुसार, *महाभारत* प्रत्येक व्यक्ति की मनोदशा को प्रस्तुत करता है। कौरव तामसिक बल और पाण्डव सात्विक बल का प्रतिनिधित्व करते हैं। कृष्ण का रथ मानव अवस्था को प्रदर्शित करता है जहाँ अर्जुन एक जीवात्मा, घोड़े इन्द्रियां और कृष्ण, सारथि परम ब्रह्म हैं। अर्जुन का मानसिक द्वन्द वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति विशेष का मानसिक द्वन्द्व है और सुख का मार्ग अपने स्वधर्म का पालन करना है। यद्यपि, गाँधी हिंसा की निरर्थकता पर बल देते हैं क्योंकि *महाभारत* का युद्ध शांति नहीं बल्कि पश्चाताप और ग्लानि लेकर आता है। किन्तु साथ ही वे कृष्ण की प्रज्ञा के रूप में अवतरित होने की पूजा करते हैं और *भगवद्गीता* की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं। उनके शब्दों में,

"*भगवद्गीता* सबकी माँ है। वह किसी को निराश नहीं करती। उसके दरवाजे हर खटखटाने वाले के लिए खुले हैं। *भगवद्गीता* का सच्चा भक्त कभी निराश नहीं होता। जो *गीता* को जान लेता है वह सदैव चिरस्थायी आनन्द और शांति को प्राप्त कर लेता है। तथापि, यह शांति और आनन्द संदेह कर्ता और दम्भी ज्ञानी को प्राप्त नहीं होता। यह केवल ऐसी विनम्र आत्मा, जो पूर्ण आस्था और एकत्व मन से उसकी पूजा करता है, को ही प्राप्त होता है"।

3.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

महाकाव्यों का दर्शन और भारतीय संस्कृति एक दुसरे से गुंथे हुए हैं। हो सकता है कि अनेक भारतीय जन मानस *महाभारत* और *रामायण* के बारे में न जानते हों लेकिन उनके जीवन के आधारभूत दार्शनिक सिद्धांत मूलतः इन्हीं महाकाव्यों की दार्शनिक शिक्षाओं से संचालित होते हैं। प्रायः *रामायण* जैसे महाकाव्यों की लौकिक भाषाओं में पुनर्रचना की जाती रही है। इसका एक उदाहरण तुलसीदास रचित रामचरितमानस है, जिसने लाखों लोगों के ह्रदय और भावनाओं में गहरी जगह बनायी है। इन दो महाकाव्यों की दार्शनिक दृष्टि और उनके प्रभाव का सामान्य चित्रण निम्नवत् है;

1. महाकाव्य की उत्पत्ति

विद्वानों के अनुसार महाकाव्यों की उत्पत्ति करुण रस से हुई है। उदाहरण के लिए, जब वाल्मीकि ने एक प्रेम में लिप्त चिड़िया की मृत्यु और जीवत बची उसकी साथी चिड़िया को उसके वियोग में विलाप करते हुए देखा तो उन्हें अत्यधिक दया और दुःख का बोध हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने एक श्लोक लिखा। यह श्लोक गीतमय, छन्दमय और काव्यात्मक था। इसके उपरांत ब्रह्मा ने स्वयं उन्हें *रामायण* (प्रथम महाकाव्य) की रचना करने का सुझाव दिया। अतः, एक महान काव्य की उत्पत्ति संताप की अवस्था में ही होती है जैसा कि स्वयं वाल्मीकि जी ने कहा है– शोकः श्लोकत्वमागताः। इस श्लोक– यस्या शोकः श्लोकत्वमागताः में कालिदास भी यह विचार स्वीकार करते हैं।

2. आनन्द की खोज

महाकाव्य का एक अन्य उद्देश्य मानव में कुछ निश्चित रसों को उत्पन्न करना है। महाकाव्य और भारतीय दर्शन स्वभावतः उद्देश्यात्मक हैं जिनका मूल उद्देश्य आध्यात्मिक आनंद और दुःख से स्थायी निवृत्ति है। इस अर्थ में, महाकाव्य प्रधान रस जैसे कि करुण, वात्सल्य, श्रृंगार आदि से आरम्भ होते हैं लेकिन इनका अंत भक्ति से उत्पन्न सर्वोच्च आनन्द भागवदानन्द की प्राप्ति से हो सकता है। इसलिय रस को ब्रह्मानन्द सहोदरः भी कहा जाता है।

3. वर्णाश्रम और पुरुषार्थ

सभी महाकाव्य एक मत से वर्णय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र, और आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, आधारित सामाजिक संरचना को स्वीकार करते हैं। ये सभी सामान्य मानव जीवन के विभिन्न महत्वपूर्ण घटक और अवस्थाएँ हैं। पुनः, इन अवस्थाओं के दौरान मानव को चार पुरुषार्थो, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, के अनुसार जीवन यापन करना होता है। ये तत्व ही भारतीय दर्शन जैसे कि वैशेषिक, मीमांसा, और वेदान्त दर्शन का आध ाार हैं।

4. धर्म और अधर्म

महाकाव्य का एक सन्देश अधर्म पर धर्म की विजय की स्थापना करना है। इसके माध्यम से ये मानव को केवल धर्मानुसार जीवन जीने का सन्देश देते हैं। महाकाव्यों का एक मत से उदघोष है– यताधर्मः ततो जयः अर्थात् जहा धर्म है वहां विजय है। *रामायण* में यह रावण की मृत्यु और राम और विभीषण के राज्यभिषेक के रूप में अवलोकित होता है। समान रूप से, *महाभारत* में, पांडवों की कौरवों पर विजय और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के माध्यम से धर्म स्थापना की गयी है।

5. *भगवद्गीता* और इसका भारतीय दर्शन पर प्रभाव

एक बार *भगवद्गीता* की प्रशंसा करते हुए एक जर्मन दार्शनिक, वेलहेम वोन हम्बोल्ट, ने इसे "सर्वाधिक सुन्दर, संभवतः किसी भी ज्ञात भाषा में उपस्थित एक मात्र सच्चा दार्शनिक काव्य। संभवतः विश्व के सम्मुख प्रस्तुत की जाने योग्य सर्वाधिक गूढ़ और महान कृति" कहा है। यह बात सामान्य रूप से भारतीय दर्शन पर और विशेष रूप से वेदांत दर्शन पर पड़े इसके प्रभाव के बारे में भी सत्य है। *भगवद्गीता* वेदांत की प्रस्थान त्रयी (तीन मुख्य स्रोत) में सम्मिलित है। वेदांत के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय चाहे वह शंकर का केवलाद्वैत, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, या फिर मध्व का द्वैत हो सभी अपने दर्शन की उत्पत्ति का स्रोत *भगवद्गीता* को मानते हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिये।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिये।

1. नैतिक आदर्शों के रूप में *रामायण* के चरित्रों पर टिप्पणी कीजिये।

....

....

....

....

....

2. *भगवद्गीता* के दर्शन का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

....

....

....

....

....

3.5 सारांश

हमने देखा कि कैसे भारतीय काव्य का उच्चतम शिखर बिंदु *रामायण* और *महाभारत* महाकाव्यों के रूप में फलित होता है। हमने यह भी देखा कि कैसे ये दोनों महाकाव्य न केवल अपनी विशालता और काव्यात्मक गुणों के कारण बल्कि अपने दार्शनिक विन्यास के कारण भी भव्य और शौर्यपूर्ण हैं। *रामायण* के नायक अकेले राम हैं वहीं *महाभारत* में अनेक नायक अर्जुन, कृष्ण, युधिष्ठिर आदि, हैं। ये सभी नायक आदर्श रूप में साहसी, प्रज्ञावान, और समर्पण आदि गुणों को धारण करते हैं। अंत में, सदैव धर्म की अधर्म के ऊपर विजय होती है। *रामायण* और *महाभारत* महाकाव्यों का मुख्य महत्व इस अर्थ में है कि यह दर्शन के गहरे, अमूर्त और कभी कभी कड़वे सत्यों को काव्यात्मक, जो कि आम जन के लिए आसानी से समझने और ग्रहण करने योग्य होता है, ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

3.6 कुंजी शब्द

उद्देश्यात्मकता :वस्तुओं की एक विशिष्ट उद्देश्यपरकता के सन्दर्भ में व्याख्या करना।

काव्य : प्राचीन भारत की उच्च संस्कृत साहित्यिक गुणों वाली कविता।

छंद :यह एक प्राचीन भारत में प्रयुक्त होने वाली चतुष्पदी काव्यात्मक परम्परा है।

पुरुषार्थ : इससे तात्पर्य है– मानव के सद्गुण और कर्तव्य। ये चार हैंय धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष।

बिटिफिस्म : यह वह विचार है कि जीवन का परम लक्ष्य उच्चतम आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त करना है।

रस : यह किसी साहित्यिक और कलात्मक कृति से मानव मन में उत्पन्न होने वाला सौन्दर्य अथवा आनन्द का भाव है।

वेदान्त : यह प्रस्थानत्रयीः उपनिषद्, भगवद्*गीता,* और *ब्रह्मसूत्र,* पर आधारित दार्शनिक शिक्षाओं को प्रस्तुत करता है।

महाकाव्य : प्राचीन भारत की उच्च संस्कृत साहित्यिक गुणों वाली भव्य और विशाल कविता।

3.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

कीथ, ए. बी. *ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1993.

गनेरी, जे. *द ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ इंडियन फिलॉसोफी.* देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017.

गुप्तादास, एस. एन. *ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1991.

डायसन, पॉल. *द फिलॉसोफी ऑफ उपनिषद्.* न्यूयॉर्कः कोसिमो क्लासिक्स, 2010.

बुक्क, विलियम. *महाभारत.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2000.

मतिलाल, बी. के. *एथिक्स एंड एपिक्सः द कलेक्टेड एस्सेस ऑफ बिमल कृष्ण मतिलाल* वोल्यूम II, (एडि.) जॉनार्डन गनेरी. देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015.

राधाकृष्णन्, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* सेकंड एडिशन. लन्दनः जॉर्ज एलन एंड अनविन, 1931.

राधाकृष्णन्, एस. द *भगवद्गीता.* नोएडाः हार्पर कोलिन्स पब्लिशर्स इंडिया, 2011.

वाल्मीकि. *रामायण,* इंग्लिश ट्रांसलेशन. गोरखपुरः *गीता* प्रेस, 2002

शर्मा, सी. डी. *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1990.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

दासगुप्त, सुरेन्द्र नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. महाकाव्य के लिए अंग्रेजी में प्रयुक्त शब्द 'एपिक' का उद्भव ग्रीक शब्द 'एपिका' और लैटिन शब्द 'एपिकस' से हुआ है जिनका अर्थ होता है, कथा, कहानी, उपदेशात्मक कथन, कहावत अथवा बड़ी लम्बी कविता। काव्य कवि की रचना है (कविः कर्मा काव्यं) और काव्य को पाठक/दृष्टा के अन्दर रस उत्पन्न करने में सक्षम होना चाहिए। इसमें सौन्दर्यात्मक बोध भी समाहित होना चाहिए। काव्य अपनी भव्यता और विशालता के आधार पर महाकाव्य कहलाता है। दण्डी के अनुसार, काव्य का आरम्भ परमानन्द उकेरने (आशीर्वादात्मक), दैवीय के प्रति समर्पण भाव (नमस्कारात्मक) से होना चाहिए और विषय वस्तु का सूचक (वस्तुनिर्देशात्मकता) होना चाहिए। इसकी कथावस्तु पूर्णतः काल्पनिक नहीं होनी चाहिए बल्कि प्राचीन एतिहासिक अभिलेखों अथवा पुराणिक परम्परा पर आधारित होना चाहिए।

2. संस्कृत साहित्य में काव्य की उत्पत्ति ऋग्वेद के प्रारंभिक काव्यात्मक सूक्तों में हुई है। उषा सूक्त वैदिक काव्य का एक उत्कृष्ट उदहारण है। वेदों के बाद के विकासकाल में, जैसे कि ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् में भी, काव्य काव्यात्मक और संवाद शैली में बिखरा हुआ था। इसलिए, वेदों में काव्य अथवा महाकाव्य बीज रूप में उपस्थित था हालांकि यह अभी वहाँ पूर्णतः अंकुरित नहीं हो पाया था। महाकाव्य के रूप में काव्य वास्तविक अर्थों में वाल्मीकि *रामायण* और व्यास के *महाभारत* के साथ शुरू होता है। बाद में यह परम्परा अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि विद्वानों के द्वारा आगे बढ़ाई गयी।

बोध प्रश्न 2

1. व्युत्पत्ति की दृष्टि से *रामायण* शब्द दो संस्कृत शब्दों से मिलकर बना है– राम और आयण जिसका अर्थ होता है राम का पथ अथवा स्थान। इस महाकाव्य में अनेक चरित्र उत्कृष्ट चरित्र का प्रदर्शन करते हैं। लेखक उन चारित्रिक गुणों को सामान्य जनों के मन में डालना चाहता है। राम (मर्यादा पुरुषोत्तम) का चरित्र उच्चतम नैतिक स्तर का है। दशरथ पितृ प्रेम को उच्चतम स्तर पर लेकर जाते हैं। कौशल्या और सुमित्रा धैर्य और वात्सल्य का प्रदर्शन करती हैं। सुमंत एक आदर्श मंत्री और मन्थरा आदर्श आस्थावान दासी है। हनुमान परम भक्त, लक्षमण आदर्श भाई और सीता आदर्श पत्नी है।

2. *भगवद्गीता महाभारत* के समय के दर्शन को प्रस्तुत करती है। यह ज्ञान, कर्म, और भक्ति योग के दर्शन का प्रतिपादन करती है। आदि शंकराचार्य ने ज्ञान–मार्ग को इसी से लिया था। वैष्णवी विद्वानों जैसे कि रामानुज, निम्बार्क, मध्व, और वल्लभ ने भक्ति मार्ग को इसी से प्राप्त किया। तिलक ने निष्काम कर्म के महत्व को *गीता* से ही सीखा था। यह वर्ण और आश्रम धर्म पर आधारित सामाजिक संरचना के दार्शनिक आधार का भी प्रतिपादन करती है।

इकाई 4 नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन[4]

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 परिचय

4.2 अवलोकन

4.3 मूल मुद्दों/सम्प्रत्ययों पर अन्तर्दृष्टि

4.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

4.5 सारांश

4.6 कुंजी शब्द

4.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में, निम्नलिखित विषयों की समझ विकसित होगी, ऐसी आशा है:

- दर्शन पद का अर्थ
- भारतीय दर्शन में आस्तिक और नास्तिक पदों का अर्थ
- भारतीय दर्शन प्रणालियों/सम्प्रदायों के वर्गीकरण का आधार
- पुरुषार्थ की धारणा
- भारतीय दार्शनिक साहित्य की लेखन–शैली
- आस्तिक दर्शनों का अवलोकन
- नास्तिक दर्शनों का अवलोकन

4.1 परिचय

भारतीय दर्शन परम्परा में, कोई भी दार्शनिक अथवा दार्शनिक प्रणाली किसी न किसी भारतीय दर्शन सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने के कारण विभक्तरूप से नहीं पाया जाता। इस सम्बद्धता का आधार विचारक की दर्शन नाम से ख्यात बोध की किसी विशिष्ट प्रणाली के प्रति झुकाव में पाया जाता है। दर्शन पद की व्युत्पत्ति दृक् धातु से हुई है, जिसका तात्पर्य है, अन्वीक्षण करना, दृष्टि धारण करना अथवा/और विश्व (अन्य) एवं मनुष्य सामान्य

[4] श्री अजय जायसवाल, विद्या वाचस्पति शोधक दर्शन केन्द्र जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, अनुवाद– श्री आशुतोष व्यास, परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र), एसोआईटीएस, इग्नू

अवलोकनात्मक समझ का प्रतिनिधित्व करना। 'विश्व के बारे में दृष्टि/मत' सम्बन्धी दर्शन की यह प्राचीन धारणा ग्रीक एवं जर्मन धारणाओं क्रमशः कोस्मोथेरिआ एवं वेल्टन्स्चौंग से समतुल्य है। भारतीय दर्शन परम्परा दो समानान्तर धाराओं, आस्तिक एवं नास्तिक को रखती है, जो क्रमशः वैदिक एवं अवैदिक ग्रन्थों पर आधारित हैं। आस्तिक दर्शन परम्परा के अन्तर्गत् छह दर्शन (विचार–प्रणालियां); न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त हैं। नास्तिक दर्शन परम्पराके अन्तर्गत् बौद्ध, जैन, और चार्वाक प्रणालियां हैं। प्रस्तुत अध्याय में, हम भारतीय दर्शन प्रणालियों के वर्गीकरण का अर्थ एवं आधार, और दोनों परम्पराओं की प्रमुख दर्शन प्रणालियों की प्रमुख अवधारणाओं के बारे में समझ विकसित करेंगे।

4.2 अवलोकन

लोकरूढ़ अर्थ में, आस्तिक एवं नास्तिक पद क्रमशः ईश्वर–विश्वासी एवं ईश्वर–अविश्वासी का निदर्शन करते हैं। किन्तु, इसके विपरीत, भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में आस्तिक एवं नास्तिक पद समग्रतः भिन्न भाव रखते हैं। शब्दार्थ चिन्तन की दृष्टि से, ये पद किसी के होने (अस्ति) अथवा न होने (न–अस्ति) को निदर्शित करते हैं। यहां, विधेय सत्ता के कर्त्तारूप में वेदों या वैदिक ज्ञान की पवित्रता/अखण्डता है। अतः, आस्तिक का तात्पर्य हुआ वेद की प्राधिकारिता (या प्रामाण्य) को मानना जबकि नास्तिक का तात्पर्य हुआ वेद की प्राधिकारिता को नकारना या उसके प्रति उदासीनता।

अब, इस वर्गीकरण के आधार को समझने के लिए हमें भारतीय चिन्तन धारा(ओं) के मूलभूत अथवा प्राथमिक संकल्पनाओं और पद्धतियों को समझने की आवश्यकता है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन का एक अविभाज्य सिद्धान्त उसका मानव–केन्द्रित होना है। भारतीय चिन्तन धाराओं का उद्देश्य मानव के दुःखों की समाप्ति और उच्चतम सम्भाव्यरूप में सुख या आनन्द की उत्तरोत्तरता प्राप्त करना है। इस भाव से, भारतीय दर्शन को सारतः निराशावादी और उद्देश्यपरक समझा जा सकता है। यह केवल प्रेरणा का एवं विविध मार्गों का स्रोत है।

वेद, जिसकी व्युत्पत्ति विद् धातु से हुई है, का तात्पर्य है, प्रज्ञा/बोध के प्रकाश का ज्ञान। वेद भारतीय दर्शन के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और उच्चतम पवित्रता वाले ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे ऋषि नाम से अभिहित दृष्टाओं को ईश्वर द्वारा उद्बोधित किये गये हैं। अपितु, कुछ सम्प्रदाय वेद को अपौरुषेय मानते हैं: जिसका तात्पर्य है उनका कोई कर्त्ता नहीं है और वे शुद्धतम ज्ञान (वाले) और उच्चतम उपासना/उपास्य (के) ग्रन्थ हैं। किसी भी सन्दर्भ में, जिनका यह विश्वास है कि वेद परमसत्य को धारण करने वाले और/या इसीलिए मनुष्य को सर्वदा के लिए दुःख से निवृत्त करने की सामर्थ्य वाले हैं, आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। परम्परागत् रूप से, आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत् छह प्रणालियां; न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदान्त हैं। यद्यपि ये विरोधी मतों और पद्धतियों को धारण करते हैं, फिर भी एकसमान रूप से वेद की प्राधिकारिता को स्वीकारते हैं।

वहीं, वैदिक ज्ञान प्रणाली से दूरी रखने वाले नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। इनमें भी सूक्ष्म, अपितु महत्वपूर्ण अन्तर है। एक वर्ग में जैन और बौद्ध दर्शन को रखा जा सकता है। उनका भी यह तो मानना है कि परमसत्य या निर्वाण (या कैवल्य या मोक्ष) प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन इसके लिए वेदों का अनुसरण अपरिहार्य शर्त नहीं है। इसका सम्भावित कारण या तो वेदों का निष्फल और दूषित पद/चरण/अवस्था हो सकता है या फिर वेदों के प्रति झुकाव के बिना मानव की समस्याओं के दार्शनिकीकरण एवं समाधान के लिए नये प्रारम्भ का

उत्साह। अतः, हम पाते हैं कि प्रारम्भ में जैन और बौद्ध दर्शन वेदों के प्रति अधिक या कम उदासीन थे और अपनी चिन्ताओं को सत्य और आनन्द की खोज तक सीमित किए हुए थे। तदनुसार, बौद्ध और जैन के आदर्श क्रमशः निर्वाण और कैवल्य के रूप में विकसित हुये।

नास्तिक दर्शन का अन्य वर्ग चार्वाक के अपवादित मामले को रखता है। उन्होंने पूरी तरह से वेदों की प्राधिकारिता को नकार दिया। वे जैन और बौद्धों के भी आलोचक थे। चार्वाक दर्शन का झुकाव किसी भी तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पनाओं की ओर नहीं था। उनके अनुसार, कोई मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य नहीं होता है। पुनर्जन्म और कर्म–सिद्धान्त की असम्भावना है, अतः जीवन का एकमात्र लक्ष्य सुख की अधिकतम प्राप्ति है। उनके अनुसार, काम (सुख) परमपुरुषार्थ (मानव द्वारा प्राप्तव्य उच्चतम) है। सत्तामीमांसा की दृष्टि से, चार्वाक भौतिकवादी दर्शन है, जो ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, रीति–रिवाजों के अस्तित्व, इत्यादि को नकारता है। इस प्रकार, हम पाते हैं कि समस्त दर्शनों में अधिभावी सिद्धान्त समान है, मानव दुःख की समाप्ति या परम आनन्द या सुख की प्राप्ति। तो भी, वे विशिष्ट ग्रन्थों के प्रति झुकाव और सत्य एवं सुख की अपनी खोज के सन्दर्भ में मतभेद रखते हैं। यह बिन्दु अगले खण्ड में समस्त प्रमुख दर्शनों के मूल सम्प्रत्ययों की संक्षिप्त व्याख्या के साथ आगे व्याख्यायित किया जायेगा।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदान किए गये अवकाश का उपयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. आस्तिक और नास्तिक दर्शन से क्या तात्पर्य है?

....

....

....

....

....

2. नास्तिक दर्शन परम्परा में, चार्वाक दर्शन जैन दर्शन एवं बौद्ध दर्शन से किस प्रकार भिन्न हैं?

....

....

....

....

....

4.3 मूलभूत मुद्दों / सम्प्रत्ययों पर अन्तर्दृष्टि

हमने देखा कि कैसे भारत में कोई भी दार्शनिक विभक्तरूप में प्रकट नहीं होता। यह दर्शन के रूप में प्रसिद्ध निश्चित समुच्चय की दार्शनिक अभिरुचियों के प्रति झुकाव रखता है।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

आस्तिक और नास्तिक भारतीय दर्शनों के दो परम्परागत वर्गीकरण हैं। हमने इस वर्गीकरण के आधार यानि वेदों की प्राधिकारिता पर भी विचार किया। परन्तु इस वर्गीकरण की समानता और असमानता पर गहराई से विचार आवश्यक है, जो निम्नवत् है;

अ – पुरुषार्थ की धारणा–

आस्तिक और नास्तिक वर्गीकरण को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए पुरुषार्थ की प्राचीन दार्शनिक विचार को समझना आवश्यक है। पुरुषार्थ, संस्कृत पदों पुरुष और अर्थ से मिलकर बना है, जिसका तात्पर्य है पुरुष (मनुष्य) का लक्ष्य। यह मनुष्य की उद्देश्यपरक व्याख्या है। परम्परागत रूप से, वैदिक दर्शन के अनुसार, चार पुरुषार्थ हैं, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष, जिनका तात्पर्य क्रमशः है, उचित कर्म, सम्पदा, इन्द्रिय–तुष्टि, और परमपद प्राप्ति। नास्तिक दर्शनों के परस्पर वर्गीकरण का आधार पुरुषार्थ के विचार के बारे में उनके विरोधी मत हैं।

आ – आस्तिक दर्शनों की समानताएं एवम् असमानताएं–

सभी आस्तिक दर्शन वेदों की प्राधिकारिता स्वीकार करते हैं। ये सभी चारों पुरुषार्थों को स्वीकारते हैं और मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानते हैं। किन्तु, ये मोक्ष के लिए भिन्न–भिन्न पद (अर्थ सहित), अपवर्ग, निःश्रेयस, समाधि, तुरीयावस्था इत्यादि का प्रयोग करते हैं।

सभी आस्तिक दर्शनों में कई मामलों में भेद भी हैं। जैसाकि पूर्व में उद्धृत किया गया है कि ये सभी परम पुरुषार्थ के बारे में भिन्न–भिन्न नाम सहित अलग–अलग सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, और की दृष्टि से वैदिक ज्ञान और वेदों के विवेचन में ये भिन्न–भिन्न मत रखते हैं। ये दर्शन अपनी विषय–वस्तु के आधार पर भी असमान हैं। उदाहरणतः, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, और मीमांसा क्रमशः ब्रह्माण्ड–विद्या, मनोवैज्ञानिक, तार्किक (अनुमान), भौतिकीय, और वैदिक विधि–निषेध (भाषा की व्याख्या के नियम) में विशिष्टता रखते हैं।

इ – नास्तिक दर्शनों में समानताएं एवं असमानताएं–

सभी नास्तिक दर्शन वेदों के प्रति किसी भी तरह का झुकाव न रखने के कारण समान हैं। किन्तु, वेदों की आलोचना की मात्रा की दृष्टि से भेद रखते हैं। जैन और बौद्ध दर्शन, वेदों का आंशिकरूप से निषेध करते हैं, इस प्रकार ये वेदों की रचनात्मक या कोमल आलोचना वाले हैं। चार्वाक, दर्शन सिरे से कठोरतापूर्वक वेदों की प्राधिकारिता और उसकी समग्र दृष्टि को नकार देता है। चार्वाक दर्शन केवल दो पुरुषार्थों अर्थ और काम को मानव–अस्तित्व के परम लक्ष्य घोषित करता है। जैन और बौद्धमत, पराभौतिक आधार रखते हैं। जीवन के प्रति सुखवादी अभिरुचि के विपरीत, ये निवृत्ति के तत्त्व अपने दर्शन में रखते हैं। तदनुसार, हम कह सकते हैं कि जैनमत और बौद्धमत के लिए परम पुरुषार्थ केवल धर्म और मोक्ष हैं।

ई – भारतीय दार्शनिक साहित्य–

सभी आस्तिक और नास्तिक (चार्वाक को छोड़कर) दर्शनों ने विपुल दार्शनिक साहित्य विकसित किया, जिसे दो वर्गों में बांटा जा सकता है, सूत्र और व्याख्या। सूत्र शैली कहने का वह ढंग है, जिसमें सूक्त (कथन) लघु, सघन और, गर्भित सत्य–सम्बन्धी कथन होते हैं। इन सभी दर्शनों में उनके प्रतिपादकों द्वारा प्रतिपादित एक या कुछ सूत्र शैली के ग्रन्थ हैं। गर्भित प्रकृति के कारण, ये भांति–भांति के विवेचन के लिए उपस्थित हैं। अतः, दूसरी

साहित्यिक–प्रवृत्ति व्याख्या–शैली कहलाती है, जिसका तात्पर्य टीका–पद्धति से है, जो सूत्र साहित्य पर व्याख्यापरक भाष्य के रूप में है। तकनीकिरूप से ये ग्रन्थ भाष्य, टीका, तात्पर्य टीका, इत्यादि कहलाते हैं। समग्ररूप से, वे भारतीय दार्शनिक साहित्य की विपुल निधि की संरचना करते हैं।

उ – षड् दर्शनों की आवश्यकता–

षड् दर्शन वैदिक परम्परा पर आधारित छह सम्प्रदाय हैं। यह समझना महत्वपूर्ण है कि वे वैदिक मूल से कैसे और किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुए। वेदों के बारे में माना जाता है कि वेद ज्ञान की परमावस्था को निबद्ध करते हैं। वेदराशि के चार भाग हैं, मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद् जिनका तात्पर्य क्रमशः यज्ञ में स्तुतिरूप, विधि–निषेध, वन में रहकर प्राप्त प्रज्ञा, और दार्शनिक प्रज्ञा है। उनकी भाषा (प्राचीन संस्कृत) आध्यात्मिक और नैतिक बल वाले पुरुष की पहुंच में है। वेदों की सूक्ष्मता को समझने के लिए छह वेदांगों में प्रवीणता आवश्यक है। ये छह वेदांग शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष, और कल्प हैं, जिनका क्रमशः तात्पर्य स्वर–विज्ञान, भाषागत नियम, लेखन–शैली–विज्ञान, धातु–प्रत्यय विज्ञान, ज्योतिर्विद्या, और वैदिक विधि–निषेध है। वैदिक ज्ञान की जटिल पूर्ववर्तों ने आमजन के लिए वेदों की पहुंच को अशक्य बना दिया। अतः, भारतीय उपमहाद्वीप के भिन्न–भिन्न भागों में समय–समय पर, अनेकों साक्षात्कृत आत्माओं ने वैदिक ज्ञान या प्रज्ञा को दर्शन–प्रणालियों के रूप में निबद्ध किया, जैसे सांख्य, योग, वेदान्त, इत्यादि। इस प्रकार षड् दर्शनों, जिन्हें वेदों का उपांग भी कहते हैं, अस्तित्व में आये।

ऊ – छह आस्तिक दर्शन

छह आस्तिक दर्शनों के आधारभूत दार्शनिक सम्प्रत्ययों, उनके प्रतिपादकों, और मूल ग्रन्थों के बारे में सामान्य जानकारी निम्नलिखित है;

1 – सांख्य–

सांख्य, सम्भवतया, आस्तिक दर्शनों में सबसे प्राचीन है। इसका प्रतिपादन कपिल ने लगभग 500 ईसा पूर्व की थी। *सांख्य सूत्र* सांख्य दर्शन का सूत्र शैली में लिखा आधारभूत ग्रन्थ है। सांख्य का लक्ष्य दो परम तत्वों, प्रकृति और पुरुष, के ज्ञान से मनुष्य को दुःखों से मुक्त करना है। प्रकृति और पुरुष क्रमशः अचेतन और चेतन तत्वों का निदर्शन करते हैं। सांख्य द्वैतवादी है और वस्तुवादी या सत् (वास्तविक) कारणता के सिद्धान्त का अनुसरण करता है, जिसे सत्कार्यवाद कहते हैं। इसका आशय है कि कार्य कारण में पूर्वतः (अस्तित्व में आने से पहले) विद्यमान है। अतः, सम्पूर्ण उद्विकास (लिंग) प्रकृति (*सत्त्व, रजस्, तमस्* रूपिणी) और पुरुष के संयोग का परिणाम है और लय एवं पुरुष के प्रकृति से भिन्न होने के ज्ञान (विवेक) की अन्तर्प्रज्ञा (अगोचर अनुभूति) मोक्ष है।

2 – योग–

योग को मनो–दर्शन और मानवीय मनोविज्ञान के उच्चतर अवस्थाओं की चर्चा में विशिष्टता सहित सांख्य दर्शन का व्यावहारिक पक्ष कहा जा सकता है। योग दर्शन का सूत्रपात पतंजलि ने अपने योगसूत्र में किया है। योग दर्शन का लक्ष्य मानवीय मन के विभिन्न रूपान्तरणों का नियंत्रण (या नियमन) एवं शान्तचित्तता है। अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु योग दर्शन ने नैतिक नियमन (यम और नियम) से प्रारम्भ करते हुए समाधि की अवस्था पर समाप्त होने वाले अष्टांग मार्ग को विकसित किया।

3 — न्याय—

न्याय दर्शन का सूत्रपात गौतम के ग्रन्थ *न्याय* सूत्र से माना जाता है। यह तर्कविद्या (अन्वीक्षा) में वैशिष्ट्य रखता है। किन्तु, न्याय दर्शन का दावा है कि सोलह पदार्थों, यथा–प्रमाण, प्रमेय, संशय, तर्क इत्यादि के ज्ञान से परम आनन्द (अपवर्ग) की प्राप्ति हो जायेगी। शताब्दियों से न्याय दर्शन ने तर्कविद्या को विकसित किया है।

4 — वैशेषिक—

वैशेषिक दर्शन कणाद द्वारा प्रवर्तित किया गया। इसका आधारभूत ग्रन्थ *वैशेषिक सूत्र* है। न्याय के समान, इसका भी लक्ष्य अपवर्ग प्राप्ति है। किन्तु, इसका वैशिष्ट्य भौतिक या पदार्थ विद्या और विधेय–चर्चा में है। यह न्याय दर्शन के सोलह पदार्थों में सात पदार्थ और जोड़ देता है। वैशेषिक दर्शन अणुवाद और बहुलवादी वस्तुवाद का समर्थक है।

5 — मीमांसा—

मीमांसा जैमिनि द्वारा अपने ग्रन्थ *जैमिनि* सूत्र में प्रतिपादित किया गया है। मीमांसा अर्थविद्या है, और इस सन्दर्भ में यह वैदिक वाक्यों और विधि–निषेध के विवेचन के नियमों की चर्चा करता है। इसका मुख्य लक्ष्य मानवीय जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में वैदिक रीति–रिवाजों (कर्मकाण्ड) का अनुसरण करना है। इसका प्रतिपाद्य विषय मन्त्र और विधि–निषेध रखने वाले संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इसलिए, यह दर्शन पूर्व मीमांसा भी कहलाता है। मीमांसा दर्शन के दो प्रमुख दार्शनिक कुमारिल और प्रभाकर थे।

6 — वेदान्त—

वेदान्त अरण्यों (जंगलों) में रहने वाले ऋषियों के आत्मज्ञान पर आधारित उपनिषदों की शिक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है। वेदान्त दर्शन के दो अन्य महान स्रोत भगवद *गीता* और *ब्रह्मसूत्र* हैं। *ब्रह्मसूत्र* की रचना बादरायण व्यास ने की। *उपनिषद*, *गीता*, और *ब्रह्मसूत्र* मिलकर प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं। वेदान्त आत्मा और ब्रह्म की ऐक्यता की अनुभूति की शिक्षा कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों, दृष्टान्ततः, चेतना की तीन अवस्थाएं, त्रिशरीर का सिद्धान्त, पंचकोष सिद्धान्त इत्यादि की सहायता से, देता है। प्रस्थात्रयी पर भाष्य के माध्यम से कई दार्शनिक सम्प्रदायों का उद्भव हुआ, यथा अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि। वेदान्त के विभिन्न प्रमुख सम्प्रदायों का सारपूर्ण विवरण पाठ के अन्त में प्रस्तुत किया गया है।

ए — तीन नास्तिक दर्शन —

1 — जैन दर्शन—

जैन दर्शन का प्रारम्भ तीर्थंकर नाम से प्रसिद्ध मुक्त प्रबुद्धों ने किया। वर्धमान महावीर (5वीं सदी इसा पूर्व) 24वें और अन्तिम तीर्थंकर थे और ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। *आगम* सूत्र जैन मत के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद (सापेक्ष दृष्टियों का सिद्धान्त), सप्तभंगीनय (सात निर्णयों का सिद्धान्त), पुदगल (भौतिक) कर्मों के द्वारा बन्धन आदि। जैन दर्शन कैवल्य का पथ *सम्यक् ज्ञान*, *सम्यक् चरित्र*, और *सम्यक् दर्शन*, जिनका तात्पर्य क्रमशः सही ज्ञान, सही आचरण, और सही दृष्टि है, में मानता है।

2 — बौद्ध दर्शन—

बौद्ध दर्शन गौतम बुद्ध द्वारा 5वीं सदी ईसापूर्व में स्थापित किया गया था। *त्रिपिटक* और *धम्मपद* बौद्ध दर्शन के कुछ प्राचीन ग्रन्थ हैं। बौद्ध दर्शन उपायकौशल्य (स्थिति अवस्था

भेद से उपाय भेद) और मानव–केन्द्रित दर्शन है जो तत्त्वमीमांसीय अमूर्त अवधारणाओं की इस सम्बन्ध में व्यर्थता बताता है। बौद्ध दर्शन का सार इसके द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्यों में छिपा है–

1–दुःख है, 2– दुःख का कारण (दुःख समुदय) है, 3– दुःख का निवारण है, कारण की समाप्ति पर कार्य की समाप्ति हो जाती है, अतः निर्वाण की अवस्था है, 4– निवारण का मार्ग है। निवारण का मार्ग नैतिक निवृत्तिमार्ग है और समस्त इच्छाओं और वेदनाओं से निवृत्ति है। बौद्ध दर्शन के अन्य स्तम्भ अहिंसा, करुणा, और ब्रह्मचर्य का अभ्यास है। बौद्ध दर्शन में तीन प्रमुख मत वस्तुवादी सर्वास्तिवाद, परमवादी माध्यमिक, और प्रत्ययवादी विज्ञानवाद हैं।

3 – चार्वाक –

चार्वाक अहं सुखवादी लोक–दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है। यह भौतिकवादी दर्शन है। इस दर्शन का प्रतिपादक बृहस्पति या चार्वाक कहे जाते हैं। प्राचीन ग्रन्थ *बृहस्पति सूत्र* और जयराशिभट्टकृत् *तत्त्वोप्लवसिंह* हैं। इसके मुख्य सिद्धान्त भौतिकवाद, प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, स्वर्ग, नर्क, पुनर्जन्म का न होना, इत्यादि हैं। चार्वाक मोक्ष की अवधारणा का खण्डन करता है और इस कारण से वैदिक आस्तिक और दोनों नास्तिक दर्शनों से मूलतः मतभेद रखता है।

4.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

इन दर्शनों के उद्भव और विस्तार के बारे में कोई निश्चित अन्तिम कथन नहीं है। किन्तु, सम्भवतः यह कह सकते हैं कि भारत में जो भी दर्शन या दार्शनिक सम्प्रदाय अस्तित्व में आया इन्हीं दर्शनों के माध्यम से आया। दृष्टान्ततः, विवेकानन्द और अरविन्द घोष आस्तिक दर्शन की वेदान्त परम्परा से सम्बन्धित हैं। आधुनिक इस्कॉन वेदान्त के सम्प्रदाय अचिन्त्य भेदाभेद का परिणाम कहा जा सकता है। यह लोकप्रिय मत है कि शायद ही कोई भारतीय दर्शन या दार्शनिक आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की विविधता से विभक्त रूप में अस्तित्व में आया हो।

यदि यह वर्गीकरण तथ्यात्मक है, तब हमें इस वर्गीकरण के लाभ और हानियों को समझना चाहिए। भारतीय दर्शन के अध्ययन में इसके कुछ विशिष्ट लाभ और हानि हैं। विविधता, निर्वचन की बहुलता, मोक्ष प्राप्ति के बहुल उपायों, लचीलापन, विभिन्न विशेषज्ञताओं, जीवनशैली का पूर्व–उपलब्ध आत्मसातीकरण इत्यादि रूपों में लाभ हैं। हानियां, विरोधी और असंगत मतों के परिणामस्वरूप उत्पन्न कड़ुवाहट और विरोध, प्राधिकारित्व, नवीनता का अभाव, अनम्यता (कठोरता) के रूप में, आती हैं। इन बाधाओं के बावजूद, भारतीय दर्शन अपने समग्र रूप में प्रत्येक बौद्धिक क्षेत्र में प्रभावोत्पादक रहा है। इस वर्गीकरण के आधार पर, कोई इच्छुक विद्वान सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, और वेदान्त के क्रमशः, ब्रह्माण्ड–विद्या, मनोविज्ञान, तार्किक प्रणाली, निर्वचन के नियम, और आत्मविद्या जैसे भारतीय पहलुओं को आसानी से समझ सकता है। जैन और बौद्ध दर्शन भी व्यापक और अवलोकनात्मक विश्व–दृष्टि प्रस्तुत करते हैं।

कुछ विद्वान मानते हैं कि यह वर्गीकरण मनुस्मृति के "नास्तिको वेदनिन्दकः" कथन से प्रभावित है अथवा प्रारम्भ हुआ है। किन्तु वर्तमान के लिए हमारा चिंतनीय विषय ऐतिहासिक तथ्य और निर्वचन न होकर दार्शनिक निर्वचन है। आस्तिक और नास्तिक का वर्गीकरण सर्वप्रथम 12वीं सदी के दार्शनिक माधवाचार्य के ग्रन्थ *सर्वदर्शनसंग्रह* में आता है।

कई आधुनिक विद्वान उनके वर्गीकरण में ऐच्छिकता देखते हैं। कई विद्वान इस तरह के वर्गीकरण को उपयोगी और सर्वसमावेशी न होने के आधार पर चुनौती देते हैं।

आस्तिक–नास्तिक का विभाजन सर्वस्वीकार्य नहीं है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि यह वर्गीकरण भारतीय दर्शन के इतिहास सम्बन्धी अध्ययनों/लेखनियों का परिणाम है और उन लेखनियों ने इस वर्गीकरण को स्थापित करने के लिए गहन सर्वेक्षण नहीं किया है। उनके दावे सतही हैं। न केवल आधुनिक दार्शनिक दया कृष्ण की लेखनी में अपितु परम्परा में भी हम इस विभाजन के विरुद्ध मत पाते हैं। उदाहरणार्थ, सांख्य दर्शन अवैदिक दर्शन कहा जाता है, जबकि यह विभाजन सांख्य को वैदिक परम्परा में स्वीकारता है। सांख्य दर्शन को अवैदिक कहने का एक कारण सांख्य का तर्कों को आधाररूप में स्वीकारना है। सांख्य कहता है कि पुरुष अनेक हैं, इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए, सांख्य तर्क प्रस्तुत करता है कि एक के जन्म से सभी का जन्म, एक की मृत्यु से सभी की मृत्यु नहीं होती है, इत्यादि। यह दर्शाता है कि पुरुष अनेक हैं न कि एक। समानरूप से हम नास्तिक कहे जाने वाले बौद्ध दर्शन का उदाहरण ले सकते हैं। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति की परम्परा के प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं कि हमें (बौद्धों को) नास्तिक नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि हम परलोक (स्वर्गादि) में विश्वास रखते हैं। इससे यह स्वीकारा जा सकता है कि दार्शनिक परम्परा में नास्तिक शब्द वेद से ही सम्बन्धित नहीं है। आस्तिक–नास्तिक के अन्य अर्थ भी उपस्थित थे, जैसे परलोक, ईश्वर, आत्मा की सत्ता में विश्वास–अविश्वास।

दार्शनिक दया कृष्ण, इसे स्वीकारते हुए, पाते हैं कि आस्तिक कहे जाने वाले दर्शन भी वेदों की प्राधिकारिता और प्रामाण्यता के बारे में विभिन्न मत रखते हैं। जैसे कि न्याय दर्शन अपने दार्शनिक आधार के लिए साक्ष्यरूप में वेद–वाक्यों को संदर्भित नहीं करता है। वैशेषिक दर्शन शब्द को प्रमाण नहीं मानता है। मीमांसा वेदों में विधि–निषेध को स्वीकारता है और यज्ञ कैसे सम्पादित किया जाए, एक वस्तु की अनुपस्थिति में, कौन सी दूसरी वस्तु वेद स्वीकृत है आदि के लिए निर्वचन के नियमों को स्थापित करता है औ इसके साथ–साथ वेदों की अपौरुषेयता (किसी के द्वारा न लिखा जाना) को सिद्ध करता है। दूसरी तरफ, वेदान्त (विशेषरूप से शांकरवेदान्त) वेदों के अन्तिम भाग को ही अपने दर्शन के साधन रूप में स्वीकारता है और उपनिषदों के कथनों को अपने दार्शनिक विश्वासों को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करता है। इनके अलावा, आस्तिक दर्शनों में वेदों के निर्वचन में कोई अन्तर नहीं है, वास्तव में, उनमें से अधिकतर ने वेदों की व्याख्या का कोई प्रयास नहीं किया है। हम पाते हैं कि वेदान्त दर्शनों को अलावा शायद ही किसी दर्शन ने अपने सिद्धान्त को वेदों के निर्वचन पर आधारित किया हो।

इस प्रकार, इस वर्गीकरण की उपयोगिता को स्वीकारते हुए, हम इस वर्गीकरण की समस्याओं अथवा इस पर आपत्तियों को भी ध्यान में रखेंगे।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त अवकाश का उपयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर की जांच कीजिए।

1. भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों की दो लेखन–शैलियों पर टिप्पणी करें।

....

....

....

....

....

2. उपनिषद् वेदान्त के स्रोत हैं, संक्षेप में वर्णन करें।

....

....

....

....

....

4.5 सारांश

हमने देखा कि कैसे भारतीय दर्शन–सम्प्रदाय प्रयोजनवादी और मानव–केन्द्रित है। उस प्रयोजनवादी व्याख्या पर आधारित है जिसमें मानव जीवन का लक्ष्य दुःख की समाप्ति और आनन्द की प्राप्ति माना जाता है। चार्वाक विशुद्धरूप से सुखवादी नैतिक जीवन का पक्ष लेता है, वहीं अन्य दर्शन स्थूल भौतिकवाद से पारगमन और आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति का पक्ष लेते हैं। अपने इस लक्ष्य प्राप्ति में, आस्तिक दर्शन वैदिक मार्ग का अनुसरण करते हैं, वहीं बौद्ध और जैन दर्शन वेद से स्वतन्त्र रूप से विकसित होते हैं।

अग्रांकित सारणियां भिन्न–भिन्न दर्शनों की विषय–वस्तु, मुख्य ग्रन्थ, और मुख्य दर्शन सम्प्रदायों की संक्षेप में प्रस्तुतियां हैं।

भारतीय दर्शन

सारणी 1

आस्तिक दर्शन	नास्तिक दर्शन
सांख्य	चार्वाक
योग	जैन दर्शन
न्याय	बौद्ध दर्शन
वैशेषिक	
मीमांसा	
वेदान्त	

सारणी 2 (आस्तिक दर्शन)

दर्शन	प्रतिपादक	कुंजी ग्रन्थ
सांख्य	कपिल	*सांख्य सूत्र*
न्याय	गौतम अक्षपाद	*न्याय सूत्र*
वैशेषिक (औलुक्य दर्शन)	कणाद	*वैशेषिक सूत्र*
योग	पतंजलि	*योग सूत्र*
मीमांसा	जैमिनी	*जैमिनी सूत्र*
वेदान्त/उत्तर मीमांसा	औपनिषदिक ऋषि और बादरायण	*उपनिषद्, भगवत् गीता,* और *बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र*

सारणी 3 (वेदान्त दर्शन के सम्प्रदाय)

सम्प्रदाय	संस्थापक	ग्रन्थ
अद्वैत	शंकर	*शारीरिक भाष्य*
विशिष्टाद्वैत	श्रामानुज	*श्रीभाष्य*
द्वैत	मध्व	*पूर्णप्रज्ञ भाष्य*
द्वैताद्वैत	निम्बार्क	*वेदान्त पारिजात सौरभ*
शुद्धाद्वैत	वल्लभ	*अणु भाष्य*
अचिन्त्य भेदाभेद	चैतन्य महाप्रभु	*गोविन्द भाष्य*

सारणी 4 (बौद्ध दर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय)

सम्प्रदाय	दार्शनिक मत	ग्रन्थ
सर्वास्तिवाद / वैभाषिक	वस्तुवाद / वस्तुवादवत (बाह्य जगत को जानने का साधन प्रत्यक्ष है; बाह्यप्रत्यक्षवाद)	*अभिधम्म कोश*
सौतान्त्रिक / सूत्रवादी	वस्तुवाद (बाह्य जगत अनुमान से जाना जाता है; बाह्य अनुमेयवाद)	*कल्पनामण्डिटीका, अभिधम्मकोशकारिका*
माध्यमिक	शून्यवाद	*मूलमाध्यमिक कारिका, लंकावतार सूत्र, ह्रदय सूत्र आदि*
योगाचार विज्ञानवाद	प्रत्ययवाद	*योगाचारभूमिशास्त्र, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि* आदि

4.6 कुंजी शब्द

पूर्णवाद : सर्वसमावेशी परम सत्य में विश्वास, यथा ब्रह्म, शून्य, शिव आदि।

आस्तिक : किसी की सत्ता में विश्वास। वर्तमान सन्दर्भ में वेदों की प्राधिकारिता को मानना।

आत्मा : चेतना की अमूर्त और अगोचर अवस्था। ईश्वर या निर्गुण ब्रह्म के समान। पूर्ण शान्ति की अवस्था।

सुखवाद : जीवन का उद्देश्य अधिकतम सुख है, मानने वाला सिद्धान्त।

प्रत्ययवाद : संसार की सत्ता का चेतना या प्रत्यय / मन में अपचयन करने वाला सिद्धान्त।

मोक्ष : मानव–जीवन का परम / अन्तिम लक्ष्य।

नास्तिक : किसी की सत्ता न मानने वाला। वर्तमान सन्दर्भ में, वेदों की प्राधिकारिता को न मानना।

शून्यवाद : समस्त वैचारिक कोटियों और भाषायी सम्प्रत्ययों का निषेध।

पंचकोश	:	मानव अस्तित्व/व्यक्तित्व के पांच भाग, जैसाकि तैत्तिरीय एवं अन्य उपनिषदों में वर्णित है। ये हैं, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय कोष।
मुख्य उपनिषद्	:	वेदान्त दर्शन के मुख्य उपनिषद्। शंकराचार्य ने इन मुख्य उपनिषदों पर भाष्य लिखा। सामान्य तौर पर ये दस हैं, *ईश (यजुर्वेद* से सम्बन्धित), *केन* (*सामवेद* से सम्बन्धित), *कठ* (*यजुर्वेद*), *प्रश्न* (*अथर्ववेद*), *मुण्डक* (*अथर्ववेद*), *माण्डूक्य* (*अथर्ववेद*), *तैत्तिरीय* (*यजुर्वेद*), *ऐतेरेय* (*ऋग्वेद*), *छान्दोग्य* (*सामवेद*), और *बृहदारण्यक* (यजुर्वेद)।
पुरुषार्थ	:	मनुष्य के गुण और कर्त्तव्य। ये चार हैं– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।
वस्तुवाद	:	बाह्य जगत की मन से भिन्न सत्ता मानने वाला सिद्धान्त।
शरीर त्रय	:	उपनिषदों में वर्णित तीन शरीर, स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीर।
प्रयोजनशास्त्र	:	वस्तु की व्याख्या उद्देश्य के आधार पर करना।
अगोचरवाद	:	तत्त्वमीमांसीय क्षेत्र के अस्तित्व और उसके अनुभव में विश्वास करने वाला सिद्धान्त।
वेदान्त	:	प्रस्थानत्रय: *उपनिषद्*, *भगवद्गीता*, *ब्रह्मसूत्र* पर आधारित दर्शन।

4.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

गनेरी, जे. द *ऑक्सफोर्ड हेण्डबुक ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017.

डायसन, पॉल. द *फिलॉसोफी ऑफ उपनिषद्स.* न्यूयॉर्कः कोसिमो क्लासिक्स, 2010.

दया कृष्ण. *इण्डियन फिलॉसोफीः अ काउन्टर पर्स्पेक्टिव.* न्यू देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1991.

दासगुप्त, एस. एन. *अ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1991.

भट्टाचार्य, सिब्जीबन. "दि इण्डियन फिलॉसोफिकल सिस्टम्सः देयर बेसिक युनिटी एण्ड रिलियेन्स टुडे." इन *इण्डियन फिलॉसोफिकल सिस्टम्स.* 1–14. कोलकाताः द रामकृष्ण इन्स्टिट्यूट ऑफ कल्चर, 2010.

शर्मा, सी. डी. *अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1990.

राधाकृष्णन्, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* द्वितीय संस्करण. लंदनः जॉर्ज अलेन एण्ड अन्विन, 1931.

राधाकृष्णन्, एस. *प्रिंसिपल उपनिषद्स.* न्यूयॉर्कः हार्पर कॉलिन्स, 1963.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद. *भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत.* अनुवाद– कन्हैया. नई दिल्ली: पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 2007.

दयाकृष्ण. *भारतीय दर्शन: एक नई दृष्टि.* जयपुर: रावत पब्लिकेशनस, 2000.

दासगुप्त, सुरेन्द्र नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्ली: राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण.* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2005.

हिरियण्णा, एम. *भारतीय दर्शन की रूपरेखा.* हिन्दी अनुवाद– गोवर्धन भट्ट आदि दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1969.

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. लोकरूढ़ अर्थ में, आस्तिक एवं नास्तिक पद क्रमशः ईश्वर–विश्वासी एवं ईश्वर–अविश्वासी का निदर्शन करते हैं। किन्तु, इसके विपरीत, भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में आस्तिक एवं नास्तिक पद समग्रतः भिन्न भाव रखते हैं। शब्दार्थ चिन्तन की दृष्टि से, ये पद किसी के होने (अस्ति) अथवा न होने (न–अस्ति) को निदर्शित करते हैं। यहां, विधेय सत्ता के कर्त्तारूप में वेदों या वैदिक ज्ञान की पवित्रता/अखण्डता है। अतः, आस्तिक का तात्पर्य हुआ वेद की प्राधिकारिता (या प्रामाण्य) को मानना जबकि नास्तिक का तात्पर्य हुआ वेद की प्राधिकारिता को नकारना या उसके प्रति उदासीनता। यह वर्गीकरण मनुष्य जीवन की प्रयोजनवादी व्याख्या पर आधारित है। परम्परागत् रूप से, छह आस्तिक दर्शन हैं; न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त और तीन नास्तिक दर्शन हैं; जैन, बौद्ध, और चार्वाक ।

2. वैदिक ज्ञान प्रणाली से दूरी रखने वाले नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। इनमें भी सूक्ष्म, अपितु महत्वपूर्ण अन्तर है। एक वर्ग में जैन और बौद्ध दर्शन को रखा जा सकता है। उनका भी यह तो मानना है कि परमसत्य या निर्वाण (या कैवल्य या मोक्ष) प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन इसके लिए वेदों का अनुसरण अपरिहार्य शर्त नहीं है। इसका सम्भावित कारण या तो वेदों का निष्फल और दूषित पद/चरण/अवस्था हो सकता है या फिर वेदों के प्रति झुकाव के बिना मानव की समस्याओं के दार्शनिकीकरण एवं समाधान के लिए नये प्रारम्भ का उत्साह। अतः, हम पाते हैं कि प्रारम्भ में जैन और बौद्ध दर्शन वेदों के प्रति अधिक या कम उदासीन थे और अपनी चिन्ताओं को सत्य और आनन्द की खोज तक सीमित किए हुए थे। तदनुसार, बौद्ध और जैन के आदर्श क्रमशः निर्वाण और कैवल्य के रूप में विकसित हुये।

नास्तिक दर्शन का अन्य वर्ग चार्वाक के अपवादित मामले को रखता है। उन्होंने पूरी तरह से वेदों की प्राधिकारिता को नकार दिया। वे जैन और बौद्धों के भी आलोचक थे। चार्वाक दर्शन का झुकाव किसी भी तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पनाओं की ओर नहीं था। उनके अनुसार, कोई मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य नहीं होता है। पुनर्जन्म और कर्म–सिद्धान्त की असम्भावना है, अतः जीवन का एकमात्र लक्ष्य सुख की अधिकतम प्राप्ति है। उनके अनुसार, काम (सुख) परमपुरुषार्थ (मानव द्वारा प्राप्तव्य उच्चतम) है। सत्तामीमांसा की दृष्टि से, चार्वाक भौतिकवादी दर्शन है, जो ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, रीति–रिवाजों के अस्तित्व, इत्यादि को नकारता है। इस प्रकार, हम देख सकते हैं कि नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत् आने वाला चार्वाक दर्शन जैन और बौद्ध दर्शनों से किस प्रकार भिन्न है।

बोध प्रश्न 2

1. सभी आस्तिक और नास्तिक (चार्वाक को छोड़कर) दर्शनों ने विपुल दार्शनिक साहित्य विकसित किया, जिसे दो वर्गों में बांटा जा सकता है, सूत्र और व्याख्या। सूत्र शैली कहने का वह ढंग है, जिसमें सूक्त (कथन) लघु, सघन और, गर्भित सत्य–सम्बन्धी कथन होते हैं। इन सभी दर्शनों में उनके प्रतिपादकों द्वारा प्रतिपादित एक या कुछ सूत्र शैली के ग्रन्थ हैं। गर्भित प्रकृति के कारण, वे भांति–भांति के विवेचन के लिए उपस्थित हैं। अतः, दूसरी साहित्यिक–प्रवृत्ति व्याख्या–शैली कहलाती है, जिसका तात्पर्य टीका–पद्धति से है, जो सूत्र साहित्य पर व्याख्यापरक भाष्य के रूप में है। तकनीकिरूप से ये ग्रन्थ भाष्य, टीका, तात्पर्य टीका, इत्यादि कहलाते हैं। समग्ररूप से, वे भारतीय दार्शनिक साहित्य की विपुल निधि की संरचना करते हैं। ये सभी विविधता, विशिष्टता, और भारतीय बौद्धिक परम्परा के सभी दार्शनिक सम्प्रत्ययों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं।

2. उपनिषद् पद उप, नि और सद् शब्दों से व्युत्पन्न है। इसका अर्थ हुआ गुरु के समीप बैठकर अध्ययन करना। यह गुरु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करता है। इस समीप बैठने से आत्म और ब्रह्म के बारे में महावाक्यों के ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाता है। उदाहरणस्वरूप ईशावास्य उपनिषद्। उपनिषदों (*गीता* और *ब्रह्मसूत्र* सहित) पर आधारित शिक्षाएं वेदान्त भी कहलाती हैं। यह सर्वोत्तम रूप से महावाक्यों में निबद्ध है, जो आत्म, जगत और ब्रह्म की एकता को निदर्षित करते हैं।

खण्ड 2

औपनिषदिक दर्शनः मूल विषय–I

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड परिचय

उपनिषद् वेदान्त की मूल शिक्षा को रचने वाले हिन्दू ग्रन्थ हैं। उपनिषद् पद का अभिवार्थ है "समीप बैठना" और निहितार्थ है आध्यात्मिक गुरु से अध्ययन करना। यह खण्ड उपनिषदों के दर्शन का परिचय प्रदान करता है, और उनकी मूल शिक्षाओं में से एक मोक्ष की प्राप्ति की विशद चर्चा करता है। यह खण्ड तीन अतिमहत्वपूर्ण उपनिषदों की चर्चा करता है– *प्रश्न उपनिषद्, माण्डूक्य उपनिषद्* और *मुण्डक उपनिषद्*। सभी उपनिषद् स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर किसी न किसी वेद के अंग हैं। प्रत्येक औपनिषदिक शिक्षा विशेष वैदिक मंत्र या अनुष्ठान के संदर्भ में है। वेदान्त परम्पराओं में, उपनिषद् श्रुति प्रस्थान (ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के उपाय श्रुत ग्रंथ) कहे जाते हैं।

इकाई 5 "उपनिषदों के दर्शन का परिचय" है। इस इकाई में आप उपनिषदों के सामान्य आशय को समझेंगे। आपसे न केवल वेद और उपनिषदों की विषय–वस्तु के अन्तर, अपितु भाव में भी अन्तर के बोध की अपेक्षा की जाती है। यह इकाई उपनिषदों में चर्चित विभिन्न दार्शनिक एवं ब्रह्माण्ड–उत्पत्ति के मुद्दों के पर्यवेक्षण में सहायक होगी। इस इकाई से आप यह बोध प्राप्त करेंगे कि औपनिषदिक दर्शन न केवल बौद्धिक उद्यम है, अपितु मानवीय जीवन का पथ–प्रदर्षक है।

इकाई 6 "मोक्ष के विभिन्न उपागमों" के बारे में है। इस इकाई में आप यह समझने का प्रयास करेंगे कि कैसे मोक्ष की अवधारणा औपनिषदिक दर्शन का नैतिक आधार बनाती है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन प्रकृति में प्रयोजनवादी हैं, जिसका अर्थ है कि वे किसी उद्देश्य–उन्मुख हैं। औपनिषदिक दर्शन की उद्देश्य–उन्मुखता मोक्ष है। मोक्ष का उद्देश्य हमें यह समझने में सहायता करता है कि जीवन अन्ततः जन्म और मृत्यु की शृंखला है और इससे मुक्ति अपेक्षित है। इस प्रकार, कर्म का सिद्धान्त महत्वपूर्ण हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति के उपायों में मुख्यतः ज्ञान, कर्म, भक्ति और राजयोग हैं।

इकाई 7 "प्रश्न उपनिषद्" *प्रश्न उपनिषद्* की शिक्षाओं पर आधारित है। ये शिक्षायें अथर्व वेद से विकसित हुई हैं। जैसाकि नाम प्रश्न का निहितार्थ है, यह उपनिषद् प्रश्नों का उपनिषद् है। इस उपनिषद् में छह अध्याय हैं, जोकि सत् के विभिन्न पक्षों के बारे में छह जिज्ञासु शिष्यों द्वारा पूछे गये हैं। ये प्रश्न, प्राणियों के उत्पत्ति, मानवीय व्यक्तित्व के संघटकों, प्राण की उत्पत्ति और प्रकृति, मानवीय व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक पक्षों, ॐ पर ध्यान के परिणाम, मानव में विराजित तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के बारे में हैं।

इकाई 8 "मुण्डक उपनिषद्" परा विद्या और अपरा विद्या के मध्य भेद की चर्चा करता है। मुण्डक पद का अर्थ है उपनिषदों की शिक्षा शिष्य को अज्ञान से बचाती (मुक्त करती है) है। इसके तीन अध्याय हैं, जिनमें से प्रत्येक दो अनुभागों में विभक्त है। *मुण्डक उपनिषद्* में लगभग साठ श्लोक हैं। प्रथम अध्याय शिक्षा और शिक्षा की परम्परा की महत्ता को बताता है। दूसरा अनुभाग अपरा विद्या (निम्नतर ज्ञान जोकि अनुष्ठानों, धार्मिक क्रियाओं से सम्बन्धित हैं) की विवेचना करता है। द्वितीय अध्याय ब्रह्म को ब्रह्माण्ड के कारण रूप में सिद्ध करता है। तृतीय अध्याय आत्म–ज्ञान प्राप्ति के मार्गों एवं उपायों को और आत्म–ज्ञान के लाभों को बतलाता है।

इकाई 9 "माण्डूक्य उपनिषद्" है। इस *उपनिषद्* की मुख्य शिक्षा है कि हममें उपस्थित चेतना सभी अवस्थाओं में एक और समान ही है। चेतना की विभिन्न अवस्थाएं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय में अनुभव की जाती हैं। इन अवस्थाओं में जो समान पक्ष है वही आत्म है। रहस्यात्मक वर्ण "ॐ" जोकि धार्मिक एवं दार्शनिक महत्व रखता है, का चिंतनशील विश्लेषण इस उपनिषद् का अति उल्लेखनीय पक्षों में से एक है।

इकाई 5 उपनिषदों के दर्शन का परिचय[5]

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 परिचय
5.2 विषयवस्तु का विस्तार
5.3 उपनिषद् का अर्थ
5.4 उपनिषदों में दार्शनिक विधियां
5.5 उपनिषदों के केन्द्रीय विचार
5.6 आत्मा और ब्रह्म
5.7 मोक्ष
5.8 सारांश
5.9 कुंजी शब्द
5.10 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ
5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

यह अध्याय उपनिषदों पर एक व्यापक दृष्टि प्रस्तुत करता है। यह उपनिषद की केन्द्रीय अवधारणाओं और दार्शनिक महत्व को भी दर्शाता है।

5.1 परिचय

उपनिषद् अपनी प्रकृति में धार्मिक भावभूमि वाले दार्शनिक ग्रन्थों का सग्रंह हैं, जिनकी रचना 900–300 ईसापूर्व में हुई, जब भारतीय समाज ने पारम्परिक वैदिक धर्मतन्त्र पर प्रश्न करना आरम्भ कर दिया। ये ग्रन्थ एक आन्तरिक परिवर्तन को जो कि धार्मिक साभार और त्याग (बलि) के सम्बन्ध में नहीं बल्कि मूल रूप से एक आध्यात्मिक खोज के रूप में धार्मिक जीवन को समझने में एक निर्णायक परिवर्तन को चिन्हित करते हैं। उपनिषदों को वैदिक साहित्य के भाग रूप में स्वीकार किया जाता है जिनमें ऋक, साम, यजुर् और अथर्व सम्मिलित हैं। इनमें से प्रत्येक वेद की संहिता, एवं ब्राह्मण तीन प्रकार के क्रम में बांटे गये है, जो अपने विषयवस्तु के सन्दर्भ में अधिकांशतः एक दूसरे से जुड़े हैं ये विधि, अर्थवाद और वेदान्त या उपनिषद हैं। उपनिषद वैदिक संग्रह से सम्बन्ध रखते हैं। जो वेद (वेदस्य अन्तः) के निष्कर्ष भाग के रूप में अस्तित्व में आये, जिनको वेदान्त

[5] श्री दीपक कुमार सेठी, विद्या वाचस्पति शोधक दर्शन केन्द्र जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, अनुवादक– डॉ. अफजल अहमद

कहा जाता है। ये केवल निष्कर्ष भाग नहीं हैं, बल्कि वेदों का मुकुट (ताज) कहे जाते हैं। '*उपनिषदों के सिद्धान्त*' के परिचय में, राधाकृष्णन के अनुसार, "प्रारम्भिक समय से साहित्य के रूप में इसकी वृद्धि होती रही है और उनकी संख्या दो सौ से अधिक हो गई है। जबकि यह कहते हैं कि भारतीय परम्परा इसको एक सौ आठ तक मानती है जो कि मुनिका उपनिषद में बनाई गई सूची पर आधारित है। 108 वां स्वयं मुनिका है। सुकुमार अजीकोडे कहते हैं कि दो सौ से अधिक उपनिषदों की खोज की जा चुकी है और 1180 उपनिषदों के विषय के सन्दर्भ देते हैं, लेनिन कहते हैं कि बाद के अधिकतर उपनिषद अनुकरण हैं। यद्यपि दो सौ से अधिक *उपनिषद्* हैं, केवल चौदह को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। वे हैं – *ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकि, महानारायण* और *मैत्री*। ये ग्रन्थ भारतीय विचारधारा में सभी मुख्य दार्शनिक विषयों के मूलभूत आधार प्रदान करते हैं सामान्य रूप से ये विभिन्न प्रचलित व्याख्याओं के मध्य तटस्थ रहे। आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों के विरुद्ध अधिकतर विचारों को उन्होंने समाहित करने का प्रयास किया। उपनिषद 'श्रुति' साहित्य के भाग के रूप में है। श्रुति का अर्थ है 'सुनना'। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् मनुष्य द्वारा नहीं लिखे गये बल्कि ऋषियों को उनका साक्षात्कार हुआ था। प्रत्येक उपनिषद् किसी एक या दूसरे वेद से सम्बन्धित हैं, उदाहरण के लिए, *ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेद* से, *तैत्तिरीय यजुर्वेद* से, *छान्दोग्य सामवेद* से और *प्रश्न अथर्ववेद* से सम्बन्धित है।

5.2 विषय–वस्तु का विस्तार

ऋग्वैदिक काल से आधुनिक दर्शन तक की सम्पूर्ण भारतीय परम्परा औपनिषदिक साहित्य के बारे में एक महत्वपूर्ण तथ्य बताती है कि *उपनिषद्* दार्शनिक प्राक्कल्पना के क्षेत्र में मानवीय प्रज्ञा या विचार–शक्ति के उच्चतम उत्पाद हैं। इनकी अद्वितीयता परम सत्य की समस्या अथवा प्राचीन समय से चली आ रही दुःख और संताप की समस्या की प्रकृति को जानने और उसके व्यावहारिक समाधान के लिए समग्रतापूर्ण दृष्टि में है। इनकी वर्तमान प्रासंगिकता दर्शाती है कि मानवीय विकास के समस्त आयामों चाहे वह वैज्ञानिक हो अथवा आध्यात्मिक के बारे में इनके विचार सार्वभौमिक प्रकृति के हैं।

उपनिषद् सत्य से साक्षात्कृत् ऋषियों की शिक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं; जो स्वयं सत्य हो गये (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति– जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता है)। उपनिषदों का उद्देश्य बौद्धिक संतुष्टि मात्र नहीं है, अपितु जीवन की परम समस्याओं का व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करना भी है। यह प्रतीत होता है कि मोक्ष की अवधारणा, चतुर्थ पुरुषार्थ या जीवन का अन्तिम लक्ष्य, औपनिषदिक विचारों में अपने पूर्णतम रूप में स्थापित हुआ है। क्रमिक रूप से, *उपनिषद्* जीवन के वैदिक लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम के एक कदम आगे बढ़े। वस्तुतः, *उपनिषद्* जीवन की समस्त जिज्ञासाओं के लक्ष्य के रूप में मोक्ष को प्रस्तुत करते हैं। चूंकि, समस्त व्यावहारिक अनुभवों की प्रकृति अस्थिर है, सांसारिक जीवन अन्ततः दुःख और पुनर्जन्म के चक्र की ओर ले जाता है। अतः, मानव सदा ही दुःख को पूर्णतः समाप्त करने के तरीके को खोज रहा है और अमरत्व की अवस्था में पहुँचना चाहता है। उपनिषदों के अनुसार, यह आत्म की प्रकृति को जानने से प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषदों की शिक्षाओं का सैद्धान्तिक आयाम निम्नलिखित तीन मुद्दों के अन्तर्गत् है–

1. मानव का सारतत्त्व– आत्म
2. संसार या जगत का सारतत्त्व– ब्रह्म
3. आत्म और ब्रह्म के मध्य का सम्बन्ध

किन्तु, भारतीय परम्परा में, सिद्धान्त और व्यवहार साथ–साथ हैं। लोग दर्शन करते नहीं हैं, बल्कि जीते हैं। रमण महर्षि, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, गाँधी, आदि वे लोग हैं जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया और समाज को मानव जीवन के सत्य अर्थ और लक्ष्य को दर्शाया। यह व्यावहारिक पक्ष जीवन के उच्चतम लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए उच्चतम सत्य का साक्षात्कार है और *उपनिषद्* आत्म–साक्षात्कार के अधिकतम व्यावहारिक दर्शन को प्रस्तुत करते हैं। औपनिषदिक दर्शन के अनुसार, मानव का परम सार शुद्ध–चेतना है, जिसे आत्मा कहते हैं और यह जगत के सारतत्त्व जोकि ब्रह्म कहलाता है, से तादात्म्य रखती है। इस सत्य के व्यावहारिक साक्षात्कार में, व्यक्ति को उचित पद्धतिपरक और आनुभविक दृष्टि से गुजरने की आवश्यकता है, जिन्हें औपचारिक ज्ञानमीमांसीय अध्ययन के अन्तर्गत् संरचित किया जा सकता है और इसे आत्म–साक्षात्कार की ज्ञानमीमांसा कहते हैं।

5.3 उपनिषद् का अर्थ

पॉल डायसन ने उपनिषद् शब्द को इस प्रकार प्रस्तुत किया – उपनिषद् के तीन अलग–अलग अर्थ होते हैं – (1) पवित्र शब्द, (2) पवित्र ग्रन्थ, (3) पवित्र उपदेश। *कठोपनिषद* की प्रस्तावना में, उपनिषद् शब्द का वर्णन इस प्रकार हुआ है : शब्द 'उपनिषद्' बना है – उप (समीप) और नि (ध्यानपूर्वक) एक उपसर्ग के रूप में उप है, और एक अंतसर्ग के रूप में मूल सद (बैठना), जिसका अर्थ है नाश करना (विशरण), गति (प्राप्त करना) एवं शिथिल करना (अवसादन)। और शाब्दिक रूप से, उपनिषद्, ग्रन्थों में चर्चित होने वाले श्रेय तत्व के ज्ञान को सूचित करता है। महत्ता से सम्बद्ध होने के गुण के कारण ज्ञान उपनिषद् कहलाता है। इसका अर्थ है कि शिष्य का अपने गुरु के पास भृणिभाव से बैठना कोई एकमात्र शारीरिक अवस्था या आसन का विषय नहीं है लेकिन यह आवश्यक रूप से परम सत के विषय में दिशा निर्देशों की प्राप्ति करना है, जो शिष्य के सभी सन्देहों को दूर करते हैं और सभी अज्ञान को नष्ट करते हैं। आगे इसका कहना है कि उन मुमुक्षुओं के सन्दर्भ में जो दृष्ट और अदृष्ट वस्तुओं की कामनाओं से रहित हो गये हैं वे एक ऐसे ज्ञान की ओर उन्मुक्त होते हैं जो उपनिषद् कहलाता है जो उसे अपने आचरण में ढालते हैं और निश्चितता और स्थिरता के साथ साधना करते हैं। यहां उपनिषदों का वर्णन ज्ञान के सन्दर्भ में किया गया हैं। यह ज्ञान मुमुक्ष द्वारा प्राप्त किया जाता है, जो स्वयं को सांसारिक वस्तुओं और इच्छाओं से अनासक्त कर चुका है और वह स्थिरता और दृढ़ता के साथ इस ज्ञान पर चिन्तन कर सकता है उपनिषदों में ज्ञानमीमांसीय समस्याओं, तत्वमीमांसीय प्रश्नों, नैतिक सरोकारों को प्रस्तुत एवं संबोधित किया गया है यद्यपि वे अपने स्वरूप में सुव्यवस्थित एवं तन्त्रबद्ध नहीं हैं। *कठोनिषद्* बताता है कि 'प्राचीन समय के दिनों में, इस सम्बन्ध में देवताओं ने भी इन सन्देहों पर विचार किया; सूक्ष्म (गूढ़) होने के कारण, इस तत्व (आत्मा) को वे शुद्ध रूप (सही अर्थों) में नहीं समझे। आत्मा को समझना बहुत कठिन है जबकि देवताओं को इस कठिन विषय अर्थात् आत्मा पर कोई सन्देह नहीं होता। आत्मा के सूक्ष्म स्वभाव के कारण इसको समझना जटिल होता है।

जैसा कि पहले चर्चा हो चुकी है, वेद चार हैं और प्रत्येक के भाग हैं – संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता दैवी एवं देवताओं को प्रसन्न करने हेतु मंत्रों का संग्रह है, ब्राह्मणों का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठानों से है। आरण्यक ध्यान के अनुशीलन की व्याख्या से युक्त है। उपनिषद् अस्तित्व और इसके उद्देश्य एवं सत्ता के स्वरूप सम्बन्धी मूलभूत समस्याओं पर दार्शनिक चिन्तन (निबन्ध) हैं। संहिताओं से उपनिषदों में होने वाले संक्रमण की तुलना भोर के धुंधलके के दिन के सूर्य की प्रखर द्युतिमान ज्योति में बदलाव से की जा सकती है। मंत्रों में जो कुछ अर्न्तनिहित अथवा ध्वनित है वह दार्शनिक ग्रन्थों में गवेषणा के परिणामस्वरूप स्पष्ट रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए पुरुष सूक्त में वर्णित महत् पुरुष जो हजारों सिर, आंख और पैरों से युक्त है, को ऐसी सर्वव्यापक चेतन सत्ता समझा जा सकता है जो प्रत्येक वस्तु का साक्षी होती है।

उपनिषद् की समस्त शिक्षायें आत्मा और इसकी अवधारणाओं पर केन्द्रित हैं। आत्मा का पद उपनिषदों में सर्वव्यापी आत्मा या ब्रह्म और जीवात्मा या आत्मन दोनो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। निरपेक्ष सत एक है जो ब्रह्म है और इस जगत में, सभी दूसरे जीवात्मा उस परम ब्रह्म का ही प्रतिरूप हैं। जब तक प्रातिभासिक जगत कार्यरत रहता है, जीव सार्वभौम निरपेक्ष सत्ता से पृथक अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। कर्मफल के सम्बन्ध में कोई व्यभिचार नहीं देखा जाता, विभिन्न जीव बुद्धि, इन्द्रिय एवं अहंकार से संयुक्त होकर अपना वैशिष्ट्य बनाये रखते हैं। आत्मा दैवी चेतना के विचार का प्रतिनिधित्व करती है और विभिन्न आत्मायें परमात्मा के ही अंश हैं। आत्मा दैवीय सृष्टिकर्ता से अपनी पूर्णतः के विचार को प्राप्त करती है जो आत्मा को अस्तित्व प्रदान करता है। आत्म चैतन्य और आनन्द को किसी बाह्य विषय की अपेक्षा नहीं होती। जीवात्मा का अर्थ– शरीर, इन्द्रिय और मन की उपाधियों से युक्त असीमित आत्मा है। जब हम आत्मा के सम्बन्ध में कुछ औपनिषदिक विवरणों की चर्चा करते हैं तो आत्मा सम्बन्धी आशय स्पष्ट होने लगते हैं। उपनिषदों में वर्णित आत्मा की चर्चा हम आगे के अध्याय में करेंगे।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से अपने उत्तर की जांच कीजिए।

1. उपनिषदों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2. उपनिषदों की हमारे जीवन में क्या प्रासंगिकता है?

....

....

....

....

....

3. उपनिषदों की केन्द्रिय शिक्षाएं क्या हैं?

....

....

....

....

....

5.4 उपनिषदों में दार्शनिक विधियां

उपनिषद् संवाद परम्परा के रूप में जाने जाते हैं।

संवादात्मक विधि उपनिषदों की एक प्रमुख विशेषता है। इसके द्वारा विश्लेषित की जाने वाली प्रत्येक अवधारणायें, प्रश्नोत्तर, व्याख्यान, दृष्टान्त, रूपक आदि विशेषताओं वाले संवाद से युक्त हैं। जैसाकि आगे की पंक्तियों में कई प्रकार के संवादों को दर्शाया गया है। *छान्दोग्य उपनिषद्* में पिता उद्दालक और पुत्र श्वेतकेतु के बीच संवाद, *छान्दोग्य* में सत्यकाम और उसकी माता जबला के बीच संवाद, *बृहदारण्यक* में प्रजापति और उसके पुत्र के बीच संवाद, *कठ* में यम और नचिकेता, *छान्दोग्य उपनिषद्* में नारद और सनत्कुमार के बीच संवाद, ये प्रसिद्ध उदाहरण हैं कि किस प्रकार दार्शनिक अवधारणाओं को विकसित करने हेतु संवाद पद्धति का उपयोग किया गया। संवाद के द्वन्द्वन्याय तक में संवाद दो व्यक्तियों के बीच चलने वाली संकल्प तर्क, वितर्क और विचारों के परस्पर सम्पूरक की प्रक्रिया है। संवाद के साथ एक ऐसी प्रविधि का विकास हुआ जिसमें दूसरे विचारकों के साथ वाद–विवाद अनिवार्य थे। यह एकालाप के बिल्कुल विपरीत है जिसमें एक बद्धमूल विचार के अतिरिक्त कुछ भी स्थापित नहीं होता। इस विधि के अन्तर्गत् यह मांग की जाती है कि विरोधी को उस विवाद के विषय से सम्बन्धित अपने विचार प्रकट करने और बोलने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। इस प्रकार संवाद तभी सम्भव है जब दोनों वक्ता (क) बोलें (ख) सुनें (ग) उनका लक्ष्य सत्य की प्राप्ति हो (घ) एक–दूसरे की भाषा को समझें (ङ) एक दूसरे के सोचने के ढंग को समझें (च) दो नितान्त भिन्न दृष्टिकोण से विषयवस्तु को न देखें। इस प्रकार संवाद की प्रक्रिया दोनों के बीच असहमति एवं सर्वसम्मति से आगे बढ़ती है। संवादात्मक विधि को दो प्रकार से देखा जा सकता है– पहला, एक तर्क प्रणाली के रूप में, यह दूसरे पक्ष के विचारों में से विरोधाभास को निकालता है। प्रश्न के पक्ष–विपक्ष की परीक्षा करने के पश्चात् और इस गतिरोध से निकलने के लिए विद्यमान से उच्च अवस्था में जाना ही एक मार्ग शेष रह जाता। यह पद्धति एक ऐसी ही स्पष्ट चेतना को आगे लाती है। दूसरा, उच्च स्तर पर, अन्तर्विरोध का यह समाधान करता है उनको समाप्त करता है एवं उनमें निहित निषेधात्मकता का अन्त कर देता है। उदाहरण के लिए उद्दालक और नचिकेता के बीच संवाद में, हम पाते हैं कि यह इन्द्रिय अनुभवों अर्थात् व्यावहारिक अन्तर्विरोध को सुलझाने के उद्देश्य से हम पारमार्थिक स्तर पर जाते हैं। संक्षेप में, इस बात की हमेशा सम्भावना बनी रहती है कि अपेक्षाकृत उच्च विचार अथवा श्रेष्ठ दार्शनिक की आप्तता को स्वीकार करते हुये अन्तर्विरोधों को दूर किया जाए।

उपनिषदों का व्याख्याशास्त्र की दृष्टि से भी अध्ययन किया जा सकता है। व्याख्याशास्त्र किसी एक ग्रन्थ में अस्पष्ट अर्थ को खोजने का प्रयास और उसकी व्याख्या एवं अवबोध का एक तंत्र है। व्याख्याशास्त्र ग्रन्थ के छिपे हुये (गहन) अर्थ को जानने में हमारी सहायता करता है। व्याख्या संवाद की पद्धतियों में से एक पद्धति है। व्याख्याशास्त्र एक पद्धति के रूप में, किसी ग्रन्थ की समझ/व्याख्या के विभिन्न प्रकारों की ओर संकेत करता है। व्याख्याशास्त्र धार्मिक एवं कानूनी ग्रन्थों की व्याख्या की पद्धति के रूप में आरम्भ होता है। यह केवल लिखित ग्रन्थों के सभी रूपों को ही सम्मिलित नहीं करता बल्कि इसकी स्वयं की व्याख्यात्मक प्रक्रिया होती है।

दूसरी पद्धति कहानी है। कहानी हमें बहुत ही स्पष्ट रूप से अवधारणाओं को समझा देती है और कहानी का उद्देश्य उस अवधारणा के नैतिक निहितार्थ को हम तक पहुंचाना होता है। *छान्दोग्य उपनिषद्* में देवता और दैत्य की प्रसिद्ध कहानी का वर्णन।

5.5 उपनिषदों के केन्द्रिय विचार

उपनिषदों में पृथ्वी की उत्पत्ति, आत्मा की सत्तामीमांसा, शरीर, आत्म और द्रव्य, सत्य ज्ञान का अर्थ, जगत का स्वरूप (स्वभाव), बन्धन और मोक्ष इत्यादि पर चर्चा हुई है। जबकि कुछ छंद मंत्रों और स्तुतियों के रूप में हैं। उपनिषद् में लघुकथायें, गुरु और शिष्य के बीच, पिता और पुत्र के बीच, अलौकिक शक्ति के रूप में पात्र और मानव जीव (मनुष्य) के बीच एवं पशुओं और मनुष्य के बीच संवाद हैं। अधिकतर संवाद वास्तविक (सत्) और अवास्तविक (असत्), पवित्र और अपवित्र, सत्य और असत्य के बीच चर्चा पर केन्द्रित हैं। उपनिषदों को स्व–व्याघाती के रूप में भी चिन्हित किया गया है। उदाहरण के लिए ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन गुणों से रहित के रूप से होता है जोकि यह भी एक प्रकार से कई गुणों की व्याख्या कर देता है। यद्यपि *उपनिषद्* विचारों का कोई एक व्यवस्थित तन्त्र होने का दावा नहीं कर सकते किन्तु वे कुछ आधारभूत सामान्य सिद्धान्तों का विकास क्रम अवश्य प्रदर्शित करते हैं। उनमें से कुछ सिद्धान्त संसार, कर्म, धर्म और मोक्ष हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा एक तत्वमीमांसीय रूपरेखा आकार लेती है, जिसे न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ अधिकतर भारतीय धर्मों और दार्शनिक सम्प्रदायों के द्वारा अपनाया गया है। संसार की अवधारणा में पुर्नजन्म का यह विचार कि मृत्यु और पुनरुत्थान के एक नियमित चक्र में, मृत्यु के पश्चात् हमारी आत्मा सम्भवतः एक पशु में, सम्भवतः एक मनुष्य के रूप में, सम्भवतः एक देवता के रूप में किसी दूसरे शरीर में पुनः जन्म लेगी। दूसरी अवधारणा कर्म है जिसका शाब्दिक अर्थ है "कृत्य", जिसका आशय है कि सभी कर्मों का फल मिलता है या तो अच्छा या बुरा। कर्म अगले जन्म की परिस्थिति को ? निर्धारित करता है, जैसा कि हमारा जीवन हमारे पूर्व कर्मों द्वारा प्रतिबंधित है। सामान्य रूप से इस *ब्राह्मण* में एक अवैयक्तिक, प्राकृतिक और शाश्वत विधान कार्य कर रहा है जिसमें कोई निर्णय या क्षमा नहीं है। जिन्होंने अच्छे कर्म किये वे अधिक अच्छी स्थितियों में पुनः जन्म लेंगे जबकि वे जिन्होंने बुरा किया वे अधिक बुरी स्थितियों में पुनः जन्म लेंगे। धर्म का अर्थ है "उचित आचरण" अथवा "कर्तव्य" जिसका आशय है कि हम सभी के सामाजिक उत्तरदायित्व हैं जिनकी पूर्ति की जानी है। एक विशेष जाति के प्रत्येक सदस्य के उत्तरदायित्वों का विशेष निर्धारण है अर्थात् एक धर्म है। उदाहरण के लिए क्षत्रियों (योद्धाजाति) के लिए शैय्या पर मरना एक पाप माना जाता था और युद्ध क्षेत्र में मरना एक उच्च सम्मान था उनका यही लक्ष्य भी होता था। दूसरे शब्दों में, धर्म विभिन्न सामाजिक समूहों के लोगों को, उनके कर्तव्यों के पालन को बढ़ावा देता था जिसे

यह श्रेष्ठ प्रकार से कर सकें। मोक्ष का अर्थ 'मुक्ति' और 'छुटकारा' होता है। मृत्यु और पुनर्उत्थान के शाश्वत चक्र को बिन्दुशून्य पुनरावृत्ति जिसके साथ कोई परम उद्देश्य जुड़ा है, के रूप में देखा जा सकता है। दुःखों से मुक्ति और शाश्वत शान्ति की खोज असम्भव प्रतीत होती है, शीघ्र अथवा बाद के लिए हम और भी बुरी स्थिति में पुनः जन्म लेंगे। मोक्ष इस कभी न अन्त होने वाले पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति है, इस पुनर्वृत्ति से पलायन का भाग है। किन्तु इस चक्र से छुटकारा पाने का क्या आशय है? एक जीवात्मा को सांसारिक बन्धन से मुक्त होने के लिए किन शर्तों को पूरा करना होता है? इन प्रश्नों के उत्तर देने के लिए हमें आत्मा और ब्रह्म पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है।

उपनिषद् परम सत् की जिज्ञास्य विषय बतौर और इसके साक्षात्कार की प्रक्रिया की चर्चा करते हैं। जब हम उपनिषदों का अध्ययन करते हैं, तो हम विद्या के दो विभाजन, परा और अपरा विद्या को पाते हैं। परा विद्या परम सत् का ज्ञान है, वहीं अपरा विद्या आनुभविक जगत का ज्ञान है। भिन्न ढंग से इसी तरह का विभाजन कठोपनिषद् में श्रेयस् एवं प्रेयस् और विद्या एवं अविद्या के रूप में मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् विद्या अविद्या का विभाजन करते हुए कहता है कि विद्या अमृत है और अविद्या क्षर (नाशवान) है। ज्ञान या विद्या का यह विभाजन अनुभव के उच्च एवं निम्न स्तर स्वीकारने से सम्बन्धित है। जहाँ परा उच्च और अपरा निम्न स्तर से सम्बन्धित है। ये दोनों स्तर, जिनमें ये विद्याएं आश्रय ग्रहण करती हैं और जिनमें व्याख्याएं घटित होती हैं, पारमार्थिक और व्यावहारिक स्तर कहलाते हैं। इस प्रकार हम, सत् के दो स्तर अनुभवातीत एवं आनुभविक जिन्हें ब्रह्म और प्रत्ययगोचर जगत कह सकते हैं, पाते हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से अपने उत्तर की जांच कीजिए।

1. वेद के कितने विभाग हैं? वे कौन से हैं? प्रत्येक की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

2. उपनिषदों की दार्शनिक पद्धति क्या है?

....

....

....

....

....

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

5.6 आत्मा और ब्रह्म

लगभग सभी प्रमुख उपनिषदों में सत् की संकल्पना पर विचार किया गया है और मुख्य रूप से हमारा अपना वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका गहन परीक्षण किया गया है। वस्तुनिष्ठ पक्ष से इस प्रकार की वास्तविकता को ब्रह्म कहते हैं विषय पक्ष से इसे आत्मा कहते हैं। आत्मा क्या है? यह ऐसा विषय है जो घूमने, स्वप्न में, सोने में, मृत्यु, पुनर्जन्म और पूर्ण मुक्ति की अवस्थाओं अर्थात् इन सभी परिवर्तनों में शाश्वत रहता है। उपनिषदों के अनुसार हमारे अस्तित्व का केन्द्रीय भाग न शरीर है, और न ही मन है किन्तु आत्मा है। सभी प्राणियों का उसके अंतर्तम सार में, केन्द्रीय भाग आत्मा है। ध्यान द्वारा सीधे अनुभव से इसको समझा जा सकता है। यह तब होता है जब हम अपने अस्तित्व की अनुभूति के सबसे गहरे स्तर पर होते हैं। उपनिषद् आत्मा को एक सत्तामूलक जीव, एक ज्ञानमीमांसीय विषय, एक नैतिक प्राणी, एक मनोवैज्ञानिक प्राणी इत्यादि के रूप में पेश (प्रस्तुत) करता है। उपनिषदों में प्रयुक्त 'आत्मा' पद को सार्वभौमिक आत्मा अर्थात् ब्रह्म और जीवात्मा दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। जीवात्मा का पांच कोषों के समूह के रूप में वर्णन किया गया है। पहला कोष अन्नमय कोष अर्थात् अन्नकोष है। यह हमारे भौतिक शरीर की निरूपण करता है। दूसरा कोष है प्राणमय कोष जो जीवंत ऊर्जा के कोष को सूचित करता है। जीवंत ऊर्जा हमारे श्वासों में अपरिष्कृत ढंग/अनुसरण को खोजती है। तीसरा कोष मनोमय कोष है जो हमारे मन को प्रकट करता है यह हमारी इच्छाओं, भावनाओं और कल्पनाओं के स्रोत के रूप में कार्य करता है। चौथा कोष विज्ञानमय कोष है जो कि हमारी बौद्धिकता का परिचायक है। और अन्तिम सत्तामूलक कोष आनन्दमय कोष है जो जीव के आनन्द के पहलू का निरूपण करता है ये सभी मिलकर आत्मा के स्वरूप की रचना करते हैं परम सत्ता केवल एक है जो ब्रह्म है और इस जगत में अन्य सभी जीव उस परम सत्ता ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हैं। जब तक प्रति मासिक जगत कार्यरत रहता है। जीव सार्वभौम निरपेक्ष सत्ता से पृथक अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। कर्मफल के सम्बन्ध में कोई व्यभिचार नहीं देखा जाता, विभिन्न जीव बुद्धि, इन्द्रिय एवं अहंकार से संयुक्त होकर अपना वैशिष्ट्य बनाये रखते हैं। आत्मा दैवी चेतना के विचार का प्रतिनिधित्व करती है और विभिन्न आत्मायें परमात्मा की ही अंश हैं। आत्मा दैविक सृष्टिकर्ता से पूर्णता का विचार लेती है जिसने इनको अस्तित्व प्रदान किया है। आत्म चेतन और आनन्द को किसी बाह्य विषय की अपेक्षा नहीं होती। जीवात्मा का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन की उपाधियों से सीमित आत्मा है। उपनिषद् स्वीकार करता है कि आत्मा एक है लेकिन जीवात्मा के रूप में कई रूपों में व्यक्त होती है। *श्वेताश्वर उपनिषद्* में कहा गया है कि "असीम ब्रह्म अपने असीम प्रतिरूप से स्वयम् को प्रकट करता है, इसकी सीमायें जिसके द्वारा यह स्वयं को ईश्वर मानव, पशु एवं वनस्पति आदि रूपों में प्रकट करता है। अनादि काल से अनिर्वचनीय माया (प्रकृति) के साथ संयोग के द्वारा एक और अखण्ड आत्मा सभी सत्ताओं में विद्यमान रहती है, जैसे कि एक अखण्ड आकाश अनेक घटों में विद्यमान रहता है और एक, अद्वितीय सूर्य असंख्य जलाशयों में प्रतिबिम्बित होता है। इस संयोग के द्वारा एक और अखण्ड आत्मा समस्त जगत में व्याप्त होकर अस्तित्वमान रहता है। परम तत्व एक है जो ब्रह्म है और इस जगत में अन्य दूसरे जीव उस एक परम ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हैं। ब्रह्म इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधारभूत तत्व है। यह अपरिवर्तनीय "निरपेक्ष सत्ता" सम्पूर्ण अस्तित्व का अमूर्त सार है यह अमर और अपरिवर्तनीय बीज रूप है जो प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करता है और उनका पोषण करता है। सभी वर्णनों और बौद्धिक समझ से यह परे है। जब तक प्रातिभासिक जगत कार्यरत रहता है, जीव सार्वभौम निरपेक्ष सत्ता से पृथक अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। कर्मफल के सम्बन्ध में कोई व्यभिचार नहीं देखा जाता,

विभिन्न जीव बुद्धि, इन्द्रिय एवं अहंकार से संयुक्त होकर अपना वैशिष्ट्य बनाये रखते हैं। आत्मा दैवी चेतना के विचार का प्रतिनिधित्व करती है और विभिन्न आत्मायें परमात्मा के ही अंश हैं। इसके द्वारा जीवात्माओं की अनेकता की व्याख्या होती है। आत्मा को अपने शुद्ध रूप में सभी संयोगो से परे एवं ब्रह्म के स्वरूप वाला बताया गया है। उपनिषदों की महान अन्तःदृष्टियों में से एक यह है कि आत्मा और ब्रह्म एक समान तत्व से बने हैं। जब एक व्यक्ति मोक्ष या मुक्ति पाता है, तब आत्मा ब्रह्म में अपने स्रोत के रूप में जैसे सागर में एक जल की बूंद लौटती है, उस प्रकार लौट जाती है। उपनिषद् दावा करते हैं कि यह एक भ्रम है कि हम सभी पृथक हैं, अहंकार, पुनर्जन्म, दुःख जिनका हम अपने जीवन पर्यन्त अनुभव करते हैं उनसे मुक्त हो सकते हैं। एक सन्दर्भ में, मोक्ष का अर्थ ब्रह्म, महान विश्वात्मा में, पुनः आत्मसात होना होता है। यह कहा जाता है कि यह महान अजन्मा आत्मा, शाश्वत, अक्षय, अमर, अभय वस्तुतः ब्रह्म ही है। इस प्रकार आत्मा, शरीर और इन्द्रियों के बीच का सम्बन्ध सभी उपनिषदों द्वारा दिया गया है। पांच महावाक्यों के आधार पर आत्मा और ब्रह्म के बीच के सम्बन्ध और स्वभाव की व्याख्या की जा सकती है।

1. प्रज्ञानं ब्रह्म "चित ब्रह्म है" (*ऐतरेय उपनिषद्*)

2. अहं ब्रह्म अस्मि "मैं ब्रह्म हूँ" (*बृहदारण्यक उपनिषद्*)

3. तत्त्वमसि "वह ब्रह्म तू है" (*छान्दोग्य उपनिषद्*)

4. अयम् आत्मा ब्रह्म "यह आत्मा ही ब्रह्म है" (*छान्दोग्य उपनिषद्*) (*तैत्तिरीय उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद्*)

5. सर्व खलु इंद ब्रह्म "यह सब कुछ ब्रह्म है" (*छान्दोग्य उपनिषद्*)

5.7 मोक्ष

प्रमुख उपनिषदों में मोक्ष की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। मोक्ष मूल 'मुच' से आया है जिसका अर्थ 'मुक्त होना' है। इस प्रकार मोक्ष का आशय मुक्ति है। यह जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति है और सहवर्ती दुखों का एक परिणामी अन्त है। उपनिषदों के अनुसार जीवन का परम उद्देश्य है कि व्यक्ति की पुर्नजन्म के चक्र से मुक्ति हो। उपनिषदों के कई अंशों में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन मुक्त आत्मा अर्थात् मुक्त जीव के रूप में किया गया है। उपनिषदों के अनेक अंशों के अनुसार आत्मा के सत्य ज्ञान के द्वारा यह मुक्ति मिलती है और इस प्रकार इच्छा और प्रेम की उच्चतम वस्तु आत्मा है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* के अनुसार "आत्मा पुत्र से भी प्रिय होती है सम्पत्ति से भी प्रिय होती है, हर एक वस्तु से प्रिय होती है और अन्तर्तम होती है यदि किसी एक ऐसे व्यक्ति की बात करें जो आत्मा को छोड़कर के किसी और वस्तु को प्रिय कहता है तो इसकी पूरी सम्भावना है कि वह व्यक्ति उस वस्तु को कभी न कभी खो देगा जिसे वह प्रिय कहता है केवल आत्मा को ही प्रिय जानकर उसका चिन्तन करना चाहिए जो केवल आत्मा को प्रिय मानता हुआ उसका चिन्तन करता है तो वह जो कुछ भी प्रिय मानता है वह कभी नष्ट नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह है कि जो कोई परम लक्ष्य के रूप में मुक्ति के अलावा अन्य कुछ धारण करता है वह उसे संसार के भंवर में खो देगा। और एक वे जो मुक्ति की आकांक्षा रखते हैं वे न केवल एक सार्थक जीवन जीते हैं, बल्कि संसार का आनन्द भी लेते हैं। पुनः *छान्दोग्य उपनिषद्* के अनुसार, "जिस प्रकार कर्मों के द्वारा प्राप्त इंद्रलोक (पार्थिव जीवन) नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार धर्माचरण से फलीभूत पुण्यों से प्राप्त पर लोक भी नष्ट हो जाता है, जो आत्मज्ञान

के बिना ही शरीर त्याग देते हैं ये अपनी कामनाओं के बन्धन के कारण वास्तविक मुक्ति से दूर बने रहते हैं"। इस प्रकार उपनिषद् निश्चयपूर्वक बताते हैं कि सच्चे अर्थ में मुक्ति का साधन केवल आत्मज्ञान है। मीमांसा सम्प्रदाय जिसमें वैदिक कर्मकाण्डों पर बल दिया गया है वह भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं कराते हैं। *कठोपनिषद्* के अनुसार, "यदि कोई शरीर त्याग से पहले ही उस तत्व का दर्शन कर लेता है तो वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है, ऐसा न होने पर वह सृष्टा लोकों में पुनः शरीर धारण करता है"। यह सूक्ति इस प्रकार से समझी जा सकती है कि यदि एक व्यक्ति अपनी आत्मा के सच्चे स्वभाव को जान लेता है तब आगे पुर्नजन्म नहीं होता, दूसरे शब्दों में, उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए अन्तस में दिव्यता की अनुभूति ही दुःखों की निवृत्ति का मार्ग हैं क्योंकि ये सांसारिक अस्तित्व अपने अन्तिम विश्लेषण में दुःख के सिवा कुछ और नहीं।

मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है? ध्यान अन्तर्वीक्षण तथा यह ज्ञान/अनुभूति कि सभी रूपों और आवरणों से परे जो ज्ञाता (विषयी) और श्रेय (विषय) एक ही है, और हम सभी उस एक ही अखण्ड सत्ता के अंश हैं, ये सारे मोक्ष के साधन हैं। सभी उपनिषद इस विषय में एकमत हैं कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से जीवात्मा और ब्रह्म के बीच परम के सम्बन्ध में अज्ञात का शिकार है। ध्यान का एक प्रमुख लक्ष्य ब्रह्म के साथ इस एकभाव को प्राप्त करना है और उस अज्ञान का त्याग करना है जो इस ऐन्द्रिय जगत के साथ भ्रमपूर्ण पहचान बनने से पैदा होता है अज्ञान के साथ साथ शरीर इन्द्रिय, मत, विचार, जन्म, मृत्यु, नामरूप, कर्मविचार इन उपाधियों के कारण आत्मा परमात्मा से अलग है। किन्तु, जब ये विभिन्नतायें नष्ट कर दी जाती हैं, तब आत्मा अद्वैत हो जाती है, जोकि केवल एक महान आत्मा है जो हर वस्तु का कारण है। सत्य ज्ञान के साधन से शरीर के तत्वों, नाम, रूप की ब्रह्म में समाप्ति हो जाती है। इस स्वरूप को ग्रहण करने के बाद विषयगत चेतना नहीं रहती। जब द्वैत रहता है तब व्यक्ति कुछ सूंघता है, कुछ देखता है, कुछ बोलता है कुछ सोचता है कुछ जानता है; तब ऐसी स्थिति में, चेतना ज्ञाता पथ और ज्ञेय पथ के द्वारा चिन्हित की जाती है। जब पूर्ण ऐक्य होता है, तब द्वैत और अज्ञान को ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है तब देखने, सुनने एवं सोचने के सभी साधन (कोई माध्यम) शेष नहीं रहते। यह पूर्ण एकता एवं एकतत्व और अद्वैत की अवस्था है।

मुण्डक उपनिषद् के अनुसार, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', जिसका अर्थ है जो उस परम ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही जाता है। जबकि मुक्ति के मार्ग में प्रवेश करने से पहले व्यक्ति को उसकी पात्रता एवं योग्यता अर्जित करनी होती है। *कठोपनिषद्* के अनुसार, "प्रत्येक व्यक्ति परम आत्मा के पवित्र ज्ञान को जानने योग्य नहीं हो सकता। वह जो स्वयं को पाप कर्म करने से नहीं बचाता, जिसने अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित नहीं किया, जिसका मन एकाग्र नहीं होता; जिसका मन शान्त नहीं होता, वह ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता"।

ज्ञान श्रवण अर्थात् गुरु से जीवात्मा और परमआत्मा के स्वभाव के विषय में सुनना, मनन अर्थात् उन सत्यों पर युक्तिपूर्वक विचार करना और निदिध्यासन अर्थात् आत्मा पर गहन ध्यान, से युक्त होता है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से अपने उत्तर की जांच कीजिए

1. उपनिषदों के मुख्य सिद्धान्त कौन से हैं?

....

....

....

....

....

2. उपनिषदों में ज्ञान (विद्या) के दो विभाजन कौन से हैं?

....

....

....

....

....

3. उपनिषदों की गहन चिकित्सा क्या है?

....

....

....

....

....

5.8 सारांश

मानवीय स्वभाव मुख्य रूप से दैविक है, किन्तु समस्या यह है कि वह अपनी दिव्यता के प्रति जागरूक नहीं है। अहम् या अनुभवजन्य आत्मा ब्रह्म का एक भाग है और वह अपने वास्तविक स्वरूप में पुनः वापस जाना चाहता है। ब्रह्म पूर्णतः आनन्द, पूर्णतः व्याप्त एवं परम चेतना है। इसलिए अंहकार हमेशा सुख की चाह में रहता है और हर प्रकार से सर्वोपरि बने रहना चाहता है। इसकी अनुभूति के लिए अपने अन्तरतम अर्थात् आत्मा की ओर उन्मुख होने की अपेक्षा, मनुष्य बाध्य जगत में इस अनुभूति की आशा करता है और अपने समाज में वह बढ़ना चाहता है। परन्तु कोई भी बाहरी वस्तु उसको पूर्ण सुखी नहीं बनाती। इस प्रकार, उपनिषदों में सभी अशुभ, अज्ञान के रूप में समझे जा सकते हैं। जब अज्ञान दूर हो जाता है तब व्यक्ति अपने प्रयासों के लिए उचित दिशा प्राप्त करता है और अपने अवगुणों को छोड़ देता है। जबकि वह अज्ञानता के दौरान, अचेतन रूप से परम अद्वैत के अनुभव को खोजता है, जो उसे पूर्ण रूप से सुखी बनाये।

अन्त में हम कह सकते हैं कि स्वयं सभी प्रमुख उपनिषदों ने मानव के सही स्वभाव के वितरण की पूर्ण व्याख्या की है। सामान्य रूप से हम यह विश्वास करते हैं कि हममें एक आत्मा है अथवा यह कहना व्याघाती होगा कि मैं नहीं हूँ, मेरा अस्तित्व नहीं है। चार्वाक के समान भौतिकवादी भी, निस्सन्देह रूप से भौतिक तत्वों द्वारा निर्मित आत्मा के अस्तित्व को

स्वीकार करते हैं। किन्तु हम जानते हैं कि हम स्वयं बहुत दुखी सीमित और मरणशील मानव जीव है। हम संसार की बाहरी वस्तुओं में सुख को खोजते हैं। हर मानव जीव उद्देश्यहीन होकर सुख और सन्तुष्टि को खोजने में भटकता रहता है। हम अपना पूरा जीवन सभी ज्ञात और अज्ञात खतरों से सुरक्षा और रक्षा की खोज में गुजार देते हैं।

मानव जीव के सच्चे स्वभाव को प्रकट करने और समझने में यहां उपनिषदों का महान योगदान काम में आता हैं। उपनिषदों के अनुसार आत्मा सत्–चित आनन्द है जिसका अर्थ है कि अस्तित्व ज्ञान–परम आनन्द। इस प्रकार सभी मानव जीव जो कुछ बाहरी जगत में खोजते हैं, वास्तव में, यह उनके अन्दर ही रहता है। मानव जीव को स्वयं के सच्चे स्वभाव (शुद्ध रूप) का अनुभव उसको अपनी शाश्वत के प्रति जागरुक करता है। और सम्भवतः उसको अधिक सुरक्षा का अनुभव कराता है। इस अनुभूति के साथ जीवन भर चलने वाली आनन्द की खोज का पर्यवसान हो जाता है। बुद्ध जैसे दार्शनिकों के अनुसार इस संसार में जीवन दुःख का समानार्थी है। संसार में सुख है, इसको यह नहीं नकारते हैं किन्तु उनके अनुसार ये सभी सुख, दुःख से परिपूर्ण हैं। उपनिषद् इस दुःखपूर्ण जीवन से मुक्ति हेतु रूपरेखा प्रस्तुत करता है। ब्रह्मज्ञान दुःखपूर्ण जीवन का अन्त कर देता है। इस प्रकार यह ज्ञान सर्वोच्च है और यह सर्वोच्चता उपनिषदों द्वारा व्यक्त की गयी है।

बोध प्रश्न 4

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से अपने उत्तर की जांच कीजिए

1. उपनिषदों का परम विषय क्या है?

....

....

....

....

....

5.9 कुंजी शब्द

आत्म : संस्कृत शब्द आत्म का अर्थ है अन्तःजीव या आत्मा। आत्म ब्रह्म का अंश है, जिसमें यह समाहित हो जाता है या लय। आत्म ब्रह्म का तादात्म्य होता प्रतीत होता है।

ब्रह्म : ब्रह्म वैदिक संस्कृत शब्द है, और पॉल डायसन कहते हैं, "यह हिन्दू धर्म में सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रचनात्मक सिद्धान्त के तौर पर अवधारणीकृत किया जाता है।" ब्रह्म वेदों का कुंजी अवधारणा है, और प्रारम्भिक उपनिषदों में इसकी विशद चर्चा है।

मोक्ष : मोक्ष, को विमोक्ष, विमुक्ति और मुक्ति भी कहा जाता है। मोक्ष पद हिन्दू, बौद्ध, जैन धर्म एवं दर्शन में प्रकाशन, प्रादुर्भाव, मुक्ति आदि विविध रूपों को संदर्भित करता है। उद्देश्य और परलोकविद्या के भाव में यह संसार (मृत्यु और पुनर्जन्म) से स्वतन्त्रता को संदर्भित करता है।

5.10 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

डायसन, पॉल. *द फिलॉसोफी आफ द उपनिषद्स.* एडिनबर्ग: टी एन्ड टी क्लार्क, 1908.

तत्यानन्द, स्वामी. *उपनिषदिक स्टोरी एन्ड दियर सिगनिफिकेन्स.* कलड़ी : श्री रामकृष्णन अद्वैत आश्रम, 1988.

दासगुप्ता, एस. एन. *हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यूम I टू IV. न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 2008.

मोहन्ती, जे. एन. *एक्सप्लोरेशन एन फिलॉसोफी, इन्डियन फिलॉसोफी,* एडि. बीना गुप्ता. न्यू देल्ही : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001.

राधाकृष्णन्, एस. *प्रिंसिपल उपनिषद्.* लन्दनः जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, 1953.

शर्मा, शुब्रा. *लाइफ इन द उपनिषद.* न्यू देल्हीः अभिनव पब्लिकेशन, 1985.

हिरियण्णा, एम. *आउटलाइन आफ इन्डियन फिलॉसोफी.* लन्दनः जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, 1932.

हिरियण्णा, एम. *द एसेन्शियल्स आफ इन्डियन फिलॉसोफी.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 2009.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय. *उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण.* अनुवाद– रामानन्द तिवारी. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2011.

5.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. उपनिषद् 900–300 ईसापूर्व की अवधि में लिखे गये दार्शनिक प्रकृति के ग्रन्थ हैं। यह वह समय था जब भारतीय समाज ने पारम्परिक वैदिक अनुष्ठानों पर सवाल उठाना आरम्भ कर दिया था। उपनिषद् वेद के भाग हैं। ये वेद के अन्तिम भाग होने के कारण ये वेद का निष्कर्ष भाग हैं (वेदस्य अन्तः) अतः उन्हें वेदान्त भी कहते हैं। ये न केवल निष्कर्ष भाग हैं, अपितु वेदों का समापन भी हैं, इसलिए 'वेद–शिरस्' (वेदों का मुकुट) भी कहलाते हैं।

2. औपनिषदिक साहित्य दार्शनिक प्राक्कल्पना के क्षेत्र में उच्चतम मानवीय बौद्धिकता के उत्पाद हैं। इसकी विशिष्टता परम सत् की समस्या के लिए समावेशी समाधान अथवा प्रकृति की समझ के साथ–साथ दुःख की प्राचीन समस्या का व्यावहारिक समाधान देने में है। वैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि मानवीय विकास के पहलुओं को समाहित करने के कारण इसकी वर्तमान प्रासंगिकता इसकी विचारों की सार्वभौमिकता को दर्शाती है।

उपनिषद् ब्रह्मविद् ऋषियों की शिक्षाओं के प्रतिनिधि हैं। उपनिषदों का लक्ष्य केवल बौद्धिक संतुष्टि न होकर, जीवन की परम समस्याओं का व्यावहारिक समाधान देना है और यह प्रतीत होता है कि मोक्ष की अवधारणा (चतुर्थ पुरुषार्थ) औपनिषदिक चिन्तन में अपने पूर्णतम रूप में प्रकट हुई है। धर्म, अर्थ, काम के वैदिक लक्ष्य से एक कदम आगे जाते हुए उपनिषदों ने जीवन की समस्त जिज्ञासाओं का परम लक्ष्य मोक्ष को सिद्ध किया है।

3. उपनिषदों की शिक्षा के दो पहलू– सैद्धान्तिक और व्यावहारिक हैं। सैद्धान्तिक पहलू तीन मुद्दों की चर्चा करता है–

1. मानव का सार (आत्म), 2. जगत का सार (ब्रह्म), 3. आत्म और ब्रह्म में सम्बन्ध।

बोध प्रश्न 2

1. प्रत्येक वेद के चार भाग हैं– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्। संहिता में देव स्तुति के मन्त्र, ब्राह्मण में यज्ञ सम्बन्धी विचार, आरण्यक ध्यान उपासना से सम्बन्ध रखते हैं, और उपनिषद् दार्शनिक समस्याओं यथा– अस्तित्व की समस्या, इसका लक्ष्य एवं सत् का स्वरूप आदि की चर्चा करते हैं। संहिता से उपनिषद् तक के संक्रमण की तुलना कुहासा से किरण (सूर्यप्रकाश) तक के संक्रमण से की जा सकती है। मन्त्रों में जो निहितार्थ था वह दार्शनिक रूप में अभिधार्थ हो गया।

2. उपनिषद् सम्वादपरक हैं। प्रश्न–उत्तर, कहानियां–घटनाएं, उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि से विशेषित सम्वाद के माध्यम से प्रत्येक अवधारणा को विश्लेषित किया गया है। छान्दोग्य में पिता उद्दालक और पुत्र श्वेतकेतु, छान्दोग्य में सत्यकाम और उनकी माता जबला, बृहदारण्यक में प्रजापति और उनके पुत्र, कठ में यम और नचिकेता, छान्दोग्य में नारद और सनत्कुमार के मध्य सम्वाद दार्शनिक अवधारणाओं को विकसित करने के कुछ शास्त्रीय उदाहरण हैं। सम्वाद को दो तरह से देखा जा सकता है– एक तो प्रतिपक्षी के विचार में असंगति या आत्म–विरोध दिखाकर और दूसरा उच्च स्तर पर विरोध, को समाधान, लय या परिहार करना। उदाहरणार्थ, उद्दालक और नचिकेता के सम्वाद में, हम देखते हैं कि व्यवहार के अनुभवों से प्रारम्भ होता है। और व्यावहारिक स्तर या अनुभव की असंगतियों को सुलझाने के लिए पारमार्थिक स्तर पर जाते हैं। संक्षेप में, असंगतियों का परिहार आवश्यक है, फिर चाहे उच्चतर विचारों द्वारा या अपने समय के दार्शनिक के विचारों को मानकर। एक दूसरा तरीका कहानियां हैं। कहानी किसी अवधारणा को स्पष्टतः समझने में सहायक होती है और इसका उद्देश्य उस अवधारणा के नैतिक निहितार्थ को बताना होता है।

बोध प्रश्न 3

1. उपनिषद् की विषयवस्तु है–जगत् की उत्पत्ति, आत्म और शरीर की सत्ता, पुरुष और प्रकृति, ज्ञान, संसार का स्वरूप, बन्धन और मोक्ष इत्यादि। कुछ श्लोक मंत्ररूप में हैं, इनमें कहावतें, शिष्य–गुरु, पिता–पुत्र, देव और मनुष्य, पशु और मनुष्य के मध्य सम्वाद हैं। चर्चा के कुछ सिद्धान्त, संसार, कर्म, धर्म और मोक्ष हैं। ये तत्त्वमीमांसीय प्रकृति के सिद्धान्त हैं, जो भिन्न–भिन्न तरह से अधिकांश भारतीय धर्म और दर्शन का विषय रहा है। संसार पुनर्जन्म है, चाहे पशु, चाहे मनुष्य, चाहे देव रूप में, बस मृत्यु और जन्म के चक्र में।

कर्म का अच्छा या बुरा कोई भी परिणाम होता है। कर्म अगले जन्म की स्थितियों को निर्धारित करता है, जैसेकि हमारा वर्तमान जन्म पिछले जन्म के कर्मों से। इसमें कोई निर्णय या माफी नहीं है, बल्कि यह अपौरुषेय, स्वाभाविक और नित्य सांसारिक विधि है। जो अच्छा करेगा अच्छा जन्म पायेगा जो बुरा वो बुरा जन्म। धर्म का अर्थ है उचित व्यवहार या कर्तव्य, इसमें सामाजिक दायित्व की पूर्ति का विचार भी सम्मिलित है। प्रत्येक जाति का व्यक्ति कुछ निश्चित उत्तरदायित्व रखता है, जिसे उसका धर्म कहा जाता है। उदाहरणार्थ, क्षत्रिय का धर्म युद्ध में मृत्यु है, न कि बिस्तर पर मर जाना। अन्य शब्दों में, धर्म अपने कर्तव्यों का सर्वोत्तम ढंग से निर्वहन करना है। मोक्ष परम मुक्ति है। जन्म–मरण का अविरत चक्र बिना किसी परम लक्ष्य के है। स्थायी शान्ति इस चक्र में सम्भव नहीं क्योंकि बुरी परिस्थितियों में फिर जन्म लेना होगा। मोक्ष इस चक्र से मुक्ति है, इस अविरत घेरे से पलायन है।

2. ज्ञान या विद्या का परा और अपरा के रूप में विभाजन अनुभव की अवस्थाओं का क्रमशः उच्च और निम्न होना स्वीकारना है। इन दोनों विद्याओं के क्षेत्र क्रमशः पारमार्थिक एवं व्यावहारिक हैं।

3. स्वयं को जानने के लिए उपनिषदों में गहन विचार किया गया है । वस्तुनिष्ठ ढंग से वही सत् ब्रह्म और व्यक्तिनिष्ठ ढंग से आत्मा। आत्मा क्या है? आत्मा वह विषयी है जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मृत्यु, पुनर्जन्म, मुक्ति में एक समान रहता है। उपनिषद् कहते हैं कि हमारी सत्ता का मूल शरीर या मन न होकर आत्मा है। आत्म सभी प्राणियों का सारतत्त्व है। यह ध्यान से प्रत्यक्षतः अनुभव होता है। इसका प्रकटन तब होता है जब हम अपने अस्तित्व के गहनतम स्तर पर होते हैं। उपनिषद् आत्मा को सत्ता, ज्ञाता, मनोवैज्ञानिक सत्ता आदि कहते हैं। आत्मा ब्रह्म और जीव को संदर्भित करती है। ब्रह्म ही परम सत्ता है और सभी उसी का प्रतिबिम्ब। संसार में व्यक्ति परम में लय होता है। कर्मफल का घालमेल नहीं हो सकता, क्योंकि जीवात्माएं भिन्न अन्तःकरण, इन्द्रियों, अहं आदि से सम्बद्ध होने के कारण अलग–अलग हैं। आत्मा दैवीय मन का प्रतिनिधित्व करता है और सभी जीवात्माएं परम में हैं।

जीवात्मा का अर्थ है सीमित आत्म, जो शरीर, इन्द्रिय, मन की उपाधिवाला है। उपनिषदों का मत है कि एक ही आत्म विभिन्न जीवात्माओं में प्रकट है। ब्रह्म विश्व का अन्तर्भूत द्रव्य, अपरिवर्तनीय सत्ता, अस्तित्व का अबोधगम्य सार है। अमर, अपरिवर्तनीय बीज जो सबकुछ रचता है और स्थित करता है। यह सभी वर्णनों और बौद्धिक समझ से परे है। उपनिषदों की अन्तर्प्रज्ञा में आत्मा और ब्रह्म समान हैं या समान द्रव्य वाले हैं। जब कोई मोक्ष को उपलब्ध करता है, आत्मा अपने स्रोत ब्रह्म में वैसे ही लौट जाती है जैसे जलबूंद समुद्र में। यह भ्रम है कि हम विभक्त हैं, ऐक्य की अनुभूति से हम अंहकार, जन्म–मरण के चक्र और दुःख से मुक्त हो सकते हैं। मोक्ष का एक अर्थ है ब्रह्म में लय।

बोध प्रश्न 4

1. उपनिषदों का परम विषय मोक्ष है। यह जन्म–मरण के चक्र से और दुःखों से मुक्ति है। इसे अस्तित्व का परम लक्ष्य स्वीकारा जा सकता है। उपनिषदों में मोक्ष, जीवात्मा, मुक्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं। उपनिषदों के कई प्रसंगों के अनुसार, यह मुक्ति आत्म के सत्य ज्ञान से प्राप्त होता है। अतः, आत्म या आत्मा इच्छा और प्रेम का उच्चतम विषय है। मोक्ष प्राप्ति के अनेक उपाय हैं, ध्यान, अन्तःनिरीक्षण, यह ज्ञान

कि सभी रूपों, विषय–विषयी आदि के पीछे एक ही सत्ता है और हम उसी सम्पूर्ण के अंश हैं। उपनिषद् मानते हैं कि मनुष्य स्वभाव से जीव की तादात्म्यता, स्व निहित आत्म, और ब्रह्म के विषय में अज्ञानी है। ध्यान का एक लक्ष्य ब्रह्म से तादात्म्य की उपलब्धि है और यह इन्द्रिय–जगत से भ्रमात्मक तादात्म्य से उत्पन्न अज्ञान से मुक्ति है। शरीर, इन्द्रिय, मन, रूप–परिवर्तन, जन्म, मृत्यु, नाम रूप, क्रिया, विचार आदि उपाधियों से उत्पन्न अज्ञान के कारण जीव स्वयं को परमात्मा से भिन्न पाता है।

लेकिन जब ये भेद नष्ट हो जाते हैं, जीवन अद्वैत हो जाता है, जोकि परम सत्ता, परम कारण है। सत्य के ज्ञान से शरीर, नाम, रूप ब्रह्म में समाप्त हो जाते हैं। इस तादात्म्य के पश्चात कोई विशिष्ट चेतना नहीं रहती। जब तक द्वैत है, तब तक कोई गंध का अनुभव करता है, बोलता है, सोचता है, जानता है, और चेतना विषयी औए विषय में बंटी रहती है। जब पूर्ण एकत्व होता है, जब ज्ञान द्वारा द्वैत और अज्ञान नष्ट हो जाते हैं, तब देखने, सुनने, सोचने के साधन शेष नहीं रहते। यह पूर्ण एकात्म या एकत्व और अद्वैत की अवस्था है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 6 मोक्ष के विभिन्न उपागम[6]

रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 परिचय

6.2 अवलोकन

6.3 मूलभूत मुद्दों/अवधारणाओं पर विचार

6.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

6.5 सारांश

6.6 कुंजी शब्द

6.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में, आपसे मोक्ष से सम्बन्धित आवश्यक अवधारणाओं और इसके विभिन्न उपागमों को जानने की आशा की जाती है, जैसे कि :

- भारतीय दर्शन में 'मोक्ष' पद का अर्थ और इसका स्थान;
- भारतीय दर्शन में मोक्ष का प्रयोजनवादी आधार;
- कर्म का सिद्धांत और पुर्नजन्म;
- भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के मोक्ष पर विभिन्न दृष्टिकोण;
- मोक्ष के परम्परागत मार्ग – ज्ञान, कर्म, भक्ति एवं राजयोग;
- भारतीय विचारधारा के नैतिक आधार के रूप में मोक्ष।
- समन्वय योग;

6.1 परिचय

भारतीय दार्शनिक परम्परा दो समानान्तर धाराओं वैदिक और अवैदिक से मिलकर बनती है जो क्रमशः आस्तिक और नास्तिक विचारधारा के रूप में भी जानी जाती है। यद्यपि उनमें तत्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय और नैतिक विषय पर अनेक मतभेद पाये जाते हैं। फिर भी, मूल्यमीमांसीय दृष्टि से ये सभी (चार्वाक को छोड़कर) मुक्ति, मोक्ष एवं स्वतंत्रता के विचार को लक्ष्य बनाते हैं। हम इसे मानव जीवन का परम शुभ, अन्तिम पुरूषार्थ (परम कर्तव्य) के रूप में मोक्ष कह सकते हैं।

[6] श्री अजय जायसवाल, विद्या वाचस्पति शोधक दर्शन केन्द्र जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, अनुवादक– डॉ. अफजल अहमद

व्युत्पत्ति की दृष्टि से, मोक्ष संस्कृत मूल 'मुच' धातु से बना है जिसका अर्थ 'मुक्त होना' है। उपनिषदों में यह 'मुच्यते' या विमुक्ते के रूप में पाया जाता है। यहां मुक्ति को कम से कम तीन विभिन्न प्रकार से समझा जा सकता है, जो कि एक दूसरे के पूरक हैं। सौंदर्य की दृष्टि से, मोक्ष का अर्थ दुःखों से मुक्ति है, ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से यह अतींद्रिय अज्ञान (अविद्या) से मुक्ति है; और मृत्यु अथवा मनुष्य की अन्तिम नियति के सम्बन्ध में दैवी विद्याओं की दृष्टि अर्थात् परलोक विद्या की दृष्टि से यह कर्म–सिद्धान्त एवं पुर्नजन्म के चक्र से मुक्ति को सूचित करता है। भारतीय दार्शनिक शब्दावली में, मोक्ष के लिए दूसरी अवधारणायें (थोड़ी विभिन्नताओं के बावजूद) भी हैं – जैसे कि विमुक्ति (संदेह एवं विदेह), मुक्ति, अपवर्ग, निःश्रेयस, परमगति, ब्रह्मनुभय, निर्वाण, अर्हत् इत्यादि। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने उनकी अलग–अलग प्रकार से व्याख्या की है, और कई प्रकार के उपागमों का निर्धारण किया है। इस इकाई में, हमारा उद्देश्य मोक्ष की इन व्याख्याओं और मोक्ष के उपागमों एवं साथ ही इसकी दार्शनिक पूर्वधारणाओं को समझना है।

6.2 अवलोकन

भारतीय दर्शन का एक प्रयोजनमूलक (सार्वभौमिक) सुखवादी आधार है। प्रत्येक व्यक्ति किसी प्रयोजन को लेकर कर्म के लिए प्रेरित होता है। बिना प्रयोजन के मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होगा। चाहे ये उत्कृष्ट या निकृष्ट या ईश्वर ही क्यों न हो, इन सभी का कोई न कोई प्रयोजन या लक्ष्य होता है। यह परम लक्ष्य सुख एव आनन्द है। निषेधात्मक रूप से यह दुःखों के अंत को इंगित करता है। चार्वाक सुख की सम्भावना को मानते है भले ही यह अपनी प्रकृति में क्षणिक और प्रायः दुःख मिश्रित हो।

दुःखों का अन्त एवं अनन्त सुख की सम्भावना जीवित रहते नहीं है। फिर भी, दूसरे सम्प्रदाय इस सम्भावना की स्थापना करते हैं। ब्रह्मवादी विचार निश्चित करता है कि जब ब्रह्म की अनुभूति होती है तब मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्म का स्वभाव स्वयं सत् चित एवं आनन्द है, जो चिरस्थायी चेतन सुख है। जबकि बौद्ध विचारधारा में, सभी दुखों एवं अज्ञान से रहित स्थिति को परम अवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। वे इस परम लक्ष्य को निर्वाण कहते हैं।

पुनः हम देख सकते हैं कि भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का जीवन के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण है। अपने चिंतन का आरम्भ ये निराशावाद से करते हैं, फिर ये दिव्य आदर्श (चरम लक्ष्य) की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष पर अन्ततः समाप्त करते हैं। जबकि भारतीय भौतिकवादी सम्प्रदाय, चार्वाक का लक्ष्य जीवन से अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति करना है, और उनके लिए काम ही मोक्ष (परम लक्ष्य) है। जबकि ये पुर्नजन्म को नहीं मानते हैं। अतः ये एक अहंवादी या व्यक्तिपरक सुखवाद का प्रतिपादिन करते हैं। इस दृष्टिकोण का लक्ष्य व्यक्तिगत सुखों की अधिक से अधिक प्राप्ति है। यह नैतिकता को खतरे में डालता है; जबकि दूसरे भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय मोक्ष को व्यक्ति केन्द्रित सुखवाद के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं लेकिन एक उपयोगितावादी सुखवाद के रूप में करते हैं जहां कर्म–सिद्धांत एवं नैतिकता के लिए स्थान है। फिर भी, मानव जीवन के परम लक्ष्य के स्तर के रूप में मोक्ष की सराहना होती है जो कि, भारतीय दर्शन एवं नैतिकता के प्रयोजन मूलक आधार के रूप कार्य करता है। भारतीय दर्शन में (चार्वाक को छोड़कर) यह मोक्ष का प्रयोजन (अर्थात् परम लक्ष्य) या तो सकारात्मक रूप से, जहां यह परम आनन्द (सुख) का

द्योतक है या फिर निषेधात्मक रूप से, सभी दुखों का अन्त सार्वभौखिक रूप से अभिस्वीकृत है। अतः मोक्ष की अवधारणा का आधार आध्यात्मिक प्रयोजनवादी एवं सुखवादी है।

मोक्ष की अवधारणा से सम्बन्धित दूसरी मुख्य पूर्वधारणा कर्म–सिद्धांत है। पुनः परलोक विद्या के सन्दर्भ में, मोक्ष का अर्थ कर्म–सिद्धांत एवं पुर्नजन्म के चक्र से मुक्ति है। यह जीवात्मा पर कर्मों के संस्कार को पूर्ण रूप से नष्ट करने को महत्व प्रदान करता है। इसके आगे, कर्म–सिद्धांत, संक्षेप में, यह कारणता को सिद्धांत को मनुष्य के कर्म एवं नैतिकता के क्षेत्र पर लागू होता है। अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है और बुरे कर्म का बुरा फल (परिणाम) होता है।

कर्म के तीन प्रकार होते हैं –

1. संचित कर्म – कर्म जो संचित है एवं उनका फल अभी नहीं मिला है।
2. प्रारब्ध कर्म – पूर्व के कर्म, जिनका फल मिलना आरम्भ हो गया हैं
3. संचीयमान कर्म – वर्तमान के कर्म जिनका फल या तो अभी मिलेगा या फिर भविष्य में।

ये कर्म क्षणिक सुख उत्पन्न कर सकते है। किन्तु ये प्रायः सुख एवं दुःख से मिश्रित होते हैं। पुनः तीन प्रकार के दुख होते हैं –

1. आध्यात्मिक – किसी के द्वारा उत्पन्न किया गया भौतिक एवं मानसिक दुख
2. आधिभौतिक – दूसरे जीवों द्वारा दिया गया दुःख
3. आधिदैविक – प्राकृतिक शक्ति द्वारा दिया गया दुःख जैसे कि भूकम्प जनित आपदा।

एक व्यक्ति पुर्नजन्म एवं कर्म की श्रृंखला में बंधा हुआ होता है और व्यापक रूप से दुःख भोगता है। भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय, आस्तिक एवं नास्तिक दोनों, चार्वाक को छोड़कर, सर्वसम्मति से इस विचार पर सहमत हैं कि मानव दुःख का कारण कर्म–सिद्धांत है और मोक्ष इस दुःख का उचित प्रतिकार है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त स्थान का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर की जांच करें।

1. 'मोक्ष' पद का क्या अर्थ है?

....

....

....

....

....

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

2. मोक्ष की अवधारणा के दार्शनिक आधार को बताइये।

....

....

....

....

....

6.3 मूलभूत मुद्दों/अवधारणाओं पर विचार

यदि हम एक बार मोक्ष के प्रयोजनमूलक एवं सुखवादी आधार को समझ लें तो दर्शन के विद्यार्थी के रूप में अगली महत्वपूर्ण चुनौती, विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित मोक्ष की अवधारणाओं एवं इसकी सहकारी अवधारणाओं की विभिन्न व्याख्याओं को समझना है, और तत्पश्चात् मोक्ष के प्रधान उपागमों को प्रदर्शित करने वाली एक रूपरेखा तैयार करनी है। इस भाग में, हम वैदिक और अवैदिक दो मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत् इन मुख्य दार्शनिक मुद्दों को समाविष्ट करने का प्रयास करेंगे वे उपागम इस प्रकार हैं –

क) वैदिक उपागम

ज्ञान के शाश्वत एवं दिव्य स्रोत वेद के चार भाग हैं – मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद्। साधारण रूप से, यह प्रार्थना के प्रकृतिवादी स्रोतों के साथ शुरू होते हैं और उपनिषद् के दार्शनिक चिन्ह में इनका अवसान हो जाता है। सम्पूर्ण वेदों में मोक्ष की अवधारणा अस्त–व्यस्त रूप में है, जबकि इसके दार्शनिक आधार केवल उपनिषदों में पाये गये हैं। उपनिषद अमूर्त ज्ञान से परिपूर्ण हैं और जनसाधारण की समझ से बाहर हैं। इस प्रकार, छः दर्शन एवं भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में वेद के छः उपांग हैं। वे विभिन्न सन्दर्भों में वेद के सर्वोत्कृष्ट सार भाषा को प्रस्तुत करते हैं। फिर भी, उनमें से सभी, मोक्ष के वैदिक आदर्श की ओर ही संकेत करते हैं। आइये उनके विचारो को समझें–

1. न्याय वैशेषिक

न्याय दर्शन के मुख्य ग्रन्थ ऋषि गौतम के *न्यायसूत्र* में निःश्रेयस एवं अपवर्ग को मोक्ष का आदर्श कहा गया है। अपने प्रथम सूत्र में ग्रन्थ यह दावा करता है कि न्याय द्वारा प्रतिपादित सोलह पदार्थों के ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है। अतः दार्शनिक अज्ञान बन्धन का कारण है। अज्ञान से बुरे कर्म होते हैं जो दुख और पुर्नजन्म के परिणाम में बदल जाते हैं। इस क्रम के विपरीत *सम्यक्* ज्ञान (तत्वज्ञान) से अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

वैशेषिक दर्शन का मुख्य ग्रन्थ ऋषि कणाद का *वैशेषिक सूत्र* भी निःश्रेयस को मोक्ष के रूप में स्वीकार करता है, जहां *सम्यक्* ज्ञान के सदगुण द्वारा सभी दुःखों का अन्त हो जाता है। कणाद छः और पदार्थों को जोड़ते हैं जिनको जानना है, जो इस *सम्यक्* ज्ञान के विषय हैं। इसके पश्चात् कणाद ने अभ्युदय एवं निःश्रेयस की धारणाओं में निःश्रेयस को बढ़ाया, उसे वह धर्म के रूप में व्याख्यायित करते हैं। अभ्युदय भौतिक

और सामाजिक प्रगति है; और निःश्रेयस आध्यात्मिक वृद्धि या मोक्ष है। यहां दो बिन्दु उचित क्रम से सम्बन्धित हैं यह सुनिश्चित वैदिक मत है कि बिना उचित भौतिक और सामाजिक उत्थान के मोक्ष के बारे में सोचना व्यर्थ है। दूसरा सम्बन्ध इसकी सीमा से है कि किसी को भौतिक उन्नति में ही पूर्णतः संलग्न नहीं होना चाहिए जिसमें अनैतिक साधन भी हो सकते हैं। अनैतिक या अत्याधिक भौतिक सम्पन्नता में निःश्रेयस की प्राप्ति नहीं होगी। अतः दोनों एक दूसरे के सम्पूरक एवं अनुपूरक हैं और दोनों मिलकर धर्म का निर्माण करते हैं।

2. सांख्य–योग

ऋषि कपिल का सांख्य–सूत्र, मोक्ष को निषेधात्मक रूप में मानते हुए त्रिविध दुःखों (तीन प्रकार के दुःख जो ऊपर बताये गये) के अन्त आध्यात्मिक का वर्णन करता है। अन्य साधने केवल अस्थायी रूप से दुःखों को कम कर सकते है। केवल मोक्ष ही तीन प्रकार के दुःखों से स्थायी रूप से मुक्ति प्रदान कर सकता है। पुनः बन्धन का मूल कारण अज्ञान है। यहां, अज्ञान का निरूपण भ्रम के रूप में किया गया है जिसमें चेतन पुरुष जड़ प्रकृति से स्वयं को पृथक नही कर पाता। जब पुरुष प्रकृति से पूर्णतः अलग हो जाता है तब मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार, इसके कैवल्य (केवल भाव में) भी कहा जाता हैं

पंतजलि का *योगसूत्र* मोक्ष प्राप्ति के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल देता है। इसी के अनुरूप यह मन एवं शरीर को प्रशिक्षित करने की एक पद्धति प्रदान करता है। योग बाह्य विषयों की ओर उन्मुक्त तथा बिखरी हुई मानसिक अवस्थाओं का निरूपण चितवृत्ति के रूप में करता है जो कि पांच प्रकार की होती है। जब योग के अष्टांग मार्ग द्वारा वे नियंत्रित हो जाती है, तब यह समाधि या परम योग तक ले जाती है। इस प्रकार, योग चित की वृत्तियों का निरोध है, और इसकी शुद्ध अवस्था में कैवल्य की प्राप्ति होती है।

3. मीमांसा

कुमारिल और प्रभाकर मीमांसा के दो महान चिन्तक थे जैसा कि ऊपर चर्चा हुई कि वेद के चार भाग हैं मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। मीमांसा वेद के कर्मकांड सम्बन्धी पक्ष (मुख्यतः मंत्र एवं ब्रह्मण) पर केन्द्रित है। *जैमिनि सूत्र* में बताया गया है कि वैदिक यज्ञानुष्ठान का पालन करना धर्म का लक्षण है। वैदिक अनुष्ठान स्वर्गीय सुख प्रदान करते हैं जिसे मोक्ष का दर्जा दिया गया है।

4. वेदान्त

वेदान्त की कम से कम तीन साबद्ध व्याख्यायें है। पहली, यह सर्वप्रथम इसका आशय उपनिषदों की शिक्षा से है जो वेदों के अन्त में पायी जाती है और इसलिए यह वेदान्त कहलाते हैं। दूसरी, वैदिक शिक्षा का सार पाया जाता है इसकी ये वेदान्त कहलाते हैं। तीसरा उपनिषद की शिक्षायें ज्ञात की चरम अवस्था होने के नाते वेदान्त कहलाते हैं।

इसके अतिरिक्त, वेदान्त के तीन मुख्य स्रोत हैं, जिनके नाम हैं उपनिषद, *ब्रह्मसूत्र* और भगवद *गीता*, जिसे प्रस्थान त्रयी कहा जाता है। यद्यपि, प्रस्थान त्रयी की बहुत–सी व्याख्यायें हैं, फिर भी वे दो शीर्षक अनीश्वरवादी और ईश्वरवादी में वर्गीकृत की जा सकती हैं। पहली का शंकर के द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया है, और बाद का रामानुज, मध्व,

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

वल्लभ, निम्बार्क इत्यादि ने। मोक्ष की अवधारणा पर शंकर और रामानुज के बीच व्यापक रूप से वाद–विवाद हुआ है। संक्षेप में, उनके विचार निम्न प्रकार से हैं –

शंकर

शंकर ने अद्वैत के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, संक्षेप में जो बताती है कि परम सत् विषय एवं विषय से रहित अवस्था है जिसमें आत्मा और ब्रह्म का स्वयं पाया जाता है। उसका ध्येय वाक्य था –

ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् असत् (क्षीणक) है, क्योंकि निरन्तर परिवर्तनशील है और परमार्थिक सता स्तर पर जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। इस जीव मिथ्या होने की अनुभूति और इसका पूर्णतः परम ब्रह्म में मिल जाना ही मोक्ष की अनुभूति है। यह मुक्ति सशरीर (सदेह) अथवा मृत्यु के पश्चात् (विदेह) के रूप में हो सकती है। यह अनुभूति मूलभूत रूप से आध्यात्मिक ज्ञान का परिणाम है, जहां ज्ञाता और ज्ञेय का विलयन हो जाता है। इस प्रकार, मोक्ष की अवस्था किसी भी अनुभवजन्य गुण और विशिष्टताओं से रहित है। वास्तविक रूप से, इसका स्वरूप सत् चित् आनन्द है।

रामानुज

रामानुज और उनके समान विचारक जैसे मध्व और वल्लभ का मत है कि जगत् की वास्तविकता और ब्रह्म और जीव में भेद को कुछ दशा में स्वीकार करना होगा अन्यथा बन्धन और मुक्ति का प्रश्न व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार रामानुज विशिष्टाद्वैत (विशिष्ट अद्वैत) की स्थापना करते हैं और उनकी मोक्ष की अवधारणा भगवान विष्णु (ब्रह्म का सगुण रूप) के साथ शाश्वत संगति है। पूर्ण निर्गुण ब्रह्म दार्शनिक रूप से अकल्पनीय है। आगे मोक्ष में, कई प्रकार की अवस्थायें हैं, फिर भी, जीव ब्रह्म या विष्णु के साथ नहीं हो पाता है। दोनों के बीच आवश्यक रूप से अन्तर रहता है, जिससे शाश्वत दैवी लीला सम्भव हो पाती है।

ख) अवैदिक उपागम

भारतीय दर्शन के अवैदिक (नास्तिक) सम्प्रदायों ने भी मोक्ष की अवधारणा का वर्णन किया है। बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन के विचार संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं –

1. बौद्ध दर्शन

सार रूप में, बौद्ध दर्शन को बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार आर्य सत्यों में निरूपित किया जा सकता है –

1) दुःख –जगत् में दुःख है।
2) दुःख समुदाय – दुःख का कारण है।
3) दुःख निरोध – सभी दुःखों का निरोध सम्भव है निर्वाण की अवस्था।
4) दुःख निरोध मार्ग – दुःख के निरोध का मार्ग है (जब कारण नष्ट हो जाते हैं)

हम देख सकते हैं कि बौद्ध दर्शन का आरम्भ निराशावाद से होता है किन्तु इसका समापन निर्वाण की आशा में होता है। निर्वाण की अवस्था का निषेधात्मक रूप से, सभी अनुभूतियों की समाप्ति अथवा विराम के रूप में निरूपित किया गया है। यह वैयक्तिक आत्म का पूर्णतः

अंत (नैरात्म्यवाद) है। यद्यपि बुद्ध ने निर्वाण से सम्बधित कोई सकारात्मक वर्णन प्रस्तुत नहीं किया, वे इस पर मौन रहे, फिर भी बौद्ध दर्शन के बाद के चरण (विशेष रूप से विज्ञानवाद) में, रहस्यवादी चेतना के सम्बन्ध में हम कुछ सकारात्मक वर्णन भी पाते हैं।

2. जैन दर्शन

जैन दर्शन का विचार यह है कि जीव कर्म बन्धन के कारण दुःख में रहता है। आत्मा का अनन्त सुख का आन्तरिक स्वभाव *असम्यक्* ज्ञान और *असम्यक्* कर्म के द्वारा ढंक जाता है। इस कारण वे, मोक्ष ऐसी अवस्था है जहां सारे कर्म नष्ट हो पाते है और आत्मा अपना मूल अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाती है। इस अवस्था को 'जिनत्व अथवा 'अर्हत' कहा जाता है। जैन ग्रन्थों में मुक्ति के तीन मार्गों का उल्लेख किया गया है। जो इस प्रकार है –

1) सम्यक् दर्शन

2) सम्यक् ज्ञान

3) सम्यक् चरित्र

मोक्ष के उपागम

भारतीय दर्शन के विभिन्न वैदिक एवं अवैदिक सम्प्रदायों द्वारा मोक्ष की विभिन्न व्याख्याओं की रूपरेखा प्रस्तुत करने के पश्चात् अब हम मोक्ष के उपागमों के वर्गीकरण का प्रयास कर सकते हैं। साधारण रूप से, मोक्ष के चार मार्ग हैं जो इस प्रकार हैं –

1. कर्म–मार्ग

यह सम्यक् कर्म का मार्ग है जो साधक (मुमुक्ष) के लिए मोक्ष की सम्भावनाओं के द्वार खोलता है। मीमांसक वैदिक अनुष्ठान (यज्ञ) पर आधारित कर्म मार्ग के कट्टर समर्थक थे। मीमांसकों के अतिरिक्त, सम्यक् कर्म का मार्ग *गीता*, बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन के विचारों में भी महत्वपूर्ण रूप से स्वीकारा गया है। *गीता* के लिए, सम्यक् कर्म का अर्थ है फल की इच्छा से रहित कर्म (निष्कामकर्म)। फल की इच्छा व्यक्ति को बन्धन की ओर ले जाती है। फल की इच्छा का परित्याग परम शान्ति (मोक्ष) की ओर ले जाता है। अतः *गीता* कहती है कि कर्मयोगी को कर्म के परिणामों से स्वयं को मुक्त कर लेना चाहिए और कर्म के लिए कर्म करना चाहिए।

2. भक्ति मार्ग

यह भक्ति का मार्ग है जो परोपकारी एवं दयालु ईश्वर के रूप में उसे परम सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करता है और अत्यधिक प्रेम के साथ उस परम सत्ता के प्रति समर्पण करता है जो मोक्ष प्रदान करने में समर्थ है। भक्ति मार्ग में पूर्ण समर्पण, कर्त्तव्यभिमान शून्य कर्म (निष्काम कर्म), सेवा भाव और ईश्वर आराधना सम्मिलित है। वैष्णव पंथ भक्ति मार्ग का आदिप्रवर्तन है।

3. ज्ञान मार्ग

यह ज्ञान का मार्ग है यहां ज्ञान का तात्पर्य परमात्मा और जीवात्मा के ऐक्य का आध्यात्मिक ज्ञान से है। यहां यह विशेष ज्ञान मुक्ति के कारण का माध्यम बनता है। शंकर और सांख्य ज्ञान मार्ग के प्रमुख समर्थक हैं।

4. राजयोग

यह ध्यान का मार्ग है जिसमें चित्त और उसकी विभिन्न वृत्तियों एवं अस्थिरताओं को नियंत्रित किया जाता है और जिनका अन्त में, समाधि की परम अवस्था में विलय हो जाती है। योग दर्शन का अष्टांग मार्ग ध्यान मार्ग का एक प्रमुख प्रस्थान है। इसके अतिरिक्त, हम बौद्ध एवं जैन दर्शन में भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए ध्यान की अत्याधिक महत्ता को पाते हैं। आधुनिक भारतीय युग में, विवेकानन्द और महर्षि रमण जैसे ऋषियों द्वारा इसकी पुर्नव्याख्या की गई है।

6.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

मोक्ष की अवधारणा सम्बन्ध में, दार्शनिक प्रश्नों एवं उसके समाधनों को पूर्णरूप से तीन भिन्न वर्गों से समझा जा सकता है। पहला मोक्ष की सम्भावना से सम्बन्धित है। दुःख और दुःखमिश्रित सुख सामान्य मानव त्रासदी है जिसका अन्त मृत्यु होने पर होता है। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या दुःखों के पूर्ण अन्त एवं सकारात्मक रूप से प्रचुर आनन्द के साथ, अमरता की कोई सम्भावना है। दूसरे शब्दों में, क्या मोक्ष की कोई सम्भावना है? चार्वाक का उत्तर है कि मोक्ष की कोई सम्भावना नहीं है। स्थायी रूप से दुःखों का अन्त एवं स्थायी आनन्द की प्राप्ति एक भ्रम है। दूसरी ओर, चार्वाक इतर दार्शनिक (वैदिक एवं अवैदिक) या तो सकारात्मक रूप में या निषेधात्मक रूप में, मोक्ष की सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

दूसरी समस्या मोक्ष के स्वरूप और उससे सम्बन्धित विभिन्न व्याख्याओं से है। निर्विवाद रूप से, यह कर्म के सिद्धान्त एवं पुर्नजन्म के चक्र से मुक्ति के रूप में स्थापित किया गया है। जबकि दार्शनिक सम्प्रदाय मोक्ष के स्वरूप, ईश्वर की भूमिका और मोक्ष के लिए प्रयुक्त शब्दावली के सम्बन्ध में भिन्नता रखते हैं।

तीसरी, मोक्ष के उपागम एवं साधनों को समझना एक मुख्य चुनौती है। मोक्ष उपागम के सामान्य चार प्रकारों की हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। उनमें से प्रत्येक मानव की मनोवृत्ति के विशेष पक्ष पर महत्व देता है। फिर भी, यदि किसी को विभिन्न उपागमों के समन्वय की आवश्यकता हो, तो इस प्रकार के प्रस्ताव को समन्वय योग का नाम दिया जा सकता है जिसको *भगवद् गीता* द्वारा प्रतिपादित किया गया है। समन्वय योग उचित ज्ञान, उचित कर्म और उचित भक्ति को महत्व देता है – मोक्ष प्राप्ति के लिए ध्यान के साथ–साथ ये सभी महत्वपूर्ण हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त स्थान का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर की जांच करे

1. वैदिक सम्प्रदायों के अनुसार मोक्ष की अवधारणा को संक्षेप में व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

2. मोक्ष के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण क्या हो सकते हैं?

....

....

....

....

....

6.5 सारांश

सारांश में, मोक्ष की अवधारणा एवं उपागमों पर उपरोक्त चर्चा से हम कुछ निम्न दार्शनिक बिन्दु निकाल सकते हैं –

1. मोक्ष के विचार का एक प्रयोजनवादी एवं सुखवादी आधार है– एक प्रयोजनवादी सुखवादी मानव मनोवृत्ति का लक्ष्य अधिकतम सुख एवं न्यूनतम दुःख है।

2. विचारणीय प्रश्न यह है – क्या मोक्ष की कोई ऐसी सम्भावना है अर्थात् जहां दुःखों का स्थायी अन्त हो अथवा शाश्वत सुखों की प्राप्ति हो? इसका उत्तर दो प्रकार से है – चार्वाक मोक्ष की सम्भावना को अस्वीकार करता है और चार्वाक इतर (वैदिक एवं अवैदिक सम्प्रदाय) मोक्ष की इस प्रकार की स्थिति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

3. मोक्ष तथा इसके पदों जैसे मुक्ति विमुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग इत्यादि अनेक व्याख्यायें विद्यमान है, उनमें से सभी मोक्ष का या तो सकारात्मक रूप में या निषेधात्मक रूप से वर्णन करती है।

4. अन्त में, सामान्य रूप से मोक्ष के चार मार्ग एवं उपागम हैं – कर्म, भक्ति, ज्ञान और राजयोग। उन सभी ने मोक्ष के विभिन्न कारकों की महत्ता पर बल दिया है। उनमे से अनेक चिंतक यह स्वीकार करते हैं कि ये सभी एक दूसरे का पूरक एवं अनुपूरक है, और इस प्रकार, मोक्ष के समन्वयवादी उपागम को प्रस्तुत करते है जो कि समन्वय योग है।

6.6 कुंजी शब्द

अभ्युदय : सांसरिक उत्थान।

आस्तिक : वेद की प्रमाणिकता में विश्वास, इसके विपरीत नास्तिक वेद की प्रमाणीगत में।

अविद्या : अतीन्द्रय अज्ञान अथवा बन्धन का मूल कारण।

भक्ति योग : भक्ति के द्वारा मोक्ष का मार्ग।

चित्त वृत्ति : योग सूत्र में वर्णित पांच चित्त वृत्तियां।

सुखवाद : नैतिक दृष्टिकोण जिसका लक्ष्य अधिकतम सुख और न्यूनतम दुख है।

ज्ञान योग : ज्ञान द्वारा मोक्ष का मार्ग।

कर्म योग : उचित कर्मो द्वारा मोक्ष का मार्ग।

मोक्ष : मनोवैज्ञानिक ज्ञानमीमासीय, पारलौकिक रूप से दुख, तत्वमीमासीय अज्ञान और कर्म के चक्र एवं पुर्नजन्म से मुक्ति की अवस्था।

निःश्रेयस : परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष।

निर्गुण ब्रह्म : परम सत्ता के व्यक्तित्व शून्य और निराकार पक्ष को सूचित करता है। ब्रह्म के सृजनात्मक पहलू के साथ इसकी परस्पर तुलना की जा सकती है जो कि सगुण ब्रह्म है।

पुरूषार्थ : मानव जीवन के चार लक्ष्य – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष।

सदेह मुक्ति : शरीर के साथ मोक्ष की अवस्था, इसके विपरीत, विदेह मुक्ति मृत्यु के पश्चात मोक्ष।

समन्वय योग : यह ज्ञान, भक्ति, कर्म और राज योग का समन्वय है।

प्रयोजनवाद : यह दृष्टिकोण कि हर एक वस्तु प्रयोजन प्रेरित होती है।

वेदान्त : प्रस्थानवादी पर आधारित शिक्षा का निरूपण करता है, यह तीन मुख्य स्रोत (ग्रन्थ) मुख्यतः *उपनिषद, भगवद गीता* एवं *ब्रह्मसूत्र* है।

6.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

कुहन, हरमन. *कर्म द मैकेनिज्मः क्रियेट योर ओन फेट.* पुन्सटोर्फ, जर्मनी : फ्रासविंड पब्लिशिंग, 2001.

गविन, फलोड. *द मीनिंग एंड कॉन्टेक्ट आफ द पुरूषार्थ.* इन जुलियस लिपनर (एडि) *द फ्रूटस आफ अवर डीजाइरिंग,* 1996.

पॉटर, कार्ल एच. *प्रिसपॉजीशन ऑफ इण्डियाज फिलॉसोफीज.* प्रेन्टिस–हाल ऑफ इण्डिया (प्राइवेट) लि., 1965.

भगवद् गीता (सेलिस्टियल सांग). सर इडविन अरनोल्ड. पेगुइंन रैंडम हाउस साउथ, 2018.

दया कृष्ण. "थ्री मिथ्स अबाउट इण्डियन फिलॉसोफी." इन इण्डियन फिलॉसोफीः *अ काउन्टर पर्स्पेक्टिव,* 3–15. देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1991.

दया कृष्ण. "थ्री कन्सेप्शन ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी." इन *इण्डियन फिलॉसोफीः अ काउन्टर पर्स्पेक्टिव,* 16–34. देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1991.

मतिलाल, बिमल कृष्ण. *माइन्ड, लैंग्वेज एण्ड वर्ल्ड,* एडिटिड बाई जॉनार्डन गनेरी एण्ड हीरामन तिवारी. न्यू यॉर्कः स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू यॉर्क प्रेस, 1998.

राधाकृष्णन्, एस. *इण्डियन फिलॉसफी,* सैकेण्ड एडिशन. जार्ज एलिन एन्ड अनविन, 1931.

राधाकृष्णन, एस.. *प्रिंसपल उपनिषद.* न्यूयार्क : हार्पर कोलिंग्स, 1963.

शर्मा, सी. डी. *ए क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलॉसफी.* देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 1990.

शर्मा, अरविन्द. "द पुरुषार्थास: एन अक्जियोलोजिकल एक्सप्लोरेशन्स ऑफ हिन्दुइज्म." *द जर्नल ऑफ रिलिजियस एथिक्स.* 27 / 2 (1999). एसेस्ड 18/08/2020 https://www.jstor.org/stable/40018229?seq=1

शर्मा अरविन्द. "द पुरुषार्थास: अ स्टडी इन हिन्दु अक्जियोलोजी." ईस्ट लांसिंग मिच: एशियन स्टडीज सेन्टर, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी, 1982.

हिरियण्णा, एम. *पॉपुलर एस्सेज इन इण्डियन फिलॉसोफी.* मैसूर: काव्यालय पब्लिसर्श, 1952.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

चट्टोपाध्याय, देवीप्रसाद. *भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत.* अनुवाद– कन्हैया. नई दिल्ली: पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 2007.

दयाकृष्ण. *भारतीय दर्शन: एक नई दृष्टि.* जयपुर: रावत पब्लिकेशनस, 2000.

दया कृष्ण. *भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराएं.* सम्पादक– योगेश गुप्ता. जयपुर: राजस्थान विश्वविद्यालय एवं लिटरेरी सर्किल, 2006.

दासगुप्त, सुरेन्द नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्ली: राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण.* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2005.

हिरियण्णा, एम. *भारतीय दर्शन की रूपरेखा.* हिन्दी अनुवाद– गोवर्धन भट्ट आदि दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1969.

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. मोक्ष पद मूल रूप से मुच् या मुच्यते शब्द से निकला है जिसका अर्थ मुक्त या स्वतंत्र होना है। पहली बार यह उपनिषदों में आया है उदाहरण हेतु साविद्या या विमुक्ते (ज्ञान जो मुक्त कराये)। ज्ञानमीमांसीय रूप इसका अर्थ अज्ञान से मुक्ति है और परलोक विद्या के रूप में, इसका अर्थ कर्म नियम और जन्म मरण के चक्र से मुक्त होना है। भारतीय दर्शन में अन्य कुछ ऐसे भी समान पद है जो मोक्ष की अवस्था को सूचित करते है जैसे कि मुक्ति, विमुक्ति, अपवर्ग, नि:श्रेयस, निर्वाण, परमानन्द इत्यादि।

2. मोक्ष की अवधारणा का प्रयोजनवादी और सुखवादी आधार है। प्रयोजनवादी से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रयोजन प्रेरित है। इसके आगे, कोई प्रश्न पूछ सकता है कि वह परम लक्ष्य (परम शुभ) क्या हो सकता है? भारतीय ऋषियों ने आनन्द के सन्दर्भ में इसको उत्तर देने का प्रयास किया है। मोक्ष के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न

यह है कि क्या स्थायी सुख (आनन्द) या दुखों के स्थायी अन्त की कोई सम्भावना है? भारतीय दर्शन के दार्शनिक सम्प्रदायों (चार्वाक को छोड़कर) ने इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया है और इस प्रकार हमारे पास मोक्ष की विभिन्न अवधारणायें एवं उपागम हैं।

बोध प्रश्न 2

1. वैदिक दार्शनिक सम्प्रदाय अस्तिक दर्शन के रूप में जाने जाते हैं जिनकी संख्या छः है – न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत। ये सभी न्यूनाधिक रूप से मोक्ष की अवस्था पर विचार करते हैं। न्याय–वैशेषिक की दृष्टि से यह चौथे एवं अन्तिम पुरुषार्थ (मानव जीवन का लक्ष्य) के रूप में पहचाना गया है। उनके लिए यह निश्चित तत्व–मीमांसीय पदार्थों के सम्यक् ज्ञान (प्रमा) पर निर्भर करता है। सांख्य के लिए, मोक्ष कैवल्य की स्थिति है अर्थात् विश्व की प्रकृति (अ) चेतना के तत्वों से पुरूष (चेतन) का केवल भाव में होना। मोक्ष के सम्बन्ध में योग का दृष्टिकोण भी कैवल्य के रूप में पुरूष की अनुभूति पर केन्द्रित है, किन्तु यह कठोर नैतिक नियमों के पालन के साथ–साथ यह मन और शरीर के समय के कठोर अनुशासन की अपेक्षा रखता है। मीमांसकों के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति धर्म से होती है जो कि वैदिक कर्मकांडों का अनुकरण है। उनके लिए यज्ञ के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति, धर्म की कसोटी होनी चाहिए। वेदान्त के दार्शनिकों जैसे शंकर के लिए ब्रह्म और आत्मा के अद्वैत की परम अनुभूति मोक्ष की अवस्था है। ईश्वरवादी वेदान्त दार्शनिक जैसे रामानुज के लिए सगुण ब्रह्म (व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर) के प्रति भक्ति एवं निस्वार्थ शरणागति, मोक्ष की प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण है। इसके आगे, उनके लिए जीव का ब्रह्म के साथ पूर्ण एकत्व मोक्ष नहीं है कुछ अंतराल हमेशा छूटा रहता है, जिसके अन्दर दैवी सत्ता के साक्षात दर्शन या अपरोक्षानुभूति की गुंजाइश बनी रहती है।

2. भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा मोक्ष के विभिन्न प्रकार के उपागमों का वर्णन किया है, जिनकों चार वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहला कर्म मार्ग, जो कहता है कि उचित/नैतिक कर्म मोक्ष की प्राप्ति में मुख्य भूमिका निभाते है। इसके आगे, *गीता* भी मोक्ष की प्राप्ति हेतु कर्तव्यों को निःस्वार्थ भाव (निष्काम कर्म) से करने का समर्थन करती है। दूसरा भक्ति मार्ग है, जो दैवीय कृपा की शक्तिशाली भूमिका और एक वैयक्तिक ईश्वर (जोकि विष्णु या कृष्ण) द्वारा रूपांतरित सहायता पर बल देता है। जब एक भक्त ईश्वर के प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाता है तब उसे इस कृपा की प्राप्ति होती है। तीसरा, ज्ञान मार्ग जो मोक्ष की प्राप्ति हेतु ज्ञान की भूमिका को मुख्य कारक के रूप में बल देता है। बन्धन का कारण अज्ञान है अतः ज्ञान ही इसका उचित उपचार है। शंकर और सांख्य ज्ञान मार्ग के मुख्य समर्थक थे। चौथा ध्यान मार्ग है, जो कि राजयोग है पंतजलि के योग सूत्र में इसका विशद विवेचन किया गया है। इसने एक नियंत्रित मन (चित्त वृत्ति) की शक्तियों के महत्व पर बल दिया। योग या समाधि को चित्त वृत्ति के विरोध के रूप में वर्णित किया गया है। कोई भी समाधि की परम अवस्था में मोक्ष की अवस्था की कल्पना कर सकता है।

   ये सभी उपागम मोक्ष की प्राप्ति की मुख्य अवस्थाओं पर प्रकाश डालते हैं। फिर भी कुछ ग्रन्थ और विद्वानों ने इन उपागमों के समन्वय करने का प्रयास किया है। *भगवद गीता* इस प्रकार के समन्वय का एक श्रेष्ठ उदाहरण है जो किसी व्यक्ति के भौतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण के लिए कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की भूमिका का वर्णन करती है। यह उपागम समन्वय योग कहलाता है।

इकाई 7 प्रश्न उपनिषद्[7]

रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 परिचय

7.2 प्रश्न उपनिषद्: अवलोकन

7.3 प्रथम प्रश्न : समस्त प्राणियों का स्रोत

7.4 द्वितीय प्रश्न : प्राण: प्राणियों का आश्रय

7.5 तृतीय प्रश्न : प्राण और मानवीय शरीर

7.6 चतुर्थ प्रश्न : प्राण और चेतना की अवस्थाएं

7.7 पंचम प्रश्न : ॐ पर ध्यान

7.8 षष्ठम् प्रश्न : पुरुष का अस्तित्व

7.9 सारांश

7.10 कुंजी शब्द

7.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

7.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

यह अध्याय *प्रश्नोपनिषद्* का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है। यह *प्रश्नोपनिषद्* की मुख्य अवधारणाओं की रूपरेखा खींचता है और उनके दार्शनिक महत्त्व को रेखांकित करता है।

7.1 परिचय

उपनिषद् वेद का तीसरा वर्गीकरण है, जिसका विषय दार्शनिक, धार्मिक और रहस्यात्मक विचार है। इसके पूर्व के भाग मन्त्र और ब्राह्मण कहलाते हैं जिनके विषय क्रमश: देव–स्तुति और यज्ञानुष्ठान हैं। इस प्रकार ये तीनों (मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्) कवि, पुरोहित और दार्शनिक की अभिव्यक्तियां हैं।

वेद के दो महत्त्वपूर्ण विभाग हैं, जिनमें से पहला कर्मकाण्ड कहलाता है। इस विभाग में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं, जिसका अनुसरण एक बहुत बड़ी संख्या में लोग करते हैं, जिनका उद्देश्य आनुष्ठानिक स्तुतियों एवं यज्ञ–विधानों के द्वारा धार्मिक पुण्य प्राप्त करना होता है। दूसरा विभाग ज्ञान–काण्ड कहलाता है। यह ज्ञान का विभाग है जिसमें परम–तत्त्व के वेद–सम्मत प्रकाशना का उल्लेख है, इसके अन्तर्गत् उपनिषद् आते हैं।

[7]श्री दीपक कुमार सेठी, विद्या वाचस्पति शोधक दर्शन केन्द्र जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, अनुवाद– डॉ. अफज़ल अहमद

यजुर्वेद से सम्बद्ध *मुण्डकोपनिषद्* में उपनिषदों की संख्या 108 बताई गई है। इसमें *ऐतरेय* और *कौषीतकि उपनिषद् ऋग्वेद* से, *छान्दोग्य* और *केन सामवेद* से, *ईश* और *बृहदारण्यक शुक्लयजुर्वेद* से, तथा *मुण्डक, प्रश्न* और *माण्डूक्य अथर्ववेद* से सम्बन्धित हैं।

यहाँ हमारी चर्चा का प्रधान विषय *प्रश्न उपनिषद्* है, जिसका सम्बन्ध *अथर्ववेद* से है।

7.2 प्रश्न उपनिषद् : अवलोकन

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद से सम्बन्धित है, यह अथर्ववेद के महत्त्वपूर्ण शाखाओं में से एक पैप्पलाद शाखा से सम्बन्धित है। ब्रह्मविद्या का ज्ञान लेने आये छः ऋषियों के द्वारा ऋषि पिप्पलाद से पूछे जाने वाले छः प्रश्नों के कारण इस उपनिषद् का नाम *प्रश्नोपनिषद्* पड़ा। पिप्पलाद का वर्णन इस उपनिषद् में एक महान शिक्षक के रूप में हुआ है। आचार्य शंकर इसे *ब्राह्मण* कहते हैं और इसे *अथर्ववेद* से ही सम्बद्ध *मुण्डकोपनिषद्* का पूरक बताते हैं। इसमें कुल 6 अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय एक प्रश्न से आरंभ होता है। सत्य को जानने के इच्छुक 6 ऋषि महान दृष्टा पिप्पलाद के पास गए। ये 6 ऋषि थे– सुकेश, शैव्य, सत्यकाम, अश्वलपुत्र गार्ग्य, विदर्भ के भार्गव, कबन्ध कात्यायन। उनके द्वारा पूछे गये प्रश्न इस प्रकार हैं पहला प्रश्न सृजित प्राणियों की उत्पत्ति से सम्बन्धित है, दूसरा प्रश्न मानव–व्यक्तित्व के संघटकों से जुड़ा हुआ है। तीसरा प्रश्न प्राण की उत्पत्ति और स्वभाव से जुड़ा हुआ है, चौथे का सम्बन्ध मानव–व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक पक्ष से है। पांचवा प्रश्न प्रणव से जुड़ा हुआ है और छठा प्रश्न मनुष्य के तत्त्वमीमांसीय स्वरुप से जुड़ा हुआ है। *तैत्तिरीय उपनिषद्* की तरह यह भी क्रमशः जीवन के स्थूल तत्त्व से होते हुए सूक्ष्म तत्त्व पर विचार करता है, और इस प्रकार एक–एक करके जड़–तत्त्व की उन सारी तहों को खोल देता है जो आत्मा को स्वरुप से ढंके होती हैं। केवल इसी उपनिषद् में यह उल्लेख मिलता है कि जड़–तत्त्व और आत्मा के संयोग से यह सृष्टि होती है। यह उपनिषद् आत्मा पर आरोपित विभिन्न स्तरों या तलों को मिटा देता है और आत्मा के वास्तविक स्वरुप का पता लगाने का प्रयास करता है। यह जीवात्मा की पहचान परम पुरुष से स्थापित कर जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप को परिभाषित करता है। जीवात्मा से परम पुरुष की यह पहचान, शरीर के साथ इसके आरोपित पहचान के नष्ट होने से ही संभव हो पाता है। आइए अब प्रश्न और उत्तर के संदर्भ में प्रवेश करें।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. उपनिषद् पद का क्या अर्थ है?

....

....

....

....

....

2. यह उपनिषद् 'प्रश्न उपनिषद्' क्यों कहलाता है?

....

....

....

....

....

7.3 प्रथम प्रश्न : समस्त प्राणियों का स्रोत

प्रथम प्रश्न कात्यायन कबन्धि ने मुनि पिप्पलाद से यह किया, "ऋषिवर , जीवों की उत्पत्ति कहां से होती है?" अथवा "ये सारे जीव किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं?" तब पिप्पलाद ने उसे उत्तर दिया, "प्रजापति में जीवों के सृजन की कामना हुई। उसने तप किया, उसने जड़ (रयि) और जीवन(प्राण) को यह सोचते हुए उत्पन्न किया कि ये दोनों उसके लिये बहुत प्रकार से जीवों का सृजन करेंगे।" यहां प्राण बोध–संवेदन का तत्त्व या शक्ति है जो गति प्रदान करती है और रयि प्रकृति है जो बहुत सारे रुपों को सृजित करती है और धारण करती है। समष्टि और व्यष्टि प्रकृति के सभी घटक रयि कहलाते हैं। अत्याधुनिक भाषा में इसे जीवन–उर्जा और जड़–तत्त्व कह सकते हैं। इन दोनों के संयोग अथवा ऐक्य से सृष्टि उत्पन्न होती है। ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुएं इन्ही दो तत्त्वों से निर्मित हुई हैं। इसके आगे होने वाली चर्चा रहस्यवाद से परिपूर्ण है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि सृष्टा ने सूर्य और चन्द्रमा तथा नर एवं मादा को जीवों की उत्पत्ति के लिये सृजित किया। सूर्य को जीवों के जीवन से समीकृत किया जा सकता है। सूर्य इस पृथ्वी पर श्वसन–चक्र का मूर्त स्रोत है। प्रकाश का प्रदाता और प्रेरक होकर सूर्य, प्राण के रुप में विद्यमान रहता है। सूर्य से प्रकाशित और प्रेरित चन्द्रमा रयि का प्रतीक है। उनका कथन है कि जो तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक आत्मा को पाने चाहते हैं वे सूर्य को अधिगत कर लेंगे, यह जीवन–वायु का आधार है। यह अमर और भयरहित है। वह अन्तिम लक्ष्य है। वहाँ से वे वापस नहीं लौटते। इसके अनुसार प्रेरक उर्जा के स्रोत सूर्य की साधनापूर्वक साधक परमात्मा से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस प्रक्रिया में तप और ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है। यह अन्न को नित्य पिता कहता है क्योंकि यह उर्जा और प्रजनन की क्षमता प्रदान करता है। अन्न प्रजापति है, इससे जीवों की उत्पत्ति होती है। अन्न जीवों का साक्षात स्रोत है। यह महत्त्वपूर्ण है कि परिवार नियोजन की संकल्पना के बहुत पहले ही *प्रश्नोपनिषद्* में हम यौन–सम्बन्ध से जुड़े नियम देखते हैं। इस सम्बन्ध में प्रजापति के नियम का जो पालन करते हैं उन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। जो तप और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उन्हें सत्य की प्राप्ति होती है। यह पवित्र ब्रह्मलोक उनके लिए है, जिनमें छल–कपट, असत्य और माया का अभाव होता है।

7.4 द्वितीय प्रश्न : प्राणः प्राणियों का आश्रय

दूसरे प्रश्नकर्ता विदर्भदेशीय भार्गव हैं, इसका सम्बन्ध व्यक्तिनिष्ठ शक्तियों और उनमें से सबसे प्रधान कौन है, इससे है। भार्गव प्रश्न करते हैं, "प्राणियों को कितने देव धारण करते

हैं और उनमें से कौन इस शरीर को प्रकाशित करता है और उनमें से कौन सबसे श्रेष्ठ है?" इसका तात्पर्य है कि कौन से देवता इस जीव–संसार का पोषण करते हैं ? कितने देवता इस जगत् को प्रकाशित करते हैं? और उनमें से सबसे शक्तिशाली कौन है?

पिप्पलाद इसका उत्तर देते हैं, "आकाश यह देवता है, और वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाक्, मनस, आंख और कान। चूंकि ये शरीर को प्रकाशित करते हैं अतः वे अपने अभिमान को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि ये हम हैं जो शरीर को धारण करते हैं और इसका पोषण करते हैं। यहाँ पिप्पलाद सबसे पहले महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की गणना करते हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, वाणी, मन, चक्षु एवं कर्णेन्द्रिय। किन्तु क्या ये देवता हैं? इसके बाद सजीव तत्त्व प्राण की गणना की जाती है, नये और पुराने सभी भाष्यकार जिसकी समता श्वास के साथ स्थापित करते हैं । प्राण का आशय जीवन–तत्त्व से है, यह जीवन–ऊर्जा जो सजीवों को निर्जीवों से अलग करती है। प्राण को इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है, जब प्राण ने उन्हें छोड़ा तो ये उपरोक्त शक्तिहीन हो गये। प्राण के बिना वे अस्तित्वहीन से हो गये। उन सभी जीवों में प्राण ही जीवन ही का स्रोत है। दूसरे तत्त्वों और शक्तियों ने प्राण की प्रशंसा करते हुए कहा, "जिस प्रकार चक्र के धुरी में सभी अरे मिले हुए होते हैं, उसी प्रकार हर एक वस्तु तुमसे जुड़ी है। सभी देवताओं के मध्य तुम सर्वाधिक शक्तिशाली एवं प्रखर हो। तुम सत्य यथार्थ एवं ऋषियों की चिरन्तन प्रज्ञा हो। हे प्राण! जब तुम बरसते हो तो प्राणी प्रसन्नता से नाच उठते हैं क्योंकि उन्हें प्रचुर अन्न प्राप्त होता है, तुम शुद्धता हो तथा अस्तित्व के स्वामी, माता और पिता हो। तुम जीवों के शरीर, दृष्टि और वाणी में अधिष्ठित हो, तुम हमारा त्याग मत करो। जैसे मां अपने संतान की रक्षा करती है, वैसे तुम मेरी रक्षा करो। हमें अन्न, सौभाग्य, सौन्दर्य और प्रज्ञा प्रदान करो। प्राण तथा अन्य तत्त्वों के मध्य चलने वाले इस संवाद में महर्षि पिप्पलाद ने उद्धृत किया है–इस बात पर बल दिया गया है कि जीवन–तत्त्व अथवा जीवन–ऊर्जा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है, जिसके अभाव में यह संसार रुक जायेगा।

7.5 तृतीय प्रश्न : प्राण और मानव शरीर

यह तीसरा प्रश्न अश्वलपुत्र ऋषि कौशल्य के द्वारा पूछा गया है। प्रश्न इस प्रकार है, "हे भगवन् ! यह जीवन कहां से जन्म लेता है? यह इस शरीर में किस प्रकार प्रवेश करता है?

प्राण किस प्रकार उत्पन्न होता है? यह प्राणियों के शरीर में किस प्रकार प्रवेश करता है? यह अपनी उर्जा का विभाजन विभिन्न शरीर के अंगों में किस प्रकार करता है? शरीर से इसका निष्क्रमण किस प्रकार होता है? शरीर से बाहर यह किस प्रकार अस्तित्वमान रहता है? यह अन्दर किस प्रकार बना रहता है? ऋषि पिप्पलाद उत्तर देते हैं, "तुमने बहुत से कठिन प्रश्नों को पूछा है। क्योंकि तुम बहुत पवित्र हो इसलिए तुमसे कहूंगा। ऋषि पिप्पलाद कहते हैं यह अच्छा प्रश्न है किन्तु इसका उत्तर देना कठिन है। जिस प्रकार राजा राजकर्मचारियों को कुछ चिन्हित स्थलों की देखभाल के लिये कहता है। उसी प्रकार प्राण भी विभिन्न कार्यों को अपने विभिन्न उपभागों में बांट देता है। प्रधान प्राण का स्थान आंख, नाक, कान और मुंह होता है। मध्य प्राण शरीर के मध्य भाग में स्थित होता है। निम्न प्राण नीचे के अंगों में अवस्थित रहता है। आत्मा हृदय में अवस्थित होता है और यहां 101 नाड़ियां होती हैं, हर नाड़ियों में सैकड़ों शाखायें होती हैं, और हर शाखा की 72,000 उपशाखाएं होती हैं जिनसे प्राण स्पन्दित होता है।

यूनानी चिकित्साशास्त्र से बहुत पहले ह्रदय की संरचना का विवरण यहाँ प्राप्त होता है। ह्रदय की संरचना और रक्तवाहिनी नाड़ियों का यह विवरण ऋषियों की अन्तःप्रज्ञात्मक विधि का उल्लेखनीय उदाहरण है। जहाँ विज्ञान असिद्ध हो जाता है वहाँ यही विधि उपादेय होती है।

तीसरे प्रश्न के उत्तर को सारबद्ध करके पिप्पलाद कहते हैं, "प्राण, तथा जीव से इसके सम्बन्ध, शरीर को शक्ति प्रदान करने की इसकी क्षमता एवं परम शक्ति से इसके सम्बन्ध को समझने से अमरता को प्राप्त करने में सहायता मिलती है। यह तीसरा प्रश्न मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक पड़ताल है, यह आश्चर्यजनक है कि प्राचीन काल की सभ्यताओं में केवल भारत के चिन्तकों ने इसको पता लगाने की महत्ता को समझा कि मनुष्य इस ग्रह पर किस प्रकार प्रकट हुआ। प्राणियों सहित इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? यह एक सृष्टि थी अथवा एक संयोग? ऋषि इसे संयोग नहीं मानते थे। बिना किसी सन्देह के यह एक सृष्टि थी। उनके अनुसार जो जगत् की उत्पत्ति, प्रसार, अधिष्ठान और इसके पांच भागों में वर्गीकरण को जानते हैं, उसके पास प्राण का ज्ञान है और वह अमरता को प्राप्त करता है।

7.6 चतुर्थ प्रश्न : प्राण और चेतना की अवस्थाएं

अब सूर्यकुल के गार्ग्य के द्वारा चौथा प्रश्न पूछा जाता है। इस पुरुष में कौन सोता है और कौन जागता, तथा कौन देव स्वप्न देखता है? किसे यह सुख अनुभव होता है और किसमें यह प्रतिष्ठित है? प्रश्न को इसप्रकार रखा जा सकता है। एक सोते हुए मनुष्य के शरीर में विद्यमान विभिन्न देवताओं की क्या स्थिति होती है? उसमें से कौन सोते रहता है और कौन जागते रहता है और कौन स्वप्न देखता है, कौन सुख का अनुभव करता है, ये किसको अपना आश्रय बनाते हैं? यह एक अद्भुत प्रश्न है। इसके उत्तर में पिप्पलाद सूर्य के किरणों का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, उनके अनुसार जब सूर्यास्त होता है तो किरणें उर्जा के स्रोत में विलीन हो जाती हैं। इसी प्रकार प्रगाढ़ अवस्था में इन्द्रियां परम–तत्त्व में विलीन हो जाती हैं। इसके बाद काव्यात्मक ढंग से पिप्पलाद कहते हैं– जिस प्रकार चिड़ियां रात होने पर अपने आश्रय वृक्ष पर लौट आती हैं, उसी प्रकार सभी इन्द्रियां परम पुरुष को लौट आती हैं।

तत्पश्चात्, सुप्ति अवस्था के विषय में पिप्पलाद कहते हैं, "सोते समय, स्वप्न की अवस्था में जाग्रत् अवस्था में अनुभव की गई वस्तुओं को ही अनुभव करता है। जाग्रत् अवस्था में देखी गई वस्तुओं के चित्र खींचता है, यह जो कुछ सुनता और अनुभव करता, जो भू–दृश्य इसके देखें हुए या अनदेखे हैं, सबकुछ जो इसे ज्ञात है या अज्ञात है, यह उसके चित्र खींचता है। मनोविज्ञान के इतिहास में स्वप्नों की व्याख्या का यह पहला प्रयास कहा जा सकता है। पिप्पलाद अपनी रहस्यवादी शिक्षा को जारी रखते हुए कहते हैं, "पाँच तत्त्व, दस इन्द्रियां, मन, अहंकार, इन्द्रिय–विषय स्पर्श, रस, रुप, गन्ध और शब्द, बुद्धि और सब जो यह समझती है, ह्रदय और जो सब जो यह अनुभव करता है, प्रकाश और जो कुछ प्रकाशित होता है, यह सब कुछ परम सत्ता के द्वारा नियन्त्रित होता है।" यह परम सत्ता दृष्टा है। यह सभी वस्तुओं को स्पर्श करती है, सभी का रसास्वाद करती है, सभी का अनुभव करती है। यह कर्त्ता है। यह ज्ञाता है। इसका विनाश नहीं होता। जो इस छायारहित, रंगरहित, शरीररहित, द्युतिमान, अविनाशी परम तत्त्व को समझता है, वह सबकुछ जानता है। ऐसा मनुष्य अमर है। और अन्त में यह कहता है, "हे पुत्र! जो इस अविनाशी को जानता है, जिसमें सारे देव, जीवन–प्राण और तत्त्व आरोपित हैं, वह वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड को जानता है।" उपरोक्त वाक्य

का अर्थ है कि जो अविनाशी प्राण और तत्त्वों को जानता है, वह वस्तुतः सब कुछ जानता है। वह सब कुछ जानता है जो कुछ जानने योग्य है।

7.7 पंचम प्रश्न : ॐ पर ध्यान

शैव्य सत्यकाम पिप्पलाद से पूछते हैं, "हे भगवन! मनुष्यों में जो जीवनपर्यन्त ओंकार का चिन्तन करते हैं, वह ऐसा करके किस लोक को जीत लेता है?

ऋषि उत्तर देते हैं कि ओंकार अविनाशी शब्द है। यह पूर्ण ब्रह्म का सूचक है। जो बुद्धिमान व्यक्ति इसका चिन्तन करता है, वो सभी लोकों को पा लेता है। यदि कोई व्यक्ति इस शब्द के किसी एक अक्षर पर भी ध्यान लगाता है तो वह महान प्रगति को प्राप्त करता है। वह महान आनन्द का अनुभव करता है। ओंकार के दो अक्षरों का उच्चारण करके, यजुर्वेद की स्तुतियों की कृपा से व्यक्ति उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है और स्वर्गलोक को जाता है। किन्तु वह लौट आता है। किन्तु जो ओंकार के तीनों अक्षरों का एक साथ चिन्तन करता है, वह सूर्य और शक्ति के उच्चतम लोक को प्राप्त होता है। उसके सारे पाप कट जाते हैं। वह भौतिक और आध्यात्मिक सभी कर्मों को कुशलतापूर्वक करता है। इसी से मिलता–जुलता प्रकरण *माण्डूक्य उपनिषद* में भी पाया जाता है, जहां ओंकार की महिमा का वर्णन किया गया है।

7.8 षष्ठम् प्रश्न : पुरुष का अस्तित्व

भारद्वाज सुकेश पिप्पलाद से पूछते हैं, "भगवन! कौशल देश के राजा हिरण्यनाभ ने मुझसे आकर यह प्रश्न पूछा था, "क्या तू सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानता है? मैंने उत्तर दिया कि मैं उसे नहीं जानता, क्योंकि यदि मैं उसे जानता, तो मैं तुम्हें अवश्य उसके विषय में बताता, मैं तुमसे झूठ नहीं कह सकता क्योंकि जो असत्य भाषण करता है, वह जड़ से सूख जाता है, इतना कहकर वह चुपचाप चला गया। अब मैं आपसे उसके विषय में पूछता हूं कि वह पुरुष कौन है?" उपरोक्त कथन का आशय यह है कि कौशल के राजा ने मुझसे पूछा कि क्या मैं सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानता हूँ, मैंने उत्तर दिया कि नहीं जानता हूं क्या आप इसका उत्तर दे सकते हैं?

पिप्पलाद ने उत्तर दिया, "वत्स! यहां भी वह पुरुष विद्यमान है, प्रत्येक जीव के अन्तरतम में वह विद्यमान है, क्योंकि उसमें ही सोलह कलाओं का जन्म होता है।" वह परम पुरुष प्रत्येक जीव के शरीर के अन्दर विद्यमान है। स्रष्टा ने जगत् की सृष्टि के समय विचार किया कि इस शरीर में ऐसा क्या है जिसके चले जाने पर मैं भी चला जाऊंगा और जिसके बने रहने पर मैं भी बना रहूंगा। तब उसने प्राण रचा, और फिर प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्न को, अन्न, वीर्य, और उससे सब कुछ अस्तित्व में आया। तप, मन्त्र, कर्म और लोकों को और लोकों में नाम को उत्पन्न किया। जैसे नदी सागर में मिलकर उसमें विलीन हो जाती है और अपने नाम–रूप की पहचान खो देती है उसी प्रकार से जीवात्मा परमात्मा में अपनी पहचान मिटा देता है, परमात्मा चक्के की नाभि की तरह है जिसमें सारे अरे आकर मिले होते हैं, जब कोई परम पुरुष को जान लेता है तो वह परम पुरुष में विलीन हो जाता है। परम पुरुष से ही सब कुछ उत्पन्न होता है और परम पुरुष में ही सबकुछ अन्त में विलीन हो जाता है। यह आत्मा हमें अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाने में सहायता करती है। शरीर से हमारे आत्मा की मिथ्या पहचान ही अज्ञान है और

आत्मा की परमात्मा से पहचान ही ज्ञान है। यह परम पुरुष अपने स्वरुप में एक, अखण्ड और अविभाज्य सत्ता है। जीवात्मा का नानात्व या अनेक होने का भाव अज्ञान और माया है। नानारुप जीवात्मा जब परम पुरुष में विलीन हो जाता है तो वह एक, अखण्ड अविभाज्य सत्ता वाला हो जाता है।

अपने प्रश्नों का उत्तर सुनकर, उन्होंनें प्रशंसा की और कहा, "आप वास्तव में हमारे पिता हैं। आप हमें अज्ञान से पार किनारे ले आये हैं।"

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. प्राण से क्या तात्पर्य है?

....

....

....

....

....

2. तादात्म्यता से क्या तात्पर्य है?

....

....

....

....

....

7.9 सारांश

प्रश्नोपनिषद् का आरम्भ सृष्टि अथवा इस विश्व में सजीव और निर्जीव सत्ताओं की उत्पत्ति तथा इसका अवसान परम पुरुष की धारणा से होता है जिससे मुक्ति संभव होती है। जीवात्मा की वास्तविक पहचान परम पुरुष ही है। *प्रश्नोपनिषद्* के अनुसार, प्राण सजीव को निर्जीव से अलग करता है, प्राण अपने वास्तविक स्वरूप में शुद्ध चेतना, स्वप्रकाश, स्वयं–प्रमाण और अविकारी है। सजीव अपना स्वभाव जन्म के समय ग्रहण करता है। यह सत्ता का उपाधिकृत स्वभाव है। इसका वास्तविक स्वरुप अज्ञान के आवरण से ढंका हुआ है और सतत विद्यमान है। इस प्रकार सत्ता का वास्तविक स्वरुप वह पाना है जो वह पहले से है। मुक्ति का अर्थ परम पुरुष से एकात्म स्थापित करना है। जीवात्मा का परम पुरुष के साथ एकात्म स्थापित हो जाने के बाद जीवात्मा परमात्मा में विलीन होकर परमात्मा ही हो जाता है। यह परम पुरुष अद्वैतस्वरुप है और इसजगत् का प्रत्येक प्राणी मुक्त होकर उसी में विलीन हो जाता है।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

7.10 कुंजी शब्द

ज्ञान काण्ड	:	वेद का ज्ञान से सम्बन्धित भाग (आत्मा की प्रकृति, विश्व का कारण, मोक्ष इत्यादि की चर्चा करने वाला भाग)
ब्रह्म विद्या	:	संस्कृत शब्द ब्रह्म और विद्या से व्युत्पन्न, शास्त्रीय ज्ञान की वह शाखा जिसमें परमसत्ता का अध्ययन किया जाता है।
प्राण	:	सांस लेना, जीवित रहना।
रयि	:	जड़ (प्रकृति)
माया	:	अभिप्रायार्थ, भ्रम या जादू। माया शब्द के भारतीय दर्शन में प्रसंगानुसार अनेक अर्थ हैं।
ॐ	:	उपनिषदों में वर्णित पवित्र ध्वनि और आध्यात्मिक प्रतीक। यह परम सत्ता के सार, चेतना या ब्रह्म को विशेषित करता है।

7.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

जोशी, के. एल., ओ. एन. बिमल एण्ड बिन्दिया त्रिवेदी. *112 उपनिषद्स*, वोल. 2. देल्हीः परिमल प्रकाशन, 2006.

डायसन, पॉल. *सिक्स्टी उपनिषद्स ऑफ द वेद*, वोल. 2, ट्रान्स. वी. एम. बेडेकर एण्ड जी. बी. पल्सुले. न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1987.

तत्वानन्द, स्वामी. *उपनिषदिक स्टोरीज एण्ड देयर सिग्निफिकेन्स*. कलडीः श्री रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, 1988.

देसाई, आर. जी. उपनिषद्सः *एन्शियन्ट विज्डम ऑफ इण्डिया*. मुम्बईः द एशियन एज पब्लिशर्स लि., 2006.

शर्मा, शुभ्रा. *लाइफ इन द उपनिषद्स*. न्यू देल्हीः अभिनव पब्लिकेशनस, 1985.

श्री ऑरोबिन्दो. *एट उपनिषद्स*. पॉण्डिचेरीः श्री ऑरोबिन्दो आश्रम, 1953.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

प्रश्नोपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुरः गीताप्रेस, विक्रम सम्वत् 2066,

7.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. ऐतेरेय उपनिषद् में, उपनिषद् शब्द समीप बैठने के अर्थ में प्रयुक्त है। उपनिषद् शब्द तीन शब्दों, उप–नि–सद् से मिलकर बना है, उप का अर्थ है समीपता, नि का अर्थ है, ज्ञान के प्रति अग्रसर होना और धातु सद् के तीन अर्थ हैं– नष्ट होना, पहुँचना या प्राप्त करना और ढीला पड़ना। द्वितीयतः, उपनिषद् का अर्थ है वह पुस्तक जो ब्रह्म ज्ञान की चर्चा करती है। कुछ विद्वान उपनिषद् का अर्थ है नीचे समीप बैठना करते हैं। गुरु के समीप बैठे शिष्य ज्ञान प्राप्त करते हैं या अपने संदेहों की चर्चा करते हैं।

2. यह प्रश्न उपनिषद् कहलाता है, क्योंकि इस उपनिषद् का मर्म प्रश्न हैं। प्रश्न उपनिषद् छह प्रश्नों और उनके उत्तरों को केन्द्रिय रूप में रखता है, इसलिए इसका नाम ऐसा प्रसिद्ध हुआ। वे प्रश्न हैं; जीवन कैसे आरम्भ हुआ? जीवित कौन है? मनुष्य की प्रकृति क्या है और ऐसी प्रकृति क्यों है? मानव किससे सिद्ध है? ध्यान क्या है और क्यों करना चाहिए? मानव में अमरत्व क्या है?

बोध प्रश्न 2

1. प्राण शरीर का सूक्ष्म तत्व है। इसका दृश्यमान वायु है और अदृश्य वह शक्ति है जो शरीर में प्रवाहित है और इसे धारण करती है। यह हमारे जीवन और गति के लिए उत्तरदायी है। प्राण के बिना जीवित नहीं रहा जा सकता है। प्राण अन्नमय कोष को मनोमय कोष से जोड़ता है। प्राण से गति है। प्राण से ही कोई प्राणी जीवित कहलाता है, अन्यथा अजीवित (मृत) कहलाता है।

2. 'तादात्म्य' की दार्शनिक अवधारणा इसे वह सम्बन्ध मानती है, जो एक व्यक्ति स्वयं से या स्वयं के सादृश्य (या समरूप) के साथ रखता है। इसके कारण ही कोई व्यक्ति जीवनपर्यन्त पहचाना जा पाता है। प्रश्न उपनिषद् में, इस ब्रह्माण्ड सभी प्राणियों का तादात्म्य ब्रह्म से माना गया है। यह जीवात्मा और परमात्मा के मध्य का तादात्म्य है। तादात्म्यता इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक की प्रतिभिज्ञा है, जोकि परमसत्ता के मूल में विराजित है। नाम और रूप का भेद परम सत्ता से तादात्म्यता के पश्चात् परिसमाप्त हो जाता है।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 8 मुण्डक उपनिषद्[8]

रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 परिचय

8.2 मुण्डकोपनिषद् का दर्शन

8.3 अपराविद्याः निम्न ज्ञान

8.4 पराविद्याः आत्म ज्ञान

8.5 ब्रह्मः ब्रह्माण्ड का कारण

8.6 कारण–कार्य सिद्धांत

8.7 ब्रह्मः आदि कारण

8.8 ब्रह्म की प्रकृति

8.9 आत्मा की प्रकृति

8.10 जीव तथा ब्रह्म की तादात्म्यता

8.11 ब्रह्म की अनुभूति के साधन

8.12 आत्मानुभूति के साधन

8.13 सारांश

8.14 कुंजी शब्द

8.15 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

8.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

- उपनिषदों की सर्वोत्तम शिक्षा 'ज्ञान का भंडार' है। लम्बे समय से यह ज्ञान सक्षम गुरुओं द्वारा योग्य शिष्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी दिया जाता रहा है। अन्य शब्दों में, यह ज्ञान केवल शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली में ही प्रदान किया जाता था जहाँ शिष्य अपने गुरु की वाणी से निकले ज्ञान के इस भण्डार को सुनकर अपने में समाहित कर लेते थे। इस इकाई में विद्यार्थी;
- *मुण्डक उपनिषद्* के भव्य उपदेशों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- ज्ञानार्जन के आकांक्षी सत् की अपनी समझ को और गूढ़ बनाने में सक्षम होंगे।
- यह जानेंगे कि ब्रह्म विद्या या परम ही मुण्डक उपनिषद् के उपदेशों का मुख्य उद्देश्य है।

[8] डॉ जॉन पीटर, सं. एन्टोनीज महाविद्यालय, कोटागिरि, अनुवाद– डॉ. आर. एस. दूबा, दिल्ली

8.1 परिचय

मुण्डकोपनिषद् की उत्पत्ति *अथर्व वेद* से हुई है। यह बहुत रहस्यवादी उपनिषद् है।

शब्द 'मुण्डक' से तात्पर्य मुंडा हुआ सिर है। इस उपनिषद् के उपदेश मुंडे हुए सिर के समान आत्मा के ऊपर पड़े अज्ञानता के पर्दे को हटा देते हैं। इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं जो आगे दो खण्डों में विभाजित होते हैं। *मुण्डकोपनिषद्* में लगभग साठ श्लोक हैं। प्रथम अध्याय में उपदेशों की महानता तथा प्रथम खण्ड में उपदेशों की पद्धति का वर्णन किया गया है। दूसरे खण्ड में अपरा विद्या, अर्थात् अनुष्ठानों का निम्न ज्ञान, मुंडन तथा लौकिक क्रियाओं की व्याख्या की गई है। दूसरा अध्याय, ब्रह्मांड की उत्पत्ति के कारण के रूप में ब्रह्म को स्थापित करने तथा जीव एवं जगत् के कार्य–कारण सिद्धांत से संबंधित है। तीसरा अध्याय, आत्म–ज्ञान प्राप्त करने के साधनों तथा माध्यमों और मोक्ष के लिए आत्म–ज्ञान के महत्व पर चर्चा करता है।

8.2 मुण्डकोपनिषद् का दर्शन

मुण्डकोपनिषद् में गुरु अंगिरस ने तपस्वी शौनक को ऐसा ज्ञान, जिसे जानने के पश्चात् कुछ भी जानने को शेष नहीं रहता है, के ज्ञान का उपदेष दिया है। *मुण्डकोपनिषद्* में भेद तथा विरक्ति के माध्यम से आत्म–ज्ञान के विषय पर सुव्यवस्थित दृष्टिकोण से विचार किया गया है। *मुण्डकोपनिषद्* में आत्म–ज्ञान के संबंध में विस्तार से चर्चा की गई है तथा इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। यहाँ परम सत् के सर्वोच्च ज्ञान तथा अनुभूतिमूलक संसार के निम्नतर ज्ञान के बीच सुस्पष्ट अंतर प्रस्तुत किया गया है। कोई व्यक्ति केवल उच्चतर ज्ञान के माध्यम से ही परम सत् को प्राप्त कर सकता है, न कि जगत् तथा अनुष्ठानों के निम्न ज्ञान द्वारा। आत्म–ज्ञान की शिक्षा परा तथा अपरा विद्या में ज्ञान के विभाजन से आरम्भ होती है। इस उपनिषद् में अपरा विद्या के संबंध में आरम्भ विस्तार से चर्चा की गई है।

गुरु परम्परा की महान विरासत, आगामी युगों की मुख शिष्य परम्परा, आत्मावलोकन के ज्ञान को आगे बढ़ाती है। स्वयं ब्रह्म के द्वारा आत्म ज्ञान का प्रतिपादन किया गया। इस ज्ञान को सर्वप्रथम अथर्व ऋषि को प्रदान किया गया था। अथर्व उनका ज्येष्ठ पुत्र एवं मानस पुत्र भी था। इससे ज्ञानार्जन की गुरु–शिष्य परम्परा आरम्भ हुई। अथर्व ने इसकी शिक्षा अंगि को दी। अंगि ने यह ज्ञान आगे भारद्वाज वंश के ऋषि सत्यावाह को प्रदान किया। *मुण्डकोपनिषद्* के वर्तमान ज्ञाता अंगिरस ऋषि ने इस ज्ञान को सत्यवाहा से सीखा। शौनक ने अंगिरस से यह ज्ञान सीखने के लिए यज्ञ किए तथा अनेक व्यक्तियों को भोजन कराया। उन्होंने स्वयं को नम्रतापूर्वक गुरु के चरणों में *नतमस्तक* करते हुए पूछा 'हे गुरु, कृपया मुझे उस सत्य का ज्ञान प्रदान करें जिसे जानकर मुझे सर्व के ज्ञान की प्राप्ति हो जाए'। गुरु ने उन्हें बताया कि ज्ञान के दो चरण हैं, परा विद्या तथा अपरा विद्या।

8.3 अपराविद्याः निम्न ज्ञान

अपराविद्या छः शाखाओं सहित चार वेदों यथा, ऋक्, यजुर्, साम तथा अथर्व वेदों का प्रथम भाग है। इनका ज्ञान भौतिक लाभों को प्राप्त करने के लिए है। भौतिक जगत् का सम्पूर्ण

ज्ञान अपरा विद्या (भौतिक पदार्थों का ज्ञान) के अन्तर्गत् आता है। वेदों का उपासना खण्ड मानसिक क्रियाओं, जैसे ध्यान से सम्बन्धित है। ये दोनों शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएं और इनसे प्राप्त व इनके स्वयं के प्राप्त ज्ञान अपरा विद्या के अन्तर्गत् आते हैं। इनका ज्ञान व्यक्ति को क्षणिक–जगत् की ओर ले जाता है। प्रत्येक अनुष्ठान व्यक्ति को अनुष्ठान का लाभ प्रदान करता है। उपनिषद् मनीषियों के अनुसार वेद मन्त्रों में उल्लेखित अनुष्ठान कार्य तथा उनके फल यदि पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पन्न किये जाये तो सत्य होते हैं।

अग्निहोत्र नामक अनुष्ठान एक अत्यंत प्रसिद्ध अनुष्ठान है तथा इसे नित्य किया जाता है। यह माना जाता है कि यह सदियों से जांचा–परखा अनुष्ठान है। यह निश्चित है कि जो व्यक्ति इस अनुष्ठान को करता है उसे वांछित फल प्राप्त होते हैं। उपनिषद्, इस अनुष्ठान के विवरण सहित उन विचलनों तथा असावधानियों का उल्लेख प्रस्तुत करता है जिनसे अनुष्ठान के दौरान बचा जाना चाहिए। इस विवरण का उद्देश्य, अनुष्ठान के दौरान 'क्या करें क्या न करें' की जटिलताओं का उल्लेख करना है। यहाँ तक कि अनुष्ठान करने के स्थान तथा दिशा का भी उल्लेख किया गया है। उत्तर तथा दक्षिण दिशा के मध्य होम कुंड (अग्नि–स्थल) तैयार किया जाता है। अनुष्ठानकर्ता को अपना चेहरा पूर्व की ओर करके बैठना होता है। वांछित फल, अनुष्ठान के सावधानीपूर्वक निष्पादन पर निर्भर करता है। इन अनुष्ठानों को उचित रूप से न किए जाने पर वांछित फल प्राप्त नहीं होते हैं। अनुष्ठान की क्रियाएं केवल उचित ढंग से प्रज्जवलित अग्नि ज्वालाओं में ही की जा सकती हैं। वांछित फलों के प्रकार के आधार पर ये अनुष्ठान दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार का अनुष्ठान व्यक्ति द्वारा जीवन के दौरान वांछित फल प्राप्त किए जाने के लिए किया जाता है। द्वितीय प्रकार का अनुष्ठान उच्चतम जगत् जैसे की स्वर्ग की प्राप्ति, जिसे केवल मृत्यु के पश्चात प्राप्त किया जा सकता है, के लिए किया जाता है। अग्निहोत्र अनुष्ठान अन्य सभी अनुष्ठानों जैसे की समाज–सेवा, धर्मार्थ के कार्य, प्रार्थना तथा तीर्थयात्रा इत्यादि का भी प्रतिपादन करता है। यदि इन्हें वांछित इच्छा के साथ किया जाता है तो लोगों को इससे अवश्य ही लाभ प्राप्त होता है।

अनुष्ठान क्रियाओं के परिणाम

अनुष्ठान क्रियाओं तथा उनके लाभों का ब्यौरा प्रस्तुत करके उपनिषद् लोगों को लौकिक तथा अलौकिक आनन्दों की क्षणिकप्रकृति का ज्ञान प्रदान करता है। सीमित तथा अल्पकालीन परिणाम अनन्त नहीं हैं। केवल अज्ञानी व्यक्ति ही इन्हें अनन्त मानता है। यदि कोई अनुष्ठानकर्ता स्वयं को बुद्धिमान तथा पथप्रदर्शक मानता है तो वह मूर्ख है। अनुष्ठानों को करने वाले व्यक्ति जो स्वयं को बुद्धिमान समझते हैं, वे उन नेत्रहीन व्यक्तियों द्वारा बिना किसी इच्छा के भी किए जा सकते हैं जिन्हें किसी भौतिक आनन्द की इच्छा न हो। ऐसे व्यक्ति प्रकाशमयी मार्ग, शुक्लगति, ब्रह्मलोक को जाते हैं और अन्ततः आत्म–ज्ञान व मोक्ष को प्रप्त करते हैं। अनुष्ठान क्रियाओं में यदि विचार पर ध्यान केन्द्रित न किया जाए तो अनुष्ठानकर्ता केवल अनित्य तथा क्षणभंगुर जगत् में ही रहते हैं। अनुष्ठान का ज्ञान एवं उसकी क्रिया का वर्णन, जिसे अपरा विद्या या सीमित ज्ञान कहते हैं, हमें उच्चतर ज्ञान परा विद्या के क्षेत्र में ले आता है।

8.4 पराविद्याः आत्मज्ञान

पराविद्या आत्म–ज्ञान का वह माध्यम है जिसके द्वारा अनश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है।

आत्म ही सभी प्रारम्भों का स्रोत है। यह शाश्वत है, सर्वव्यापी किन्तु सूक्ष्म, अनश्वर, अदृश्य तथा अज्ञान है। पराविद्या मन की शुद्धि के द्वारा परम सत् की ओर ले जाती है। भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने व उनसे अलग होने का अनुभव पीड़ादायी होता है। इन वस्तुओं से प्राप्त आनन्द क्षणिक व अवास्तविक होता है। यह क्षणिक पीड़ा व आनन्द व्यक्ति को अपराविद्या के दोषों से अवगत करता है। एक सच्चा शिष्य ऐसे तत्व की तलाश करता है जो सभी सीमाओं से मुक्त हो।

8.5 ब्रह्मः ब्रह्माण्ड का कारण

इस उपनिषद् प्रथम खण्ड के दूसरे अध्याय में जगत् के मूल तत्व के रूप में ब्रह्म का वर्णन किया गया है। ब्रह्म का सम्बन्ध जगत् के साथ कार्य–कारण सम्बन्ध के समान माना गया है। ब्रह्म को जगत् के भौतिक व बौद्धिक मूल तत्व के रूप में माना गया है अर्थात् निमित्त कर्म या उपादान कर्म। ब्रह्म को जगत् के भौतिक मूल तत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए मकड़ी तथा उसके जाले का उदाहरण दिया गया है। इसके अन्य उदाहरण हैं; स्वर्ण और आभूषण, मिट्टी और बर्तन, सागर और लहरें। उपनिषद् एक मूलतत्व और अनेक प्रभावों का वर्णन करने के लिए अग्नि तथा चिंगारियों का उदाहरण प्रस्तुत करता है। अग्नि की प्रकृति, जैसे ताप व प्रकाश दोनों, चिंगारियों में भी पाई जाती है। गैर–अनिवार्य गुण जैसे नाम व आकार, रंग, अग्नि तथा चिंगारियों में भिन्न होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म अनेक जगत् रूपी प्रभावों का एक मात्र कारण है। ब्रह्म तथा जगत् की मूल प्रकृति समान है किन्तु गैर–अनिवार्य प्रकृति भिन्न है। जैसे चिंगारी स्वयं ही अग्नि में लीन हो जाती है। तथा यह अग्नि के बिना स्वतः प्रज्वलित नहीं हो सकती। उसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म के बिना प्रकट नहीं हो सकता और यह अन्ततः ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है।

पुनः कार्य–कारण सम्बन्ध का वर्णन करते हुए उपनिषद् कहता है कि कार्य सदैव कारक–तत्व पर निर्भर करता है जबकि कारक–तत्व स्वतंत्र रहता है। कार्य अपने तत्व, उत्पत्ति, स्थिति तथा विखण्डन के लिए कारक–तत्व पर निर्भर करता है, जबकि कारक स्वयं के लिए एक स्वतंत्र तत्व तथा स्वःअस्तित्व–धारक है। किन्तु कार्यों का कोई स्वतत्व नहीं होता। उनमें केवल रूप, नाम, क्रिया तथा परिवर्तन होता है। चेतन ब्रह्म तथा निष्क्रिय जगत् के कारण–कार्य का आगे और वर्णन करते हुए मानव शरीर तथा उसके अक्रिय बाल तथा नाखूनों का उदाहरण दिया गया है। अग्नि तथा चिंगारी के पूर्ववर्ती उदाहरण में इनके बीच का सम्बन्ध भौतिक वस्तु से भौतिक वस्तु का सम्बन्ध था। यहाँ सम्बन्ध चेतन सिद्ध ांत तथा अचेतन सिद्धान्त का है।

ब्रह्म एक कारक तत्व है जबकि इसके प्रभाव अनेक हैं। प्रभावों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह मिथ्या है। ब्रह्म स्वतंत्र रूप से विद्यमान है और यह ही एक मात्र सत् तत्व है। ब्रह्म में उत्पत्ति, अस्तित्व तथा विनाश, प्रत्येक क्षण उपस्थित रहता है। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है तथाजगत् निष्क्रिय एवं भौतिक तत्व है। ब्रह्म चैतन्य है तथा यह अपने इस 'होने' के साथ अपने सभी जगतीय कार्यों में विद्यमान होता है। जिस प्रकार आभूषण को उसके मूल तत्व स्वर्ण से पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जगत् को भी ब्रह्म से अलग नहीं किया जा सकता।

8.6 कारण–कार्य सिद्धांत

ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्म के बीच के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए यह कहा जाता है कि कारण सदैव प्रभाव में विद्यमान होता है। सत्कार्यवाद कारणता का वह सिद्धांत है जो कारण में कार्य की पूर्व उपस्थिति पर विश्वास करता है। ब्रह्माण्ड की प्रत्यक्ष रूप से उत्पत्ति से पूर्व ही ब्रह्म द्वारा इसकी आवश्यकता तथा इसके ज्ञान की कल्पना कर ली गई थी। ब्रह्माण्ड का नाम तथा रूप पहले से ब्रह्म सम्भावित रूप से विद्यमान था। वेदान्त की भाषा में वास्तविकता में जगत् का कोई विकास या संरचना कभी नहीं होती अपितु सदैव जगत् के रूप में ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। जगत् का निर्माण किन्ही नई वस्तुओं से नहीं हुआ है। भौतिक जगत् वास्तव में पूर्व सम्भाव्य आकारिक जगत् का प्रक्षेपण मात्र है। इस प्रकार संसार का सृजन चार चरणों में हुआ है; प्रथम चरण में पांच तत्व–अंतरिक्ष, वायु, अग्नि जल तथा पृथ्वी की कल्पना की गई। दूसरे चरण में 'अहम्' तथा 'मन' लाए गए। तीसरे चरण में पांच मूल तत्वों का सृजन निश्चित अनुपातों में सूक्ष्म तत्वों के मिश्रण द्वारा किया गया। अन्ततः स्थूल शरीर प्रकट हुए।

8.7 ब्रह्मः आदि कारण

वेदों में निर्धारित सभी यज्ञों में किए जाने वाले अनुष्ठानों की उत्पत्ति भी ब्रह्म से हुई है। उपनिषद् के अनुसार यज्ञ से संबंधित प्रत्येक कार्य, दीक्षा, एक प्रकार की घास, जिसे अनुष्ठानकर्ता अनुष्ठान के समय धारण करता है, उसकी पत्नी, यज्ञ की अग्नि, यज्ञीय पशु के बांधने का स्थान, यज्ञीय सामाग्रियां, दान–दक्षिणा, गाय आदि सब ब्रह्म से ही आते हैं। यहां तक कि अनुष्ठान क्रिया की गुणवत्ता तथा यज्ञ के लाभों का आनन्द भी ब्रह्म से ही प्राप्त होता है। उपनिषद् आगे अन्य सदगुणों तथा विभिन्न प्रकार के जीवों, जैसे अलौकिक जीव, विभिन्न स्तरों के भगवान, अनुष्ठान के लिए प्रेरणा, धर्मग्रंथों तथा गुरुओं में आस्था, यज्ञ में प्रयोग होने वाले अनाज, जीवन–शक्ति, मवेशी, पक्षी, तपस्या तथा भक्ति, यज्ञों में प्रयोग होने वाले यंत्र तथा आचार संहिता का वर्णन करता है। ये सभी तत्व भी उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म से प्राप्त होते हैं। वस्तुएं तथा दो नेत्रों, दो कानों, दो नासिकाओं, एक मुंह तथा एक जीभ के संवेदी अनुभव ब्रह्म के प्रभाव से ही उत्पन्न होते हैं। महासागर, सभी पर्वत, सभी प्रकार की नदियां तथा पेड़–पौधे, सभी उन्हीं द्वारा सृजित किए जाते हैं।

आगे, यह बताते हुए कि परम सत् ही सभी जीवों का स्रोत है, उपनिषद् तीन सादृश्यों, यथा मकड़ी और जाल, पृथ्वी और उसके उत्पाद्य, मानव शरीर और उसके अंग का उदाहरण प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार जाल का निमित्त तथा उपादान कारण मकड़ी है, उसी प्रकार ब्रह्म ब्रह्माण्ड के कारण–तत्व रूप में बौद्धिक तथा भौतिक (निमित्त और उपादान) दोनों कारण हैं। पृथ्वी एक कारण है जो विभिन्न प्रकार के पौधों व पेड़ों को जन्म देती है। मानव शरीर, जिसे सजीव तथा सचेत माना जाता है, निष्क्रिय बाल तथा नाखून को जन्म देता है। जब इन्हें काटा जाता है तो किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता है। जिस प्रकार अकेला चेतन ब्रह्म विभिन्न (अचेतन) कार्यों को उत्पन्न करता है उसी प्रकार चेतना निष्क्रिय भौतिक जगत् को उत्पन्न करती है।

ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति जगत् की विविधता से पूर्व स्वयं ब्रह्म में संभाव्यता के रूप में विद्यमान थी। ठीक उस बीज के समान जिसमें भविष्य में पेड़ बनने की सम्भावना रहती है।

ब्रह्म ने विश्व की परिकल्पना, तपस; यह ज्ञान की विश्व का सृजन किस रूप में और कैसे किया जाए, के रूप में की थी। सृजन की अभिव्यक्ति फूले हुए बीज के रूप में की गई। अंकुरित होने से पहले बीज थोड़ा फूल जाता है जो उसकी अभिव्यक्ति की संभाव्यता को दर्शाता है। सर्वप्रथम सूक्ष्म जगत् का सृजन हुआ। सूक्ष्म जगत् की तुलना सूक्ष्म अंकुर से की जा सकती है। सब ग्रह एवं पंच भूत–आकाश, अग्नि, वायु, जल तथा पृथ्वी–से मिलकर प्रत्यक्ष स्थूल जगत् की रचना हुई ।

8.8 ब्रह्म की प्रकृति

परा तथ अपरा विद्या दोनों में ब्रह्म को सर्वव्यापी सिद्धांत के रूप में परिभाषित किया गया है। ब्रह्म की विशेषता में उसे स्वनिर्मित तथा अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न होना ब्रह्म का गुण बताया गया है। ब्रह्म स्वरूपहीन, अजन्मा, सर्वव्यापी, शरीर के ह्रदय में निवास करने वाला, अन्दर एवं बाहर विद्यमान रहने वाला तत्व है। वस्तुओं के नाम, रूप तथा क्रियाएं ब्रह्म के रूप हैं और ये तत्वहीन हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ब्रह्म का शरीर माना गया है। ब्रह्माण्ड तथा मानव शरीर उत्पत्ति के स्तर पर एक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। जीव, जानवर, पक्षी तथा अन्य प्राणियों का जन्म उत्पत्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा ईश्वर से होता है। ब्रह्म महान है और सभी का सहायक है। सभी जीव–जन्तु, जो चलते हैं और श्वास लेते हैं, ब्रह्म में लीन हैं। स्थूल तथा सूक्ष्मरूप तथा रूपहीन सभी केवल ब्रह्म हैं। ब्रह्म ही सत्, अस्तित्व तथा चित् अर्थात् ज्ञान है। सत्–चित् सम्पूर्ण जगत् का मूल है। सभी संसार इस शाश्वत ब्रह्म से उसके गुणों के रूप में सृजित हुए हैं। बाह्य ध्वनियां तथा मन के प्राण ब्रह्म की अभिव्यक्तियां हैं। लौकिक, अलौकिक तथा इनके बीच का संसार, सभी कुछ ब्रह्म पर आधारित हैं। आंतरिक संसार तथा मन, प्राण तथा इन्द्रियां सबके सृजन का आधार ब्रह्म है।

मूलतः आत्म सभी बाधाओं से मुक्त और शाश्वत है। वह व्यक्ति जिसका मन तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण है तथा इस तथ्य का संगत ज्ञान है कि सत्य क्या है और ब्रह्म क्या है, वह आत्मज्ञान प्राप्त करने में सक्षम है। कोई व्यक्ति जिसका मन अशुद्ध है और उसका ध्यान भौतिक जगत् से बाधित है, वह ब्रह्म का अनुभव नहीं कर सकता है।

चेतना को शरीर के भाग या उत्पाद के रूप में नहीं समझा जा सकता और न ही इसे शरीर द्वारा सीमित किया जा सकता है। आत्मा शरीर की मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहती है। किन्तु शरीर के बिना चेतना को नहीं देखा जा सकता। प्रत्येक शरीर में मूल तथा प्रतिबिम्बित चेतना होती है और इन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। मूल चेतना सभी वस्तुओं में व्याप्त है। प्रतिबिम्बित चेतना को अहंकार या शरीर चेतना के रूप में जाना जाता है। इनकी संख्या शरीरों की संख्या के बराबर होती है। यह शरीर–दर–शरीर और यहाँ तकि कि एक ही शरीर में परिवर्तित भी होती है। चेतना की दो अभिव्यक्तियों की तुलना एक पेड़ पर बैठे समान प्रजाति के दो पक्षियों से की जाती है। निचली डाल पर बैठा पक्षी मीठे और कड़वे फल खाता है। उपर वाली डाल पर बैठा पक्षी केवल उसे देखता है। शरीर चेतना, जीवात्मा फलों का रस प्राप्त करता है जबकि साक्षी चेतना, परमात्मा उसे देखता रहता है। यह पेड़ मन शरीर जटिलता है और फल विभिन्न क्रियाओं के परिणाम हैं जो सुख तथा दुखः प्रदान करते हैं।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. वेदों के विभिन्न भागों के बारे में टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2. ब्रह्म की प्रकृति का वर्णन प्रस्तुत करें।

....

....

....

....

....

8.9 आत्मा की प्रकृति

आत्मा को सिद्धांततः साक्षी माना गया है। आत्मा केवल एक है यद्यपि विचार अनेक हैं। चेतना, जो कि जागरुक है, विचारों को स्वयं नियंत्रित करती है। विचार जागरुकता नहीं है, परन्तु इनका ज्ञान जागरुक स्थिति में ही होता है। जिस प्रकार ह्रदय शरीर का केन्द्र है जहाँ से सभी तंत्रिकायें उत्पन्न होती हैं और सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती हैं उसी प्रकार मन ह्रदय में निवास करता है और मन में विचार के साथ–साथ जागरुकता भी उत्पन्न होती है जिसे आत्मा साक्षी भाव से देखती है। आत्मा चेतना के तीन स्तरों का मूक साक्षी है। ह्रदय महत्वपूर्ण जैविक केन्द्र है। अनेक क्षमताएं तथा गुण ह्रदय में केन्द्रित होते हैं।

ज्ञानचक्षुओं के माध्यम से सक्षम तथा शुद्ध सत्व वाला व्यक्ति साक्षी चैतन्य को पहचान लेता है। ठीक उसी प्रकार जैसे इन्द्रियां प्रकाश की निरंतर उपस्थिति में वस्तु को पहचान लेती हैं। मन अन्य स्रोत जैसे कि जागरुकता के प्रकाश पर निर्भर करता है। चैतन्य अन्य सभी प्रकाशों को प्रज्ज्वलित करने वाले सभी प्रकाशों का प्रकाश है। चैतन्य का यह प्रकाश मन में स्थित है। ब्रह्म वह साक्षी–चैतन्य है जहाँ न सूर्य चमकता है न ही चांद, न तारे, न ही बिजली और अग्नि चमकती है। किन्तु जब चेतनारूपी सूर्य चमकता है तो उसके प्रकाश से सब कुछ चमकता हैं केवल उसके ही द्वारा सभी प्रकाश प्रज्ज्वलित हो उठते हैं। (2. 2.10)। इसी प्रकार, आत्मा सभी को प्रकाशित करती है किन्तु स्वयं किसी से प्रकाशमान नहीं होती। ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते किन्तु आत्मा सभी को प्रकाशित कर सकती है। इन्द्रियाँ आत्मा से प्रकाश प्राप्त करके बाहरी वस्तुओं को प्रकाशमय करती हैं। ''मैं, आत्मा,'' सचेत जीव हूँ और सभी दूसरी वस्तु सचेत नहीं है'', श्लोक 2.2.11 का यही अर्थ है।

8.10 जीव तथा ब्रह्म की तादात्म्यता

जीवात्मा को परमात्मा के समान व उसी के रूप में परिभाषित किया गया है। इसकी समानता के लिए तीर और कमान का उदाहरण दिया गया है। तीर जीवात्मा है और लक्ष्य ब्रह्म। धार्मिक ग्रंथों की तुलना कमान से की गई है। शिक्षक तीर, कमान तथा लक्ष्य तीनों के मध्य संगतता बनाने का काम करता है। साधना का अभ्यास तीर को पैना करने के समान है ताकि उसे सीधा रखा जा सके और प्रत्यंचा को खींचकर लक्ष्य को भेदा जा सके। तीर को सीधे कमान पर रखने को 'अर्जयम्' कहा जाता है। यह विचारों, वाणी तथा क्रियाओं में निरन्तरता के समान है। प्रत्यंचा को वापस खींचना अन्तर्मन की ओर जाना है। तीर को पैना करना मन के माध्यम से बुद्धि को तेज करने के समान है। तीर को छोड़े जाने तक ध्यान को लक्ष्य की ओर केन्द्रित करना लक्ष्य में लीन होने और ब्रह्म से पृथक होने के व्यथित विचार को अलग रखने के लिए है। जब तीर लक्ष्य में लीन हो जाता है तो व्यक्ति अपने उद्देश्य में सफल हो जात है। इसी प्रकार, शिष्य ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ध्यान करता है। यह ध्यान के पश्चात् सफलता या फल आत्म साक्षात्कार कर लेता है। आत्मा दोनों चेतनाओं का मिश्रण है। जब जीव उच्चतर चैतन्य पर पहुंच जाता है तो वहां मोक्ष का बोध होता है। ब्रह्म में स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण दोनों ही हैं। व्यक्तिगत स्तर पर यह एक साक्षी है तथा सांसारिक स्तर पर यह ब्रह्म है।

8.11 ब्रह्म की अनुभूति के साधन

उपनिषद् जिज्ञासुओं को यह जानने के लिए प्रेरित करते हैं कि ब्रह्म सभी की आत्मा है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द नहीं है। गुरु कहते हैं कि 'यह आत्म–ज्ञान है– शाश्वत को प्राप्त करने के लिए, संसार के इस महासागर को पार करने के लिए, आत्मा तथा अन्य शब्दों का परित्याग किया जाना आवश्यक हैं'। जीवन का लक्ष्य ब्रह्म को जानना है। ब्रह्म हृदय के समीप है तथा हृदय के अन्दर गतिमान रहता है। ब्रह्म की अनुभूति के लिए सुनना (श्रवणम्), मनन (मननम्), निदिध्यासनम् क्रियाओं को किया जाना आवश्यक है।

रचना ब्रह्म की महिमा है तथा यह महिमा रचनाय विभूति में भी परिलक्षित होती है। ब्रह्म, जो शुद्ध आशीष तथा शाश्वत है, की पहचान शरीर के मंदिर, हृदय में चेतना के रूप में होती है। इस प्रकार शाश्वत आत्मा को देखा जाता है तथा उसकी पूजा की जाती है। यहाँ शरीर की तुलना एक मंदिर से की गई है तथा हृदय पवित्रों का पवित्र स्थल, गर्भगृह है। इसमें आत्मा वास करती है और जीवात्मा कहलाती है। आत्मा सर्वआच्छादक है। शरीर वह अनुभूति का माध्यम है, जहाँ आत्मा स्पष्टरूप से प्रकाशित होती है। (2.2.8)।

8.12 आत्मानुभूति के साधन

सत्यवादिता, असत्य बोलने से बचना, तपस्या, तप, लैंगिक शुद्धता, ब्रह्मचर्य, शास्त्रों तथा गुरु के माध्यम से उचित ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) आदि आत्मानुभूति के साधन हैं। आत्म–अवलोकन तभी फलदायी होता है जब मन अशुद्धियों से मुक्त होता है। सत्य बोलना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण उक्ति – 'सत्यमेव जयते' स्पष्ट रूप से सदैव सत्य की जीत होना

बताती है (3.1.2–6)। शुक्ल गति के माध्यम से मोक्ष तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए सत्य बोलना अत्यंत आवश्यक है। ध्यान का यह मूलभूत सिद्धांत है। इस ज्ञान का सार यह है कि बिना सापेक्ष सत्य के निरपेक्ष सत्य ब्रह्म की प्राप्ति नहीं की जा सकती। सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि आवश्यक है। आत्मा की प्रकृति अनन्त, असीम, स्व–प्रमाणित, सर्वाधिक सूक्ष्म, दूर तथा समीप, सत् व चित् है। आत्मा के इस सूक्ष्म तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि की आवश्यकता होती है।

ब्रह्म को कौन प्रकट कर सकता है और कौन नहीं, इसका वर्णन उपनिषद् में है। नेत्र, शब्द ब्रह्म को प्रकट नहीं कर सकते हैं। इंद्रियां आत्मा के सूक्ष्म तत्व को नहीं पहचान पाती हैं। तपस्या, अनुष्ठान तथा अन्य क्रियाएं भी ब्रह्म को जानने में सहायक नहीं होते हैं। ये क्रियाएं शुद्धता तथा सूक्ष्मता के प्रति मन तथा इंद्रियों को तैयार करने में सहायक होती हैं। आत्मा का ज्ञान केवल श्रुति द्वारा ही प्राप्त होता है। धार्मिक ग्रंथों द्वारा प्रदान की गई शिक्षा आत्मासात् करने के लिए मन उपयुक्त तथा पूर्णतः तैयार होना चाहिए। इच्छाओं तथा अनिच्छा से मुक्त तथा पूर्णतः परिशुद्ध तथ सूक्ष्मता के लिए तैयार मन ही अविभाज्य, शुद्ध तथा सूक्ष्म ब्रह्म को जान सकता है। सूक्ष्म मन ही सूक्ष्म ब्रह्म को पहचान सकता है।

आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति महिमायुक्त हो जाता है क्योंकि उसने सम्पूर्ण सृष्टि के आधार तत्व के रूप में असीम ब्रह्म को पहचान लिया है और वह जानता है कि वह असीम ब्रह्म है। ज्ञानी बिना किसी भौतिक सुख प्राप्ति की इच्छा के उसकी पूजा करता है और वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। ज्ञानी इच्छुक व्यक्तियों को सुव्यवस्थित ढंग से आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करता है। यह ज्ञान अंततः व्यक्ति को मोक्ष की ओर ले जाता है। आत्म ज्ञान पुनर्जन्म को नष्ट करके व्यक्ति को मोक्ष प्रदान करता है। इच्छाएं व्यक्ति की सभी प्रकार की क्रियाओं की उत्पत्ति का स्रोत हैं। ये क्रियाएं व्यक्ति का चरित्र निर्धारित करती हैं और यह व्यक्ति में मृत्यु के समय जीवन के प्रति आसक्ति, जिससे अगले जन्म का निर्धारण होता है, उत्पन्न करता है। एक ज्ञानी के लिए पूरी करने को कोई इच्छाएं नहीं होतीं तथा यह इच्छा से मुक्ति व्यक्ति को पुनर्जन्म से मोक्ष की ओर ले जाती है।

आत्मानुभूति के लिए धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन, बुद्धि तथा अवधारण शक्ति के साथ–साथ आत्मा को जानने तथा पहचानने की प्रबल इच्छा की भी आवश्यकता होती है। इसी के साथ व्यक्ति में पूर्ण मुक्ति की परम इच्छा, उद्देश्य को प्राप्त करने की तीव्र उत्कंठा तथा ज्वलंत इच्छा व इसे प्राप्त करने के लिए सब कुछ त्याग करने की तत्परता का होना आवश्यक होता है। परमात्मा सच्चे प्रार्थी को ही ज्ञान प्रदान करता है। मोक्ष वास्तव में प्राप्त किये जाने वाला तत्व नहीं है क्योंकि वह पहले से विद्यमान है। आत्मा की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए अज्ञानता को दूर करना होता है। इच्छा–शक्ति, सचेतनता, संयम तथा दृढ़निश्चय और भौतिक सुख से अलगाव मोक्ष प्राप्ति के लिए चार पात्रताएं हैं।

इस आत्म–ज्ञान का लाभ यह है कि इससे मनुष्य की अज्ञानता नष्ट होती है। जीव तथा जगत् तथा ईश्वर के अर्थ का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होता है तथा अन्ततः कर्म, पाप व पुण्य के जाल, जिसके कारण जन्म व मृत्यु का चक्र बना रहता है, से उसे मुक्ति मिल जाती है। आत्म–ज्ञान से दो अवस्थाओं में मुक्ति अर्थात् जीवन–मुक्ति और विदेह मुक्ति हो जाती है। शरीर में रहते हुए मुक्ति जीवन–मुक्ति है तथा मृत्यु पर या मृत्यु के पश्चात प्राप्त मुक्ति विदेह मुक्ति कहलाती है। इस प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाएं होती हैं। प्रक्रिया की शुरूआत इस तथ्य के ज्ञान से होती है कि आध्यात्मिक ज्ञान ही परम ज्ञान है तथा विमुक्त होना, शांत रहना, ज्ञान प्राप्त करना, जीवन मुक्ति को समझना व प्राप्त करना, निरन्तर ज्ञान

प्राप्ति की प्रक्रिया जारी रखना और अन्ततः सर्व–व्याप्त ब्रह्म के साथ विलय हो जाना मुक्ति की आवश्यक शर्तें हैं। जीवन मुक्ति की अनिवार्य विशेषताएं इस तरह हैं, यथा तृप्त–ज्ञान से संतुष्टि, क्रियात्मानः – जिसे आत्म अनुभूति हो गई है, वीतरागी– अनुराग से विमुक्त, सर्वज्ञ/सर्वव्यापी, वीर–ज्ञानी।

एक ज्ञानी बनने के लिए मुनष्य को मन की शुद्धता, मन के संतुलन तथा समर्पित ज्ञान–प्राप्तकर्ता होना पड़ता है। सम्पूर्ण में व्यक्तिगत आत्मा के विलय की तुलना चांद के पंद्रह भाग से की गई है। कार्यकारण नियम में बंधा सूक्ष्म शरीर एक तत्व में विलीन हो जाता है। तीन प्रकार के कर्मय संचित, आगामी तथा प्रारब्ध विलुप्त होकर ईश्वर में लीन हो जाते हैं। इसी तथ्य का वर्णन करने के लिए महासागर में नदियों के विलय का दृष्टांत प्रस्तुत किया गया है। हालांकि, नदियां भिन्न–भिन्न नामों, प्रकारों तथा आकारों की होती हैं किन्तु अंत में महासागर में मिल कर यह केवल पानी बन जाती हैं। इसी प्रकार जीव हालांकि भिन्न नाम व प्रकार के होते हैं किन्तु अन्ततः अनिवार्य रूप से एक तत्व (ब्रह्म) में लीन हो जाते हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. जीवात्मा और परमात्मा के मध्य क्या सम्बन्ध है?

....

....

....

....

....

2. ब्रह्मविद्या के लिए क्या तैयारियां आवश्यक हैं?

....

....

....

....

....

8.13 सारांश

उपनिषद् के उपदेशों का मुख्य उद्देश्य जानने योग्य हर तत्व के ज्ञान की प्राप्ति की लिप्सा को पूरा करना है। उपनिषद् के अनुसार जिसका अस्तित्व है उसे नाम दिया जा सकता है एवं जाना जा सकता है। जो भी सत है, वह जानने योग्य है। *मुण्डक उपनिषद्* ज्ञान की

निरन्तर खोज को पूरा करता है। यह बताता है कि सभी प्रकार के ज्ञान की खोज ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के साथ शांत एवं परिपूर्ण हो जाती है। जीवन के असंख्य उद्देश्यों में से मानव को सत् का सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने का विकल्प दिया गया है। वह सत् जिसको जानने के बाद प्रत्येक जाना जा सकने वाला तत्व ज्ञात हो जाता है।

मुण्डक उपनिषद् सम्पूर्ण ज्ञान को परा और अपरा, उच्चतर व निम्नतर रूप में वर्गीकृत करता है। अपरा ज्ञान को परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में सकारात्मक ज्ञान के रूप में दर्शाया गया है। सभी प्रकार के विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति तथा अर्थषास्त्र इसी श्रेणी में आते हैं। वैदिक अनुष्ठानों तथा इनसे संबंधित तत्वों का ज्ञान अपरा के अन्तर्गत् आते हैं। इससे एक ज्ञान परा के रूप में उद्घोषित होता है। यह ज्ञान कि सभी नश्वर वस्तुओं का आधार एक अनश्वर एवं परिवर्तन सत् हैं, परा ज्ञान कहलाता है। उपनिषद् पहले अनुष्ठान क्रियाओं के लाभों के बारे में बताता है और फिर इसके दूसरे पक्ष की ओर अग्रसर होता है। अपरा विद्या की सीमितता का उल्लेख करने के पश्चात् उपनिषद् परा विद्या की प्रकृति का वर्णन करता है। उपनिषद् के अनुसार परिवर्तन से तात्पर्य भौतिक ज्ञान से आध्यात्मिक ज्ञान में परिवर्तन तथा असत् से सत् में परिवर्तन से है।

ब्रह्म जगत् का भौतिक तथा बौद्धिक अर्थात् निमित्त तथा उपादान दोनों कारण है। ब्रह्म एक है तथा जगत् अनेक हैं। चूंकि इनका सार–तत्व समान है किन्तु निस्सार तत्व जैसे रूप तथा नाम भिन्न हैं। जगत् बिना ब्रह्म के स्वयं को व्यक्त नहीं कर सकता तथा अन्ततः यह वापस ब्रह्म में लीन हो जाता है। अन्तिम अध्याय में जीवात्मा तथा परमात्मा के बीच तादात्म्यता की पहचान का वर्णन किया गया है तथा इस एकता हो अनुभूत करने के लिए आधारभूत व्यावहारिक अनुशासनों का वर्णन किया गया है तथा इस एकता को अनुभूत करने के लिए आधारभूत व्यावहारिक अनुशासनों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार की गई अनुभूति से उत्पन्न मुक्ति को जीवन मुक्ति तथा विदेह मुक्त कहा गया है। चैतन्य साक्षी को शरीर के चैतन्य में विद्यमान अहम् के रूप में देखा गया है। उपनिषद् जीव तथा ब्रह्म को एक इकाई के रूप में प्रतिपादित करता है। *मुण्डक उपनिषद्* में ब्रह्म तथा आत्मा की एकरूपता को बहुत अच्छे ढंग से समझाया गया है। परमात्मा, अर्थात् ब्रह्म में कोई अशुद्धता नहीं है तथा यह अविभाजित और अखण्डित है। ब्रह्म का ज्ञाता स्वयं ब्रह्म हो जाता है। अज्ञानता की समाप्ति के पश्चात मानव इस तथ्य को भली भांति जान लेता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ। यहां पर 'मैं' किसी दूसरी वस्तु (ब्रह्म) में परिवर्तित नहीं होता बल्कि उसे स्वयं की वास्तविक प्रकृति, ब्रह्म के साथ एकत्व, का ज्ञान हो जाता है। वास्तव में, प्रत्येक आत्म ब्रह्म ही होता है किन्तु वह इस ज्ञान से अनभिज्ञ रहता है। ज्ञान इस अज्ञान को हटा कर ब्रह्म अनुभूति को सम्भव बनाता है।

निष्कर्षतः, उपनिषद् में बताया गया है कि यह उपदेश हजारों वर्ष पूर्व गुरु अंगिरस ने महर्षि शौनक को दिए थे। हालांकि ये उपदेश पुरातन हैं किन्तु सत्य की खोज करने वालों के लिए ये आज भी संगत तथा लाभप्रद हैं।

8.14 कुंजी शब्द

मिथ्या : संस्कृत शब्द मिथ्या का अर्थ है – असत्। उपनिषदों में मिथ्या शब्द का प्रयोग जगत् के लिए किया गया है।

शास्त्र : संस्कृत में शास्त्र का अर्थ उपदेश, अनुदेश या निर्देश देना है। उदाहरण के लिए, तर्कशास्त्र तर्क और तर्कणा, वाद–विवाद का विज्ञान है तथा विवाद की वह कला है जो ज्ञान की प्रकृति तथा स्रोत तथा उसी वैधता का विश्लेषण करती है।

8.15 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

मेरसियर, जीन ल. एलु. *फ्रोम द उपनिषद्स टु ऑरोबिन्दो*. बेंगलोरः ऐशियन ट्रेडिंग कार्पोरेशन, 2001.

प्रसाद, रामानुज. *द उपनिषद्स*. देल्हीः पुस्तक महल, 2006.

राधाकृष्णन, एस. *द प्रिन्सिपल उपनिषद्स*. देल्हीः ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1953.

सिंह, बलबीर. *द फिलोसॉफी ऑफ उपनिषद्स*. न्यू देल्हीः अरनोल्ड– हीनमेन, 1983.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

मुण्डकोपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुरः गीताप्रेस, विक्रम सम्वत् 2062,

8.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. अपरा विद्या छः शाखाओं सहित चार वेदों यथा ऋक्, यजुर्, साम तथा अथर्व वेदों का प्रथम भाग है। इनका ज्ञान भौतिक लाभों को प्राप्त करने के लिए है। भौतिक जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान अपरा विद्या, भौतिक पदार्थों का विज्ञान, के अन्तर्गत् आता है। वेदों का कर्म खण्ड मुख्य रूप से विभिन्न भौतिक तथा वस्तुनिष्ठ तत्वों का विज्ञान है। वेदों का उपासना खण्ड मानसिक क्रियाओं, जैसे ध्यान से सम्बन्धित है। ये दोनों शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएं और इनसे प्राप्त व इनके स्वयं के ज्ञान अपरा विद्या के अन्तर्गत् आते हैं। इनका ज्ञान व्यक्ति को क्षणिक भौतिक जगत् की ओर ले जाता है। प्रत्येक अनुष्ठान व्यक्ति को उस अनुष्ठान का लाभ प्रदान करता है। उपनिषद् मनीषियों के अनुसार यदि मन्त्रों में उल्लेखित अनुष्ठान कार्य पूर्ण निष्ठा से किये जाये तो उनसे उत्पन्न फल सत्य होते हैं।

2. परा तथा अपरा विद्या दोनों में ब्रह्म को सर्वव्यापी सिद्धांत के रूप में परिभाषित किया गया है। ब्रह्म की विशेषता में उसे स्वनिर्मित तथा अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न माना गया है। ब्रह्म स्वरूपहीन, अजन्मा, सर्वव्यापी, शरीर के हृदय में निवास, अन्दर एवं बाहर विद्यमान रहने वाला शाश्वत तत्व है। वस्तुओं के नाम, रूप तथा क्रिया ब्रह्म के रूप है और यह स्वयं तत्वहीन हैं। यह बीज रूप में अव्यक्त ढंग से सम्भावित रूप में उसी प्रकार पाये जाते हैं जैसे कि मिट्टी का ढेर या स्वर्ण अव्यक्त रूप से सभी बर्तनों और आभूषणों के सभी नाम एवं रूप के साथ पाये जाते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ब्रह्म का शरीर माना जाता है। ब्रह्माण्ड तथा मानव शरीर उत्पत्ति के स्तर

पर एक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। जीव, जानवर, पक्षी तथा अन्य प्राणियों का जन्म उत्पत्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा ईश्वर से ही होता है। यह महान और सभी का सहायक है। सभी जीव जन्तु जो चलते हैं और श्वास लेते हैं ब्रह्म में लीन हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म, रूप तथा रूपहीन सभी केवल ब्रह्म हैं। ब्रह्म ही सत्, अस्तित्व तथा चित, ज्ञान है। सत्–चित् सम्पूर्ण जगत् का मूल है। ब्रह्म को प्रकाश की किरणों के समान माना गया है। सभी संसार इस शाश्वत ब्रह्म से उसके गुणों के रूप में सृजित हुए हैं। ध्वनियां तथा मन के प्राण ब्रह्म की अभिव्यक्तियां हैं। लौकिक, अलौकिक तथा इनके बीच का सभी कुछ सृजन ब्रह्म पर आधारित हैं। आंतरिक संसार तथा मन, प्राण तथा इन्द्रियां आदि सबके सृजन का आधार ब्रह्म है।

बोध प्रश्न 2

1. जीवात्मा को परमात्मा के समान व उसी के रूप में परिभाषित किया गया है। इसकी समानता के लिए तीर और कमान का उदाहरण दिया गया है। तीर जीवात्मा है और लक्ष्य ब्रह्म। धार्मिक ग्रंथों की तुलना कमान से की गई है। शिक्षक तीर कमान तथा लक्ष्य तीनों के मध्य एकता बनाने का काम करता है। साधना का अभ्यास तीर को पैना करने के समान है ताकि उसे सीधा रखा जा सके और प्रत्यंचा को खींचकर लक्ष्य को भेदा जा सके। तीर को सीधे कमान पर रखने को 'अर्जवम्' कहा जाता है। यह विचारों, वाणी तथा क्रियाओं में निरन्तरता के समान है। प्रत्यंचा को वापस खींचना अन्तर्मन की ओर जाना है। तीर को पैना करना मन के माध्यम से बुद्धि को तेज करने के समान होता है। तीर को छोड़े जाने तक ध्यान को लक्ष्य की ओर केन्द्रित करना लक्ष्य में लीन होने और ब्रह्म से पृथक होने के व्यथित विचार को अलग रखने के लिए है। जब तीर लक्ष्य में लीन हो जाता है तो व्यक्ति अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। इसी प्रकार प्रशिक्षु, जो ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ध्यान करता है, ध्यान के पश्चात् सफलता या फल प्राप्त कर लेता है। आत्मा दोनों चेतनाओं का मिश्रण है। जब जीव उच्चतर चेतना पर पहुंच जाता है तो वहां मोक्ष का बोध होता है। ब्रह्म में स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण, दोनों ही हैं। व्यक्तिगत स्तर पर यह एक साक्षी है तथा सांसारिक स्तर पर यह ब्रह्म हैं।

2. सत्यवादिता, असत्य बोलने से बचना, तपस्या, तप, लैंगिक शुद्धता, ब्रह्मचर्य, शास्त्रों तथा गुरु के माध्यम से उचित ज्ञान, सम्यक् ज्ञान आदि आत्मानुभूति की अनिवार्य शर्तें हैं। आत्मावलोकन तभी फलदायी होता है जब मन अशुद्धियों से मुक्त हो जाता है। सत्य बोलना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण उक्ति 'सत्यमेव जयते' स्पष्टरूप से सदैव सत्य की जीत होना बताती है। शुक्ल गति के माध्यम से मोक्ष तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए सत्य बोलना अत्यंत आवश्यक है। ध्यान का यह मूलभूत सिद्धांत है। इस ज्ञान का सार यह है कि बिना सम्बद्ध सापेक्ष सत्य के, निरपेक्ष सत्य, ब्रह्म की प्राप्ति नहीं की जा सकती। सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि आवश्यक है। आत्मा की प्रकृति अनन्त, असीम, स्व–प्रमाणित, सर्वाधिक सूक्ष्म, दूर तथा समीप, सत् व चित् है। आत्मा के इस सूक्ष्म तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीक्ष्ण बुद्धि की आवश्यकता होती है।

   ब्रह्म का ज्ञान किस तरह किया जा सकता है और किस तरह नहीं, इसका वर्णन उपनिषद् में है। नेत्र और शब्द ब्रह्म को व्यक्त नहीं कर सकते हैं। इन्द्रियां आत्मा के

सूक्ष्म तत्व को नहीं पहचान पाती है। तप, अनुष्ठान तथा अन्य क्रियाएं भी ब्रह्म को जानने में सहायक नहीं होती हैं। ये क्रियाएं शुद्धता तथा सूक्ष्मता के प्रति मन तथा इन्द्रियों को तैयार करने में सहायक होती हैं। आत्मा का ज्ञान केवल श्रुति द्वारा ही प्राप्त होता है। धार्मिक ग्रंथों द्वारा प्रदान की गई शिक्षा को आत्मसात करने के लिए मन उपयुक्त तथा पूर्णतः तैयार होना चाहिए। इच्छाओं तथा अनिच्छा से मुक्त तथा पूर्णतः परिशुद्ध तथा सूक्ष्मता के लिए तैयार मन ही अविभाज्य, शुद्ध तथा सूक्ष्म ब्रह्म को जान सकता है। सूक्ष्म मन ही सूक्ष्म ब्रह्म को जान सकता है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 9 माण्डूक्य उपनिषद्[9]

रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 परिचय

9.2 अ उ म (ॐ) का प्रतिपादन

9.3 चेतना के नाम तथा अवस्थाएं

9.4 जाग्रत् अवस्था

9.5 स्वप्न अवस्था

9.6 सुषुप्ति अवस्था

9.7 तुरीय अवस्था

9.8 आत्म–अनुभूति

9.9 आत्म की विशेषताएं

9.10 ओउम और आत्म

9.11 सारांश

9.12 कुंजी शब्द

9.13 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

9.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

मानव के भीतर विद्यमान चेतना हर परिस्थिति में एक तथा समान रहती है। यद्यपि विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में अन्तर अनुभव किया जाता है। इन सभी अवस्थाओं में आत्म ही अनुभवकर्ता होता है। इस इकाई के अंत तक आप जान पाएंगें;

- माण्डूक्य उपनिषद् का सार। माण्डूक्य उपनिषद् चेतना के चार रूपों तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।
- रहस्यात्मक पद ओउम, जो भारत की धार्मिक एवं दार्शनिक परम्परा का प्रतीक है, का चिंतनशील विश्लेषण।

9.1 परिचय

माण्डूक्य उपनिषद् का सम्बन्ध *अथर्व वेद* से है। *माण्डूक्य उपनिषद्* नाम की व्युत्पत्ति मण्डूक्य ऋषि के नाम से हुई है। माण्डूक्य का शाब्दिक अर्थ है मेंढक। कथानुसार, भगवान

[9] डॉ जॉन पीटर, सं. एण्टोनीज महाविद्यालय, कोटागिरि, अनुवाद– डॉ. आर. एस. दूबा, दिल्ली

वरुण ने प्रणव या ओंकार के महत्व को उजागर करने के लिए मेंढक के रूप की कल्पना की और इसे (मकार को) परम ब्रह्म के एकमात्र नाम व प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया। *माण्डूक्य उपनिषद्* प्रधान उपनिषदों में सबसे छोटा है। इसमें केवल बारह छंद हैं। इसमें सम्पूर्ण वैदिक उपदेशों का सारतत्व समाविष्ट है। इस उपनिषद् की भाषा सुसंगत तथा संक्षिप्त रूप में है किन्तु अर्थ में व्यापक है। गौड़पाद ने इसी उपनिषद् पर कारिका नामक एक प्रसिद्ध टीका का लेखन किया। इसे अद्वैत वेदान्त का प्रथम सुव्यवस्थित प्रतिपादन माना जाता है। शंकर ने भी उपनिषद् तथा गौड़पाद की टीका दोनों पर भाष्य लिखा।

इस उपनिषद् के विश्लेषण में मानव चेतना की चार अवस्थाओं यथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय की सम्पूर्ण व्याख्या उपलब्ध है। मानव चेतना की इन चार अवस्थाओं की जांच की विशिष्ट पद्धति द्वारा उपनिषद् सत् की प्रकृति को उजागर करता है। आत्म को स्थूल वस्तुओं के अनुभवकर्ता (वैश्वानर), सूक्ष्म वस्तुओं के अनुभवकर्ता (तैजस) तथा अव्यक्त वस्तुनिष्ठता के अनुभवकर्ता (प्राज्ञ) तथा अद्वैत, अदृश्य और अवर्णनीय आत्म (तुरीय) के नामों से अभिहित किया गया है। माण्डूक्य उपनिषद् सत् पर ध्यान के लिए ओउम का चिह्न की चर्चा करता है जो परम सत्ता का बोध कराने में सहायक होता है। ओउम सभी शब्दों का समरूपी शब्द है। यह तीन ध्वनियों से बना है अ, उ, म, जिनके व्यापक दार्शनिक प्रभाव होते हैं जैसाकि उपनिषदों में व्याख्या की गई। यह उपनिषद् महावाक्य 'अयमात्मा ब्रह्म (यह आत्म ही ब्रह्म)' को प्रदर्शित करता है।

9.2 अ उ म (ॐ) का प्रतिपादन

माण्डूक्य उपनिषद्, सभी ध्वनियों, शब्दों तथा नामों के आधार के रूप में ओउम के सूक्ष्म अर्थ की व्याख्या करता है। ओउम अक्षर का अर्थ है, "जो अक्षय या अमर है"। *माण्डूक्य उपनिषद्* ओउम, ब्रह्म तथा आत्मा की अवधारणा के लिए तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करता है। यह स्थापित करता है कि ये सब एक ही हैं। ओउम की प्रकृति तथा निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म की प्रकृति के समान मानी गई है। ओउम को ब्रह्म के प्रतीक के रूप में देखा गया है। यह भूत, वर्तमान तथा भविष्य के प्रकट विश्व के रूप में भी है। ओउम अक्षर को सर्वत्र माना गया है। 'अक्षरम् इदं सर्वम्।'

9.3 चेतना के नाम तथा अवस्थाएं

माण्डूक्य उपनिषद् में प्रत्येक क्षण के लिए आत्म को चेतना की अवस्था के अनुसार चार नामों यथा वैश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये नाम चेतना की सम्बन्धित अवस्था को दर्शाते हैं। ये अवस्थाएं हैं– जाग्रत् अवस्था, स्वप्न अवस्था, सुषुप्ति अवस्था तथा आध्यात्मिक या अनुभवातीत (तुरीय) अवस्था। वैश्व नाम जाग्रत् अवस्था में आत्म को दिया गया है, जहाँ आत्म की जाग्रत् अवस्था को उसकी गतिविधियों के क्षेत्र तथा बाहरी वस्तुओं के बोध के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। चेतना की दूसरी अवस्था स्वप्न अवस्था है। इसके अन्तर्गत् आत्मा स्वप्न के क्षेत्र में क्रियाशील होती है। यह आन्तरिक तथा मानसिक तत्वों का बोध करती है और सूक्ष्म वस्तुओं का आनन्द लेती है। इस अवस्था में आत्म को तैजस नाम दिया गया है। तैजस आन्तरिक तथा मानसिक अवस्थाओं की चेतना है। चेतना की तीसरी अवस्था सुषुप्ति (गहरी निद्रा) की अवस्था है तथा इसके अनुभवकर्ता को प्राज्ञ नाम दिया गया हैं यहाँ अनुभवकर्ता सभी इच्छाओं से परे होता है। यह किसी

प्रकार की बाहरी तथा स्वप्न वस्तुओं का अनुभव करता है। इसे ज्ञान का भण्डार माना गया है, क्योंकि आत्म यहां स्वयं की अवस्था का साक्षी होता है। इसके बावजूद, चेतना की इस अवस्था को अस्थायी प्रकृति का माना गया है। अतः यह चेतना की अंतिम अवस्था नहीं है। अनुभवातीत चेतना अवस्था चौथी अवस्था है, जहाँ आत्म वास्तव में स्वयं में स्थापित हो जाता है और यहाँ उसे तुरीय कहा गया है।

9.4 जाग्रत् अवस्था

भौतिक जगत् समरूपी नियमों से बंधा हुआ है। यह सभी लोगों के लिए समान रूप से उपस्थिति रहता है। जाग्रत् अवस्था मानव के लिए एक सामान्य स्थिति है। प्रत्येक व्यक्ति जगत् का अनुभव वैसे ही करता है जैसा जगत् वास्तव में है। इसको लेकर कोई मतान्तर नहीं है। आत्म इन्द्रियानुभव तथा इच्छाओं के बंधन में बन्ध कर जाग्रत अवस्था में अपनी क्रियाएं करता है। जाग्रत् अवस्था के विषयों को वैश्व नाम दिया गया है। चेतना की इस अवस्था, आत्म का प्रथम चौथाई भाग है तथा यह वैश्वानर विषय, क्रिया क्षेत्र के अन्तर्गत् जाग्रत् अवस्था में रहता है। इस अवस्था में चतना बाहरी वस्तुओं से जुड़ती है तथा इसके सात अंग और उन्नीस मुंह होते हैं। सात अंगों की अवधारणा अग्निहोत्र यज्ञ से ली गई है। कहा गया है, 'स्वर्ग वस्तुतः वैश्वनार–आत्म है जिसकी आंख सूर्य है, वायु प्राण शक्ति है, अंतरिक्ष मध्य भाग है, जल मूत्राशय और पृथ्वी दो पैर हैं। आह्वानीय अग्नि को उसका मुख माना गया है। इन सात अंगों को धारण करने वाला सप्तांग है।' आत्म के उन्नीस मुंह हैं। इनमें पांच बोध ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच क्रिया अंग हैं। पांच प्राण शक्तियां तथा मन, बुद्धि, अहम् तथा मनस्तत्व हैं। अनुभव के प्रवेश द्वार होने के कारण इन्हें मुख माना गया है। चूंकि इन्हीं के प्रवेश द्वारों के माध्यम से वैश्वानर स्थूल वस्तुओं का भोग करता है इसलिए इसे स्थूल विषयों का भोग कर्ता कहा गया है। स्थूल वस्तुओं का रस जाग्रत् अवस्था में लिया जाता है। वैश्वानर अपने ध्यान को वास्तविक तथा भौतिक संसार की सतही वस्तुओं की ओर केन्द्रित करता है। *माण्डूक्य उपनिषद्* के अनुसार चेतना के बाह्य विषयों पर केन्द्रित होने से अज्ञानता का जन्म होता है। इसी अज्ञानता के वशीभूत हम कभी–कभी बाह्य वस्तुओं को ही वास्तविक आत्म समझने लगते हैं। इस अवस्था में चेतना स्वः पर केन्द्रित होने के स्थान पर बाहरी वस्तुओं पर केन्द्रित होती है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

2. जाग्रत् अवस्था का वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

....

....

....

....

....

9.5 स्वप्न अवस्था

स्वप्न अवस्था आत्मा की वह स्थिति है जब बाहरी इन्द्रियां तथा वस्तुऐं अपनी भौतिक विशेषताओं के साथ उसके समक्ष प्रस्तुत नहीं रहती हैं, बल्कि मानसिक प्रतिबिम्ब के रूप में उपलब्ध रहती हैं। आत्म को यहां तैजस, प्रकाशमयी कहा गया है। आत्म तैजस इसलिए है क्योंकि अब यह सभी प्रकार के संज्ञानों का साक्षी मात्र है और इसलिए यह प्रकाशमयी प्रतीत होता है। यह जाग्रत् अनुभव द्वारा छोड़े गए पूर्व अनुभवों तथा प्रभावों पर आधारित मानसिक अवस्था का अनुभव करता है। जाग्रत् अवस्था की चेतना अनेक बाहरी माध्यमों से सम्बन्धित होती है तथा इन माध्यमों से सम्बद्ध होने के साथ–साथ यह बाहरी तत्वों में भी लिप्त हो जाती है। परिणामस्वरूप, यह मन में अनेक प्रभावों को छोड़ती है। यह सफेद कागज पर बने चित्रों में नजर आने वाले प्रभावों के समान है। यह जाग्रत् अवस्था के समान ही स्वप्न अवस्था में भी उपस्थित रहती है किन्तु किसी बाहरी माध्यम से सम्बद्ध हुए बिना। इंद्रियों की तुलना में मन आन्तरिक तत्व है। स्वप्न अवस्था में चेतना आन्तरिक मन में पड़े प्रभावों को रूप धारण करती है तथा आन्तरिक तथ्यों से भी अवगत रहती है। इस अवस्था में आत्म अपने स्वप्नों का संस्थार स्वयं निर्मित कर लेता है। स्वप्न अवस्था में अनुभूत सभी विषय आन्तरिक, सूक्ष्म तथा मानसिक होते हैं। ज्ञाता तथा ज्ञेय का द्वैत चेतना की इस दूसरी अवस्था में भी बना रहता है। स्वप्न अवस्था में तैजस अधिक स्वतंत्रता की अवस्था में रहता है, क्योंकि यहां आत्म जाग्रत् अवस्था के बाहरी वस्तुओं के अनुभव के स्थान पर अपने स्वयं के जगत् की कल्पना करता है। स्वप्न तत्व कुछ क्षणों के लिए आत्म को प्रसन्नता प्रदान करते हैं। इस अवस्था में आत्म अनुभूतिमूलक संसार से मुक्त होता है। तैजस वह पहलू है जहाँ गतिविधियों का क्षेत्र स्वप्न अवस्था है। चेतना आन्तरिक है, जिसके सात अंग तथा उन्नीस मुंह हैं। व्यक्ति सूक्ष्म वस्तुओं का भोग करता है। बाहरी विश्व भौतिक तत्वों पर निर्भर करता है। यह स्थूल बोध के प्रकारों का अनुभव करता है। चेतना की दूसरी अवस्था यथा स्वप्न अवस्था, में मात्र सूक्ष्म प्रभावों वाले अनुभवों की प्राप्ति की जाती है। इसलिए, इनसे प्राप्त रस भी सूक्ष्म होते हैं। जहाँ प्रथम अवस्था बहिर्गामी संचलन, बाहरी चेतना का जाग्रत् जीवन है वहीं दूसरी अवस्था चेतना का अन्तर्गामी स्वप्न जीवन है।

9.6 सुषुप्ति अवस्था

चेतना की अगली अवस्था सुषुप्ति अवस्था है। इसे प्राज्ञ कहते हैं तथा इसकी गतिविधियों का क्षेत्र सुषुप्ति (गहरी निद्रा) अवस्था में है। सुषुप्ति अवस्था में रहने वाले व्यक्ति को किसी सुखमूलक वस्तु की इच्छा नहीं होती है तथा वह कोई स्वप्न भी नहीं देखता है। यद्यपि

सुषुप्ति अवस्था ज्ञान की अवस्था है किन्तु यहाँ बाहरी और आन्तरिक विषयों का ज्ञान प्रसुप्तावस्था का ज्ञान होता है। जिस प्रकार अंधकार में अवबोधन सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में आन्तरिक या बाह्य किसी भी प्रकार का अवबोधन नहीं होता है। इस अवस्था में न ही कोई इच्छा होती, न ही कोई विचार उत्पन्न होता है। सुषुप्ति अवस्था में आत्म संप्रत्ययमूलक हो जाता है। अन्य दो अवस्थाओं में आत्म काल्पनिक तथ प्रत्यक्षमूलक रूपों में विद्यमान होता है। सुषुप्ति अवस्था, चेतना की अन्य दो अवस्थाओं यथा जाग्रत् तथा स्वप्न के बोध का प्रारम्भिक मार्ग है। सुषुप्ति में यथार्थ जगत् का ज्ञान शामिल नहीं होता है। बल्कि बाकि दो अवस्थाओं में जाग्रत् एवं स्वप्न में भी यथार्थ जगत् का ज्ञान नहीं होता। यहां प्रत्यक्षमूलक स्थूल तथ्यों की उपस्थिति और अनुपस्थिति होती है। सुषुप्ति अवस्था में आत्म की जो यथार्थ जगत् की अनभिज्ञता की अवस्था है, वह समान रूप से सभी तीन अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। तथापि यह आत्म पहली दो अवस्थाओं से भिन्न है। निद्रा में सत्ता का कोई गलत प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि केवल इच्छा की अनुपस्थिति होती है। इस तथ्य के कारण अन्य दो अवस्थाएं सुषुप्ति से भिन्न हैं। इसे चित्तोन्मुख कहा जाता है क्योंकि यह स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओं के अनुभवों की चेतना का प्रवेशद्वार है। सुषुप्ति अवस्था वाले व्यक्ति को प्राज्ञ अर्थात उत्कृष्टता के स्तर पर सचेत कहा जाता है। अकेले उसमें ही भूतकाल तथा भविष्यकाल के सभी तत्वों का ज्ञान होता है। यहाँ तक कि सुषुप्ति अवस्था के समय भी वह प्राज्ञ सचेत कहलाता है। ऐसा पूर्व की अन्य दो अवस्थाओं में सचेत रहने के कारण है और अकेले उसके पास अविभाजित चेतना की विशिष्ट विशेषता विद्यमान रहती है। अन्य दो अवस्थाओं में विविध ज्ञान होता है।

सुषुप्ति अवस्था में आत्म को चेतना का पुंज भी कहा गया है क्योंकि इसमें विभेद का अभाव होता है। इस अवस्था में प्रत्येक वस्तु समरूपी हो जाती है क्योंकि हर वस्तु अंधकार में अविभेदीय बनकर पुंज के रूप में प्रतीत होती है। प्राज्ञ आनन्द से भरा होता है। वस्तुओं तथा अनुभव के रूप में चंचल मन की क्रियाओं में शामिल दुःख की अनुपस्थिति के कारण व्यापक आनन्द विद्यमान होता है। कोई भी व्यक्ति जो सभी व्यापारों से मुक्त रहता है, सुखी तथा आनन्द का अनुभव प्राप्त करने वाला माना जाता है। गहरी निंद्रा वाले व्यक्ति को भी आनन्द प्राप्त होता है। जिसकी अनुभूति वह इसी अवस्था में करता है। यह क्रियाशीलता से पूर्ण मुक्ति की अवस्था है। वह व्यक्ति, जो परमानन्द को प्राप्त करता है तथा जो स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं के अनुभव का प्रवेशद्वार है, वह परमानन्द से भरपूर होता है वह स्वयं परमानन्द नहीं है बल्कि परमानन्द को भोगने वाला है।

सुषुप्ति अवस्था में आत्म परिवर्तनशील या अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में व्यक्ति को यह बोध बना रहता है कि वह गहरी नींद में सोया। बाकी किसी अन्य तथ्य से वह अवगत नहीं होता है। यदि सुषुप्ति के दौरान आत्म अदृश्य हो जाएगा तो गहरी नींद का अनुभव सम्भव नहीं है। सुषुप्ति की यादों को स्थाई साक्षी चेतना के कारण ही एकत्र किया जा सकता है। आत्म इस अवस्था में भी परिवर्तित नहीं होता है। सुषुप्ति अवस्था की समाप्ति पर आत्म, स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओं में वापस आ जाता है। यहां तक कि आत्म किसी भी अवस्था में परिवर्तित नहीं होता है। चेतना की इन तीन अवस्थाओं में मात्र विभिन्न लक्षण आत्म पर अध्यारोपित हो जाते हैं। यह वही आत्म है जो चेतना की इन तीन अवस्थाओं में तथा चौथी अवस्था में यथावत विद्यमान रहता है। सुषुप्ति एक ऐसी अवस्था है जिसमें चेतना शान्त होती है तथा बाहरी तथा आन्तरिक तत्वों की अनुभूति नहीं करती है। तथापि सुषुप्ति अवस्था अपनी परिवर्तनशील प्रकृति के कारण परम अथवा अंतिम अवस्था नहीं है।

9.7 तुरीय अवस्था

चौथी अवस्था को तुरीय कहा गया है। यह शुद्ध चेतना, अनुभवातीत, नित्य और अद्वैत है। माण्डूक्य उपनिषद् इस अवस्था को सीधे इसके सकारात्मक गुणों के माध्यम से वर्णित नहीं करता। इस अवस्था का वर्णन निषेधात्मक पद्धति द्वारा किया गया है। तुरीय अवस्था क्या नहीं है, के वर्णन के माध्यम से तुरीय को जाना गया है। तुरीय को केवल सकारात्मक विवरण द्वारा ही नहीं बल्कि गुणों को नकारने के रूप में दर्शाया गया है। निषेधात्मक पद्धति के माध्यम से 'कुछ सकारात्मक रूप से' तुरीय को स्थापित किया गया है। तुरीय उस प्रत्येक विशेषता से वंचित है जिसका वर्णन 'सम्भव शब्दों' के माध्यम से किया जा सकता है। यह शब्दों के माध्यम से वर्णनीय नहीं है। तुरीय वह व्यवस्था है जो आंतरिक जगत्, बाहरी जगत् इन दोनों जगतों के प्रति सचेत नहीं है। यह चेतना का पुंज भी नहीं है। यह न तो चेतन है न ही अचेतन। यह अदृश्य तथा समस्त व्यावहारिक अनुभवों से परे है। सभी इन्द्रियों की पकड़ से परे, अननुमेय, अविचारणीय तथा अवर्णनीय है। वैध साक्ष्य केवल आत्म के विश्वास में निहित है जिसमें सभी तथ्य लुप्त हो जाते हैं। यह अपरिवर्तनीय, शुभ तथा अद्वैत है। यही आत्म है और इसका ज्ञान प्राप्त करना मानवता का परम लक्ष्य है।

तुरीय में सत्ता को विषय तथा वस्तु के भेद से परे जाना जाता है। इस अवस्था में आत्म को ईश्वरवादी उपाधियों जैसे सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान आदि से नहीं समझा जा सकता। यहाँ ब्रह्म को ज्ञान तथा शक्ति धारण करने वाले के रूप में नहीं देखा जाता। यह शब्दों और विचारों के परे एक शुद्ध तत्व है। जब यह प्रज्ञा के गुणों सहित व्यक्तिगत भगवान के रूप में ईश्वर होता है तभी यह सर्वज्ञाता कहलाता है। हालांकि तीसरी तथा चौथी दोनों अवस्थाओं में वस्तुनिष्ठ चेतना अनुपस्थित रहती है, अपितु इस चेतना के बीज सुषुप्ति अवस्था में विद्यमान होते हैं तथा अनुभवातीत चेतना की अवस्था में ये बीज भी अनुपस्थित हो जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था में आनुभविक चेतना अव्यक्त स्थिति में विद्यमान रहती है। तुरीय अवस्था तीनों अवस्थाओं के परे गैर–आनुभविक अवस्था है।

9.8 आत्म–अनुभूति

चौथी अवस्था (तुरीय) का ज्ञान चेतना की अन्य तीन अवस्थाओं के संलयन द्वारा प्राप्त होता है। आत्म वह है जो सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। यह सभी तथ्यात्मक सम्बन्धों से परे अपने निरपेक्ष वास्तविक रूप में रहता है। चौथी अवस्था उन तीन अवस्थाओं से भिन्न है। उन तीन अवस्थाओं में बाहरी तथा आंतरिक संसार की चेतना बनी रहती है। जिस प्रकार सांप की भ्रांति समाप्त होने के पश्चात् रस्सी की सही प्रकृति का ज्ञान होता है उसी प्रकार आत्म पहले की तीन अवस्थाओं की वास्तविक प्रकृति को समझते हुए तुरीय अवस्था में अवस्थित हो जाती है। जिस प्रकार रस्सी में सांप का भ्रम होता है उसी प्रकार अन्य अवस्थाओं में आत्म में आंतरिक तथा बाहरी जगत् की चेतना जैसे गुणों के होने का भ्रम होता है जब ऐसे गुणों के निषेध से उत्पन्न वैध ज्ञान के माध्यम से आत्म को जाना जाता है, तो दुःखमय व्यावहारिक जगत् की समाप्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में शुद्ध आत्म के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ज्ञान के किसी अन्य माध्यम या किसी अन्य विज्ञान या विद्या की खोज की आवश्यकता नहीं पड़ती। तुरीय अवस्था की प्राप्ति के लिए अन्य तीन अवस्थाओं में आत्म के भ्रामक गुणों के निषेध की आवश्यकता होती है। भ्रमित सर्प ज्ञान के निरसन के साथ ही वास्तविक रस्सी का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। रस्सी तथा सांप

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

के विभेदक का ज्ञान इस भ्रामक ज्ञान के निरसन से ही सम्भव हो सकता है। तुरीयावस्था में ज्ञान का उपकरण कुछ और नहीं बल्कि असत्य ज्ञान के निषेध से उत्पन्न वैध ज्ञातता ही है। आत्म की प्रकृति के इस असत्य ज्ञान को ही अन्य तीन अवस्थाओं में आत्म पर अध्यारोपित किया जाता है। यहाँ पर ज्ञाता, ज्ञात तथा ज्ञान के विभेद की समाप्ति के साथ ही सभी अवांछित गुण भी निरसित कर दिये जाते हैं।

9.9 आत्म की विशेषताएं

चेतना की तीन अवस्थाएं कुछ और नहीं बल्कि आत्म के अनुभव की विभिन्न अवस्थाएं हैं जिसे अवस्था–त्रयम कहते हैं। जाग्रत् अवस्था में अनुभवकर्त्ता भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों के माध्यम से बाहरी जगत् का अनुभव करता है। बाहरी जगत् के सम्पर्क में आने से आत्म में दो घटनाएं घटित होती हैं। एक, बाह्य स्थूल जगत् (स्थूल प्रपंचों) का अनुभव। दूसरा, मन वासना के रूप में सभी अनुभवों का अलेखन तथा संग्रह। अनुभवकर्त्ता न केवल जगत् को अनुभव करता है बल्कि दृष्टान्ततः घटनाओं का ऑडियो वीडियो कैसेट की तरह अपने मन में आलेखन भी करता है। कैसेट केवल ध्वनि या कैसेट की तरह चित्रों को ही आलेखित कर सकती है तथा उसकी क्षमता भी सीमित होती है किन्तु कैसेट के विपरीत मन भौतिक जीवन के समस्त अनुभवों को आलेखित कर सकता है। स्वप्न अवस्था में जब बाहरी जगत् के साथ भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों की सभी क्रियायें लुप्त हो जाती हैं तो अनुभवकर्त्ता भौतिक शरीर के साथ अपने तादात्म्य के अनुभव को छोड़ देता है। बाहरी जगत् के साथ किसी संव्यवहार के बिना आत्म भीतरी जगत् के साथ संव्यवहार करता है। इस नए जगत् में आत्म अपनी स्वयं की ध्वनि, स्पर्श, दृष्टि तथ गंध आदि का साक्षात्कार करता है। सपनों का यह जगत् जाग्रत् अवस्था में बाहरी जगत् के विगत प्रभावों की सक्रियता से प्रक्षेपित हुआ जगत् है। स्वप्नित व्यक्ति का संसार जाग्रत् अवस्था में बाहरी जगत् के ही समान होता है। इनमें एकमात्र अंतर यह है कि ये दोनों अपनी सभी विशेषताओं के साथ आंतरिक रूप से पुनः सृजित होते हैं। कई बार केवल कुछ ही प्रभावों का प्रक्षेपण हो पाता है। इस स्थिति में मन की स्मृतियां प्रायः अस्पष्ट होती हैं। सुषुप्ति अवस्था में भौतिक गतिविधियों की अनुपस्थिति के कारण कोई बाहरी जगत् नहीं होता और इसी प्रकार मन की असक्रियता के कारण कोई आंतरिक जगत् भी नहीं होता। केवल अनैच्छिक क्रियायें जैसे रक्त का प्रवाह, श्वसन आदि घटित होती रहती हैं। भौतिक शरीर की किसी सचेत स्वैछिक क्रियाशीलता की अनुपस्थिति में बाहरी तथा भीतरी जगत् के किसी भी प्रकार के अनुभव के अभाव में सम्पूर्ण शून्यता बनी रहती है। आत्म बिना किसी तनाव के आराम करता है और इससे आत्म का व्यापक स्तर पर ताजगी प्राप्त होती है। आत्म की क्रियात्मकता में ये तीनों अवस्थायें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। जाग्रत् अवस्था अन्य सभी अवस्थाओं में प्रबल है क्योंकि आत्म की विशेषताएं मुख्य रूप से भौतिक तथ्य तथा बाहरी क्रिया–कलापों से सम्बद्ध होती हैं। जाग्रत् अवस्था में अंकित प्रभावों से स्वप्न संसार का निर्धारण होता है। चेतना की अवस्थाओं पर व्यापक चर्चा के माध्यम से उपनिषद् आत्म की वास्तविक प्रकृति तथा महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन करता है। आत्म को निम्नलिखित विशेषताएं प्रदान की जाती हैं। आत्म अदृश्य (अदृष्टम्), इन्द्रिय–अगोचर (अव्यवहारम्), आनुभविक संव्यवहारों से परे (अग्राह्यम्), इन्द्रियों की पकड़ के परे (अलक्षणम्), अनुमान के किसी तार्किक आधार के बिना, अन–अनुमय, अविचारणीय, अविवरणीय है। आत्म यह है जिसमें सभी सांसारिक व्यवहार रुक जाते हैं (प्रपंचोपशमम्)। यह अपरिवर्तनीय, शुभ तथा अद्वैत (अद्वैतम्) है। इस सचेत सत् (इमपदह) को सबका कर्त्ता–धर्ता के रूप में यह पारलौकिकजगत् की समस्त

विविधताओं में भी शामिल है। यह सभी विविधताओं में अनुस्यूत है तथा सर्वज्ञाता है। यह सर्वव्यापक, आंतरिक नियंता है। यह सभी जीवों के अन्दर विद्यमान रहने से सबका निर्देशक भी है। यह ब्रह्माण्ड को उसकी समस्त विविधताओं के साथ उत्पन्न करता है तथा यह समस्त जगत् की उत्पत्ति एवं स्थिति का स्रोत है। यह निश्चित रूप से समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा विलय का स्थल है।

9.10 ओउम और आत्म

माण्डूक्य उपनिषद् के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि शब्द ओउम समस्त भूत, वर्तमान तथा भविष्य में विद्यमान भी है और समय के इन तीन कालों से परे भी है। सभी तत्वों को नामों तथा रूपों द्वारा दर्शाया जाता है। तत्वों के नाम ओउम से अभिन्न हैं। ब्रह्म परम है। इसे नाम एवं विषय (रूप) के मध्य विद्यमान सम्बन्ध के माध्यम से जाना जाता है। शब्द ओउम, परब्रह्म तथा अपरब्रह्म दोनों रूपों में समान है। एक स्पष्ट प्रतिपादन द्वारा इसे ब्रह्म की प्राप्ति के माध्यम एवं इससे ब्रह्म की समीपता दोनों रूपों में दर्शाया जाता है। भूत, वर्तमान और भविष्य को समय के तीन कालों द्वारा परिसीमित करके समझा जाता है। ये तीनों ओउम को उसके प्रभावों से अनुमानित किया जाता है, किन्तु इसे समय से परिसीमीत नहीं किया जा सकता। जो अव्यक्त है वस्तुतः यह ओउम है। शब्द तथा निर्देशित तत्व दोनों एक हैं। उपनिषद् में इस एकरूपता पर विशेष महत्व दिया गया है। सम्पूर्ण उपनिषद् में नाम और उसके विषय के एकीकरण पर बल देते हुए ओउम और ब्रह्म की ऐकता को स्थापित किया गया है। निश्चित रूप से जो कुछ भी है, सभी ब्रह्म हैं। यह आत्म ब्रह्म है। आत्म की चार अवस्थाएं हैं। जो ओउम है, वह ब्रह्म है। इस सर्वाधिक आन्तरिक आत्म को चार भागों में बांटा गया है।

आत्म को शब्द के दृष्टिकोण से भी समझा गया है। वास्तव में यह आत्म ओउम है। ओउम में तीन वर्ण या भाग हैं। ये वर्ण हैं ओ, उ तथा म। आत्म को ओउम के समान माना गया है। यह शब्द ओउम हालांकि भागों में विभाजित है किन्तु वर्णों में इनके आधार के रूप में विद्यमान है। ये भाग हैं ओ, उ तथा म। जाग्रत् अवस्था में वैश्वानर प्रथम वर्ण, ओ है। यह जो इसे जानता है निःसंदेह सभी वांछित वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है तथा अग्रणी बन जाता है। इनके माध्यम से ही समस्त विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं। वैश्वानर, जाग्रत् अवस्थ में अपनी गतिविधियों के क्षेत्र के सम्बन्ध में स्थूल लौकिक परिप्रेक्ष्य में आत्म के समान हैं। इनकी व्यापकता के कारण ही इन्हें समरूपी कहा गया है। 'ओ' ध्वनि सभी ध्वनियों एवं भाषाई (सन्प्रेषणों) के मूल में निहित है। ध्वनि ओ वास्तव में समस्त वाणी है। (अ.अ. 2, 3, 7, 13) इसी प्रकार, वैश्वानर में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्याप्त है। इसीलिए कहा जाता है कि शब्द तथा उसके द्वारा निर्देशित वस्तु समान है।

स्वप्न की अवस्था तैजस ओउम के दूसरे शब्द उ के समान है। इन दोनों में उत्कृष्टता तथा मध्यवर्तिता की समानता पाई जाती है। जिसे इसका ज्ञान हो जाता है, उसमें ज्ञान का स्तर बढ़ जाता है तथा सभी के समान बन जाता है। यह सब तत्वों में समानता का अनुभव करने लगता है। जो इस सत्य को नहीं जानता वह ब्रह्म का ज्ञाता नहीं होता। यहाँ आत्म स्वप्न की अवस्था में है तथा उसकी गतिविधियों का क्षेत्र दूसरा वर्ण, उकार है। आत्म तथा दूसरे वर्ण में उत्कृष्टता मानी जाती है। चूंकि वर्ण उ वर्ण ओ से बेहतर है इसलिए तैजस वैश्व से बेहतर है। और पुनः उ द्वारा ओ तथा म के मध्य की स्थिति प्राप्त होने के कारण तैजस वैश्व तथा प्राज्ञ के मध्य है। ज्ञान का स्तर बढ़ने से आत्म का स्तर बढ़ता है और वह समानता का अनुभव करता है तथा समान हो जाता है। तैजस अंतर्गामी चैतन्य है।

स्वप्न अवस्था में प्राज्ञ अपनी गतिविधियों के क्षेत्र के साथ वर्ण म है। मापन और समावेशन इन दोनों के गुण हैं। ज्ञानी पुरुष इन सबको माप लेता है और समावेशन कर लेता है। मापन का अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से सम–युक्ति का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार बाजरे को प्रस्थ नामक पात्र द्वारा मापा जाता है इसी प्रकार वैश्व तथा तैजस को विलय तथा उद्भव के दौरान प्राज्ञ में इनके प्रवेश तथा बाहर आने के आधार पर मापा जाता है। इसी प्रकार, शब्द ओउम के उच्चारण के अंत में तथा उसके पुनःउच्चारण के समय वर्ण ओ तथा उ अंतिम वर्ण म में प्रवेश करते प्रतीत होते हैं ताकि पुनः बाहर आ सकें। समावेशन विलयित तथा एकीकृत हो जाता है। इसी प्रकार, निद्रा के समय वैश्व तथा तैजस प्राज्ञ मे विलयित हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है। यह इस सबको मापता है अर्थात उसे ब्रह्माण्ड के यथार्थ का ज्ञान हो जाता है। यह अवशोषण का स्थान बन जाता है। आत्म अपनी अवस्था में संसार की उत्पत्ति का कारण है। यहाँ उल्लेखनीय अनुपूरक परिणाम प्राथमिक माध्यमों की प्रशंसा के माध्यम से वर्णित है।

अविभाज्य ओउम तुरीय है। यह सभी परम्परागत व्यवहारों से परे भौतिक जगत् की निषेधता की सीमा है। यह शुभ और अद्वैत है। अतः ओउम शुद्ध आत्म है। जिसे इसका ज्ञान हो जाता है वह स्वः आत्म के माध्यम से परम आत्म में प्रवेश कर जाता है। अविभाज्य ओउम के रूप में चौथी तुरीयावस्था परम आत्म ही है यह नामों तथा नामित की विलुप्ति के कारण व्यावहारिक सम्बन्धों के परे केवल मन तथा वाक् का रूप है। यह लौकिक अस्तित्व की चरम अभिव्यक्ति एवं जगत् के निषेध की सीमा है। व्यक्ति जिसे इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है कि आत्म शब्द ओउम का समरूप है, शुभ तथा अद्वैत है, वह अपने स्वयं के व्यावहारिक आत्म के माध्यम से अपने स्वयं के परमात्म में प्रवेश कर जाता है। इस परम सत्य को जानने वाला ही ब्रह्म को जानता है। यह तीसरी अवस्था की स्थिरता को नष्ट करके परम आत्म में प्रवेश करता है। और इस प्रकार उसका पुनः जन्म नहीं होता क्योंकि तुरीय में सृजन की गुप्त ऊर्जा नहीं होती। जब सांप रस्सी पर अध्यारोपित होता है तो रस्सी तथा सांप का विभेद हो जाने पर सर्प रस्सी का विलोप हो जाता है, तो उन व्यक्तियों को जो विभेद करने में सक्षम हो जाते हैं उनकी बुद्धि में विद्यमान भूत ह्रदय सर्प के प्रभाव पुनः नजर नहीं आते हैं। तथापि ऐसे सन्यासी व्यक्ति जो अभी भी स्वयं को जिज्ञासु मानते हैं तथा जिनकी बुद्धि अल्प या औसत है तथा वे पुण्य के मार्ग पर चलते हैं और जो ओउम के वर्णों की सामान्य संरचना और अवस्थाओं को जानते हैं तथा सामने उपस्थिति आत्म और शब्द ओउम पर जब सही रूप में ध्यान लगाते हैं तो उनके लिये ओउम ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक होता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. सुषुप्ति अवस्था के बोध प्रारूप का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

2. चेतना की चौथी अवस्था का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

3. उपनिषद् अक्षर ओउम तथा आत्म की चेतना की अवस्थाओं की पहचान कैसे करता है?

....

....

....

....

....

9.11 सारांश

माण्डूक्य उपनिषद् अपने बारह श्लोकों में समाहित विचारों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करता है। यह उपनिषद् समस्त मानव अनुभवों की तीन अवस्थाओं यथा जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति का वर्णन करता है। उपनिषद् चेतना की चार अवस्थाओं का गूढ़ विश्लेषण प्रस्तुत करता है। आत्म की जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति, तीन अवस्थाएं होती हैं। जाग्रत् अवस्था में आत्म बाहरी स्थूल वस्तुओं के सामान्य संसार के प्रति जागरूक होता है। यह स्थूल वस्तुओं का भोग करता है। आत्म, बाहरी वस्तुओं के बोध के लिए शरीर पर आश्रित होता है। चेतना की दूसरी अवस्था स्वप्न अवस्था है। यहां आत्म सूक्ष्म वस्तुओं का भोग करता है। स्वप्नित व्यक्ति का जगत् जाग्रत् अनुभवों में अभिग्रहित सामग्री से निर्मित होता है। आत्म इन्द्रिय संवेदनाओं तथा भौतिक शरीर के बन्धनों से विमुक्त होकर विचरण करता है। तीसरी अवस्था सुषुप्ति अर्थात गहरी निंद्रा की अवस्था है। इस अवस्था में वस्तुओं के स्वप्न तथा वस्तुओं की इच्छा विद्यमान नहीं रहती है। सुषुप्ति में जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्था के सभी अनुभव विलुप्त हो जाते हैं। आत्म अस्थायी रूप से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा क्षणभर के लिए परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। सुषुप्ति अवस्था में आत्म सभी इच्छाओं से ऊपर उठकर समस्त बाह्य व आंतरिक वस्तुओं की अनुभूति से मुक्त हो जाता है। ऊपर उठ जाता है तथा बाहरी तथा आन्तरिक तत्वों के मुक्त हो जाता है। यह तत्वहीन ज्ञान विषय परिस्थिति में लीन हो जाता है। उपनिषद् में चेतना की चौथी अवस्था (तुरीय) का विश्लेषण नकारात्मकता के द्वारा अनुभयातीत रूप में किया गया है। चौथी अवस्था को अन्य सभी तीन अवस्थाओं के आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

उपनिषद् तीन तत्वों यथा ओ, उ, म से बने अक्षर ओउम के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। इन्हें सादृश्य रूप से जागृति, स्वप्न तथा गहरी निंद्रा, सुषुप्ति की अवस्था कहा गया है। संसार में उसके स्थूल, सूक्ष्म तथा औपचारिक रूप में प्रकट परमात्मा को अक्षर ओउम तथा चेतना की तीन अवस्थाओं के विश्लेषण के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। चेतना

की चौथी अवस्था को अनुभवातीत चेतन अवस्था कहा गया है जिसे सर्व–सम्मिलित तथा अन्तिम वास्तविक परम के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ओउम अक्षर के मनन का सुझाव दिया गया है तथा ओउम के उच्चारण के लिए चार चरण बताए गए हैं। अ कार, उ कार तथा म कार से पहले मौन होता है। इस मौन को आत्मसात करने पर बल दिया गया है जिसे बोध कहते हैं। आत्म साक्षी है। उपनिषद् आत्मा के रूप में मनुष्य की सही प्रकृति का उद्घाटन करता है। यह, 'अयम् आत्मा ब्रह्म' आत्मा ब्रह्म है, के रूप में असीम स्वरूप को प्रमाणित करता है। चेतना की चौथी अवस्था का निरपेक्ष रहस्यात्मक विलय का तत्व है। माण्डूक्य उपनिषद् में वर्णित इसका ज्ञान मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाता है।

9.12 कुंजी शब्द

आत्म : आत्म अपने स्वयं के परिदृश्य से पृथक् व्यक्तिगत तत्व हैं। आपके लिए आत्म आप हैं। किसी और के लिए आत्म स्वयं वह व्यक्ति है।

स्वप्न : स्वप्न निंद्रा के दौरान वर्णनात्मक रूप में चित्रों, ध्वनियों तथा भावनाओं की श्रृंखला होता है। स्वप्न विशिष्ट रूप से 5 से 45 मिनटों के भीतर समाप्त हो जाते हैं स्वप्न की विषय–वस्तु तथा उद्देश्यों को पूरी तरह से नहीं समझा गया है, यद्यपि ये सम्पूर्ण मानव इतिहास में रोमांच तथा मनोरंजन का विषय रहे हैं।

9.13 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

गम्भीरानन्द, स्वामी (ट्रान्स). *माण्डूक्य उपनिषद्.* कलकत्ता: अद्वैत आश्रम, 2000.

मेरसीपर, जीन, एल. *फ्रोम द उपनिषद्स टू अरबिन्दो.* बेंगलोर: ऐशियन ट्रेडिंग कॉरपोरेशन, 2001.

नायर, शान्था एन. *इकोस् ऑफ ऐनसियन्ट इण्डियन विजडम.* न्यू देल्हीः हेण्डबुक्स, 2008.

परमार्थानन्द, सरस्वति स्वामी. *इन्ट्रोडक्शन टू वेदान्त.* चेन्नईः योगमालिया, 2005.

प्रसाद, रामानुज. *नॉ द उपनिषद्स.* देल्हीः पुस्तक महल, 2006.

राधाकृष्णन, एस. *द प्रिन्सिपल उपनिषद्स.* देल्हीः ऑक्सफोर्ड प्रेस, 1953.

सिंह, बलबीर. *द फिलासाफी ऑफ उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः आरनोल्ड हीनमेन, 1983.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माण्डूक्य उपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुरः गीताप्रेस, विक्रम सम्वत् 2062.

9.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. *माण्डूक्य उपनिषद्* में प्रत्येक क्षण के लिए आत्म को चेतना की अवस्था के अनुसार चार नामों यथा वैश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये

नाम चेतना की संबंधित अवस्थाओं को दर्शाते हैं। भौतिक ब्रह्माण्ड समरूपी नियमों से बंधा हुआ है। यह सभी लोगों के लिए समान रूप से उपस्थित रहता है। जाग्रत् अवस्था मानव की एक सामान्य स्थिति है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति जगत् का अनुभव वैसे ही करता है जैसे जगत् है, इसमें कोई मतान्तर नहीं होता है। स्वप्न अवस्था आत्म की वह स्थिति है जब बाह्य संवेद तथा वस्तुएं अपनी भौतिक विशेषताओं के साथ उसके समक्ष उपस्थित नहीं रहती अपितु मानसिक छवियों के रूप में उपलब्ध रहती हैं। इस आत्म को तैजस, प्रकाशमयी का नाम दिया गया है। चेतना की अगली अवस्था सुषुप्ति अवस्था है। इसे प्राज्ञ कहते हैं जिसकी गतिविधियों का क्षेत्र सुषुप्ति (गहरी निद्रा) की अवस्था है। सुषुप्ति अवस्था में रहने वाले व्यक्ति को किसी सुखमूलक वस्तु की इच्छा नहीं होती है तथा वह कोई स्वप्न नहीं देखता है। सुषुप्ति अवस्था ज्ञान की वह अवस्था है जिसमें बाह्य तथा आन्तरिक तत्व अज्ञात होते हैं। चौथी अवस्था को तुरीय कहा जाता है क्योंकि यह शुद्ध चेतना, अनुभवातीत, नित्य अद्वैत की अवस्था है।

2. जाग्रत् अवस्था मानव की एक सामान्य स्थिति है। यहाँ कोई भी संसार का अनुभव वैसे ही पाता है जैसे संसार है, यहाँ कोई प्रतिबिम्ब नहीं है। संवेद–अनुबोधों तथा इच्छाओं के बंधन में जकड़े हुए आत्म जाग्रत् अवस्था में अपनी क्रियाएं करता है। जाग्रत् अवस्था के तत्व को वैश्य का नाम दिया गया है। चेतना की इस अवस्था में यह भौतिक, वास्तविक तथा बाहरी वस्तुओं का बोध प्राप्त करता है। जाग्रत् अवस्था आत्म का प्रथम चौथाई भाग है तथा इसके विषय–वैश्वानर की क्रिया क्षेत्र जाग्रत् अवस्था है। इस अवस्था में चेतना बाहरी वस्तुओं से जुड़ती है तथा इसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं। सात अंग अग्निहोत्र यज्ञ की कल्पना द्वारा प्रदान किए गए हैं, जहाँ कहा गया है, 'स्वर्ग वास्तव में वैश्वनार–आत्म है जिसके आंख सूर्य हैं, वायु प्राण शक्ति है, अंतरिक्ष मध्य भाग है जल मूत्राषय, और पृथ्वी दो पैर हैं। आहवानिय अग्नि को उसका मुख माना गया है। इन सात अंगों को धारण करने वाला सप्तांग है। आत्म के उन्नीस मुख हैं। इनमें पाच ज्ञान इन्द्रियां तथा पांच क्रिया अंग हैं, पांच प्राण शक्तियां तथा मन, बुद्धि, अहं तथा मनसतत्व। ये अनुभव प्रवेश द्वार होने की दृष्टि से मुख हैं। चूंकि इन उपर्युक्त वर्णित प्रवेश मार्गों के माध्यम से वैश्वानर स्थूल वस्तुओं का भोग करता है अतः इसे स्थूल विषयों का भोगकर्त्ता कहा गया है। स्थूल वस्तुओं का रस जाग्रत् अवस्था में लिया जाता है।

बोध प्रश्न 2

1. सुषुप्ति अवस्था में रहने वाले व्यक्ति को किसी आनन्दमयी वस्तु की इच्छा नहीं होती है तथा वह कोई स्वप्न नहीं देखता। सुषुप्ति अवस्था ज्ञान के प्राप्ति की वह अवस्था है जिसमें बाह्य तथा आन्तरिक दोनों तत्व अज्ञात रहते हैं। जिस प्रकार अंधकार में अवबोधन सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में आन्तरिक व बाह्य रूपसे किसी प्रकार का अवबोधन सम्भव नहीं होता है। इस अवस्था में कोई इच्छा नहीं होती, कोई विचार उत्पन्न नहीं होते है। सभी प्रभाव एक हो जाते हैं तथा केवल ज्ञान तथा आनंद रह जाता है। सुषुप्ति अवस्था में आत्म संप्रत्ययात्मक आत्म होता है। अन्य दो स्थितियों में आत्म कल्पनाशील व अवबोधन करने वाला होता है। सुषुप्ति की अवस्था, जाग्रत् व स्वप्न अवस्थाओं की चेतना से बोध का प्रवेश मार्ग है। सुषुप्ति की अवस्था में वास्तविक जगत् का कोई ज्ञान नहीं रहता।

2. चौथी अवस्था को तुरीय कहा जाता है क्योंकि यह शुद्ध चेतना, अनुभवातीत, नित्य अद्वैत अवस्था है। *माण्डूक्य उपनिषद्* इस अवस्था को सीधे इसके सकारात्मक गुणों के

माध्यम से वर्णित नहीं करता। इस अवस्था का वर्णन निषेधात्मक पद्धति द्वारा किया जाता है। चतुर्थ अवस्था क्या नहीं है, से चतुर्थ अवस्था क्या है, को जाना गया है। तुरीय को केवल सकारात्मक विवरण द्वारा ही नहीं बल्कि गुणों के निषेध के रूप में दर्शाया जाता है। निषेधात्मक पद्धति के माध्यम से कुछ सकारात्मक रूप में स्थापित किया जाता है। तुरीय उस प्रत्येक विशेषता से वंचित है जिसका वर्णन संभव शब्दों के माध्यम से किया जा सकता है। यह शब्दों के माध्यम से वर्णनीय नहीं है। तुरीय अवस्था चेतना की वह अवस्था है जो आंतरिक जगत्, बाहरी जगत् तथा दोनों जगतों के प्रति सचेत नहीं है। यह चेतना का पुंज भी नहीं है। यह ना ही चेतन है और न ही अचेतन। यह अदृश्य है, आनुभविक संव्यवहारों से परे, सभी इन्द्रियों की पकड़ से परे, अननुमेय, अविचारणीय तथा अवर्णनीय है। वैध साक्ष्य आत्म केवल विश्वास में निहित है जिसमें सभी तथ्य लुप्त हो जाते हैं। यह अपरिवर्तनशील, शुभ तथा अद्वैत है। यह आत्म है और इसका ज्ञान प्राप्त करना मानवता का परम लक्ष्य है।

3. *माण्डूक्य उपनिषद्* के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि शब्द ओउम भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी का आधार भी है तथा समय के इन तीन कालों से परे भी है। सभी तत्वों को नामों तथा रूपों द्वारा दर्शाया जाता है। तत्वों के नाम तत्व से तथा ओउम से भिन्न है। ब्रह्म परम है, इसे तत्वों के नाम एवं उसके विषय के मध्य विद्यमान सम्बन्ध के माध्यम से जाना जाता है। शब्द ओउम पर तथा अपर ब्रह्म दोनों रूपों में समान हैं एक स्पष्ट प्रतिपादन द्वारा इसे ब्रह्म की प्राप्ति के माध्यम एवं इससे ब्रह्म की समीपता दोनों रूपों में दर्शाया गया है। भूत, वर्तमान और भविष्य को समय के तीन कालों द्वारा परिसीमित करके समझा गया है। ये तीनों काल ओउम ही हैं। यहाँ तक कि समय के इन तीन कालों के परे जो कुछ है वह भी ओउम है। उसका उसके प्रभावों से अनुमान किया जाता है किन्तु उसे समय में परिसीमित नहीं किया जा सकता। जो अव्यक्त है वस्तुतः वह ओउम है। शब्द तथा शब्द से निर्देशित तत्व दोनों एक हैं। उपनिषद् में इस एकरूपता पर विशेष बल दिया गया है। सम्पूर्ण उपनिषद् में नाम और उसके विषय के एकीकरण पर बल देते हुए ओउम और ब्रह्म की एकता को स्थापित किया गया है। निश्चित रूप से जो कुछ भी है, सभी ब्रह्म है। यह आत्म ब्रह्म है। आत्म की चार अवस्थाएं हैं।

खण्ड 3

औपनिषदिक दर्शनः मूल विषय– II

खण्ड परिचय

'उपनिषद्' शब्द का अभिधार्थ है "समीप बैठना" और निहितार्थ है आध्यात्मिक गुरु से अध्ययन करना। प्रस्तुत *उपनिषद्* मुख्य उपनिषदों से लिए गये हैं, ये उपनिषद् अद्वितीय पुस्तक के रूप में नहीं देखे जाते हैं, अपितु ये उस वेद से सम्बद्ध होते हैं जिसमें ये आते हैं। औपनिषदिक शिक्षा को बहुधा किसी विशिष्ट मन्त्र या कर्मकाण्ड के प्रसंग में प्रस्तुत किया जाता है। वेदान्त परम्परा में, उपनिषदों को 'श्रुति प्रस्थान' कहा जाता है, जिससे ब्रह्म–विषयक ज्ञान की उपलब्धि होती है।

इकाई 10 ईश उपनिषद्, *ईशावास्य उपनिषद्* की शिक्षाओं की चर्चा करती है, जोकि भारतीय वैदिक शास्त्रों के प्रारम्भिक समूह से सम्बन्धित है। इस उपनिषद् में जो मुख्य समस्या की चर्चा की गई है, वह है मानवीय जीवन और क्रिया को वेदान्त के अद्वैत पक्ष से संगति बिठाना। यह न तो अति भ्रमवाद का और न ही प्रयोजनवाद के विरोधी मत का समर्थन करता है, बल्कि असम्मत अतिवादों के मध्य संगति बनाने का प्रयास करता है।

इकाई 11 *कठ उपनिषद्* से सम्बन्धित है। *कठोपनिषद्* मानवीय जीवन के अन्तिम लक्ष्य (साध्य) से जुड़े हुए प्रश्नों को सम्बोधित करता है। "क्या होता है जब कोई मर जाता है? क्या मृत्यु के पश्चात् कुछ है जो रहता है? जीवितों में क्या शेष है? धर्म और अधर्म, ज्ञान और अज्ञान, जीवन और मृत्यु का क्या अर्थ है?" इन प्रश्नों के उत्तर व्यक्ति को उस तत्त्व को समझने में सहायक हैं जो परम, सर्व–आच्छादक (सर्वव्याप्त) और सर्वोच्च (अन्तिम सत्ता) है। इन प्रश्नों के उत्तर यम और किशोरवय नचिकेता के मध्य सम्वाद के माध्यम से अत्यन्त सरल ढंग से दिए गये हैं।

इकाई 12 छान्दोग्य उपनिषद्, *छान्दोग्य उपनिषद्* की शिक्षाओं की दार्शनिक प्रासंगिकता की व्याख्या करती है। चूंकि यह प्राचीनतम उपनिषदों में से एक है, इसलिए इसमें उपासना–पूजा से सम्बन्धित काफी चर्चा प्राप्त होती है। यह उपनिषद् आत्मा/आत्म से तादात्म्यता को स्थापित करने के लिए उपमाओं का उपयोग करता है। इस इकाई के माध्यम से आप यह भी समझेंगे कि कैसे उपनिषद् आत्मा और ब्रह्म की तादात्म्यता को स्थापित करता है। यह इकाई ब्रह्माण्ड विद्या और जीवन के विकास की शिक्षाओं का भी वर्णन करता है।

इकाई 13 *बृहदारण्यक उपनिषद्* की शिक्षाओं को रेखांकित करती है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* को सामान्यतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपनिषद् माना जाता है। यह *शतपथ ब्राह्मण* (सौ भागों वाला ब्राह्मण) का एक भाग बनाता है। यह आत्म के रूप में अभिज्ञात सर्व–आच्छादक, परम, स्व–प्रकाशित और आनन्दमय सत् ब्रह्म की व्याख्या करता है। आदि शंकर के अनुसार, यह *उपनिषद्* महानतम है, क्योंकि यह सीखने की तीनों पद्धतियों, उपदेश, उपपत्ति और उपासना को रखता है। उपदेश इसलिए क्योंकि यह ब्रह्म–आत्म की रहस्यात्मक अनुभूति की सत्य प्रकृति की शिक्षा देता है। उपपत्ति इसलिए क्योंकि यह तार्किक व्याख्या देता है और उपासना इसलिए क्योंकि यह *उपनिषद्* इस बात की व्याख्या करता है कि ध्यान और स्व–अनुभूति के माध्यम से परम सत्ता को कैसे समझ सकते हैं। यह *उपनिषद्* अपने दार्शनिक कथनों के लिए भी प्रसिद्ध है।

इकाई 10 ईश उपनिषद्[10]

रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 परिचय

10.2 अवलोकन

10.3 मूल मुद्दों/अवधारणाओं पर विचार

10.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

10.5 सारांश

10.6 कुंजी शब्द

10.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप उपनिषदों की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु से परिचित होंगे–

- 'उपनिषद्' का अर्थ, (ईशावास्य का भी) तथा भारतीय दर्शन में इसका स्थान
- ईशावास्योपनिषद् का उपागम और महत्ता
- सृष्टि और सृष्ट का विचार
- विवेक–शक्ति
- विद्या और अविद्या
- वैराग्य, कर्म और उपासना का अर्थ
- वैराग्य, कर्म और उपासना का सहकार
- आत्म–ज्ञान का महत्त्व
- ओंकार (ॐ) के चिह्न द्वारा वर्णित पूर्णता का विचार, सत्य/परम सत्ता का प्राप्त करने के साधन के रूप में पूर्ण

10.1 परिचय

भारतीय दार्शनिक परम्परा वैदिक और अ–वैदिक दो समानान्तर धाराओं में विभक्त है, जिसे आस्तिक एवं नास्तिक तन्त्र भी कहते हैं। वेद जोकि ज्ञान का नित्य एवं दैवी स्रोत माना जाता है, चार भागों में बांटा जा सकता है–मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

[10] श्री अजय जायसवाल, विद्या वाचस्पति शोधक दर्शन केन्द्र जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली, अनुवाद– डॉ. अफ़ज़ल अहमद

सामान्य रूप से शुरुआत प्रकृतिकेन्द्रित मन्त्रों वाली प्रार्थनाओं से हुई और इसकी परिणिति उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन में हुई। 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ ऐसे गुरु के पास बैठना है, जो शिष्य के अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ होता है। मान्य उपनिषदों की संख्या 108 है, जिसमें 10 सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इन पर शंकराचार्य (780 ई.) ने भाष्य लिखा है। *ईशावास्योपनिषद्* 18 मन्त्रों वाला दूसरा सबसे छोटा उपनिषद् है, यह *शुक्ल यजुर्वेद संहिता* का हिस्सा है। यह *ईश उपनिषद्* भी कहलाता है। 'ईशावास्य' का शाब्दिक अर्थ है, अन्तर्नियन्ता द्वारा व्याप्त होना। इसमें जगत् के अन्तर्नियन्ता के सर्वव्यापी होने के विचार को सारबद्ध करने का प्रयास किया गया है।

उपनिषद् सर्वांगीण विकास के लिए स्वार्थरहित होकर कर्म करने की प्रेरणा देता है। उपनिषद् इतने गहन अन्तर्दृष्टि वाले हैं कि विद्वानों की इसके संबंध में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि यदि समस्त वैदिक साहित्य नष्ट हो जाय तो *ईशावास्य* की सहायता से उसके समस्त ज्ञान को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने इस उपनिषद् के 18 मन्त्रों की समता *गीता* के 18 अध्यायों से की है। इस अध्याय में हम इन 18 मन्त्रों में निहित मूलभूत विचारों की चर्चा करेंगे। *ईशावास्य* में सभी उपनिषदों का सार निहित है।

10.2 अवलोकन

ईशावास्य समस्त उपनिषदों का सार रखता है। किन्तु, अन्य प्रमुख उपनिषदों से भिन्न, यह बिना किसी दार्शनिक पृष्ठभूमिपरक कहानी और अवस्थापना के प्रारम्भ होता है। किन्तु, उपनिषदों की सामान्य संरचना पर गहरे दृष्टिपात से ज्ञात होता है कि औपनिषदिक विषय–वस्तु का उद्देश्य अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों का उत्तर देना है। समानरूप से, *ईशावास्य उपनिषद्* का उद्देश्य भी परम सत् की समस्या को उठाना और आत्म एवं ब्रह्म की ऐक्यता के पदों में इस समस्या का उत्तर प्रस्तुत करना है। अपने प्रथम मन्त्र में, *ईशावास्य* समग्रता के तरीके से ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में सत्य और ब्रह्माण्ड में मनुष्य के स्थान की उद्घोषणा करता है। सम्पूर्ण को पूर्ण के रूप में वर्णित किया गया है। इसका प्रतीक ॐ है। यह आगे कल्पना करता है कि अंश पूर्ण से उसी तरह अभिन्न है जैसे जल–बूंद समुद्र से। 'दर्शन' पद को बहुधा दृष्टि/नजरिया– सम्पूर्ण विश्व के बारे में समग्रतापूर्ण एवं एकरूपीय दृष्टि– की तरह निर्वचित किया जाता है। 'पूर्ण' समग्रतापूर्ण ज्ञान के विचार की ओर संकेत करता है।

ईशावास्य उपनिषद् ईश्वर और ब्रह्माण्ड (स्रष्टा और सृष्टि) के वर्णन करने में भी अद्वितीय और विशिष्ट है। अनेक दार्शनिक परम्पराएं स्रष्टा और सृष्टि को उसी तरह भिन्न मानती हैं जैसे घड़ीसाज (घड़ी बनाने वाले) और घड़ी को। किन्तु, औपनिषदिक विचार है कि स्रष्टा सृष्टि से भिन्न नहीं है। स्रष्टा अगोचर और विश्व में अंतर्भूत है।

यह बताना भी महत्वपूर्ण है कि यह *उपनिषद्* स्रष्टा और सृष्टि सम्बन्धी इस मूलभूत अर्न्तदृष्टि को रखते हुए, कर्म और त्याग के पथ को कैसे वर्णित करता है। उदाहरणार्थ, *तैत्तिरीय उपनिषद्* पंचकोष का सिद्धान्त बताता है; *कठ उपनिषद्* शरीर त्रय का सिद्धान्त बताता है, आदि। लेकिन यह *उपनिषद्* सत्य के बारे में सीधी घोषणा करता है। यह ईश्वर को विश्व का अंतर्भूत और अगोचर कारण के रूप में सीधे ही प्रस्तुत करता है और सत्तामीमांसा की अपनी अवधारणा के आधार पर कर्म एवं उपासना के साथ वैराग्य का समन्वय प्रस्तुत करता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिए उत्तरों से अपने उत्तर की जाँच करें।

1. 'उपनिषद्' पद का क्या अर्थ है?

....

....

....

....

....

2. सत्ता की प्रकृति को समझने की दृष्टि से 'ईशावास्य' का संक्षेप में अर्थ बताइए।

....

....

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

10.3 मूल मुद्दों/अवधारणाओं पर विचार

प्रारम्भ से ही *ईश उपनिषद्* विश्व के सम्बन्ध में एक सीधी समझ प्रदान करता है और इस समझ से विकसित होने वाला एक नीतिशास्त्र भी प्रस्तुत करता है। इस *उपनिषद्* के मुख्य विचारों इन शीर्षकों के अन्तर्गत् समझा सकता है–

अ – ईश्वर और जगत्

जैसाकि हमने ऊपर संकेत किया है ईशावास्य का प्रथम मन्त्र स्रष्टा और सृष्टि के बीच विद्यमान सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। जो विश्व को इसकी पूर्णता में समझने की अद्वितीय पद्धति है, तथा हमें स्वार्थरहित कर्म में प्रवृत्त करता है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यांजगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यविद्धनम्॥ (ईशावास्योपनिशद्,1)

ईशावस्योपनिषद् में स्रष्टा और सृष्टि के बीच सम्बन्ध को ध्यान में रखकर चार प्रमुख अवधारणाएं प्रचलित हैं,

1. **देववाद:** ईश्वर ने जगत् की रचना की और रचना के समय ही उसने जगत् की मूलभूत क्रिया पद्धति को व्यवस्थित किया हुआ है किन्तु अब वह जगत् के क्रियाकलापों में सम्मिलित नहीं होता।

2. **ईश्वरवाद:** ईश्वर नेजगत् की रचना की, इसके क्रियाकलापों को व्यवस्थित किया और वह जगत् के संधारण और विनाश में सक्रिय रुप से सक्रिय रहता है।

3. **सर्वेश्वरवादः** ईश्वर या परम सत्ता संपूर्ण विश्व का आन्तरिक सार है।

4. **सर्वसर्वेश्वरवादः** ईश्वर संपूर्ण ब्रह्माण्ड का आन्तरिक सार और वह ईश्वर इससे परे भी है।

5. सृष्टि की औपनिषदिक अवधारणा इन चारों अवधारणाओं से परे है (यद्यपि यह सर्व–सर्वेश्वरवाद के निकट है) सृष्टि के स्थान पर अधिक तर्कसंगत रुप से, जगत् एक अद्वैत तत्त्व, ईश्वर, ब्रह्म या आत्मा की अभिव्यक्ति है, जो केवल अन्तर्भूत ही नहीं बल्कि भूतातीत एवं अनिर्वचनीय है। स्रष्टा और सृष्टि का यह संलय या एकरुप होना तत्त्व–मीमांसा के एक चिर–पुरातन प्रश्न का उत्तर देता है;

जगत् परिवर्तनशील अथवा स्थाई है?

यह सत्ता है अथवा संभावना है? यह सत् है अथवा असत्?

उत्तर यह है कि सत् और असत् दोनों है, सत्ता और संभावना दोनों है। यह जगत् (चर) और ईश (अचर नियन्ता) दोनों को अपने अन्दर समाहित किए है। वेदान्त के अनुसार, ब्रह्म 5 लक्षणों वाला है– सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के वास्तविक स्वरुप का प्रतिनिधित्व करते हैं और अन्तिम दो ब्रह्म के परिवर्तनशील पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। हालांकि बाद वाले लक्षण केवल एक प्रक्षेपण या आभास हैं। जगत् न तो सत् है और न असत्। यह वास्तविक ब्रह्म की केवल आभासी प्रतीति है। जगत् की नाम–रुपात्मकता बदल जाती है किन्तु इसका आन्तरिक ईश्वर–तत्त्व वैसा ही रहता है। सच्चिदानन्द सम्पूर्ण सत्ता का अधिष्ठान है। जिस प्रकार जल की विभिन्न तरंगों के भिन्न भिन्न नाम एवं रुप हो सकते हैं किन्तु सभी तरंगों का आन्तरिक सार–तत्त्व जल एक ही रहता है।

ब – विद्या और अविद्या

विद्या और अविद्या का शाब्दिक अर्थ ज्ञान और अज्ञान है। इसके अन्य सम्बन्धित अर्थ भी हैं। इसलिए इन शब्दों के तत्त्वमीमांसीय अर्थ को समझना उचित होगा, अविद्या या अज्ञान का अर्थ आत्मानुभूति का अभाव है अथवा आत्म एवं जगत् की भ्रामक तत्त्वमीमांसीय समझ है। इस अज्ञान के दो पक्ष हैं;

1 – आवरण और 2 – विक्षेप

आवरण के अन्तर्गत् अविद्या शुद्ध आत्मा के रुप में हमारे सच्चे स्वरुप को ढक लेती है। दूसरी ओर विक्षेप के रुप में अविद्या झूठी पहचानों और तत्सम्बन्धी झूठे विश्व–दृष्टि को ही प्रक्षेपित करती है।

जीवात्मा से जुड़ी यह अविद्या अनादि है। यद्यपि यह सान्त है अर्थात् इसका अन्त संभव है। इस अज्ञान का समुचित प्रतिकार ज्ञान अथवा विद्या ही है। विद्या के सारतत्त्व को सबसे अच्छे प्रकार से वेदान्त के महावाक्यों से, जैसे, तत् त्वम् असि (वह तुम हो) आदि से पाया जा सकता है।

इस आत्म–विद्या को उपनिषद् में अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त हमारे ज्ञान केवल उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं और केवल साधन–मूल्य वाले होते हैं। आत्म–ज्ञान स्वतःसाध्य आन्तरिक मूल्य वाला होता है । यह मनुष्य को सभी दुःखों से

छुटकारा दिलाने वाला होता है। आत्म—ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा को वेदान्त में मुमुक्षा कहते हैं । ऐसे व्यक्ति जिनमें मुमुक्षा का अभाव होता है, ऐसे व्यक्ति उपनिषदों में 'आत्महन्तः जनः' कहे जाते हैं अर्थात ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक अर्थ में आत्म—हनन करने वाले होते हैं। *उपनिषद्* रूपक की भाषा में कहता है कि ऐसे लोग ऐसे अन्धलोक में प्रवेश करते हैं जहां घोर दुःख पाया जाता है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तां स्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥(*ईशावास्योपनिषद्*, 3)

स — विवेक एवं वैराग्य

उपरोक्त दार्शनिक समझ या सत और असत के बीच अन्तर करना ही विवेक कहलाता है। विद्या और अविद्या के बीच अन्तर किया जाना है। वैराग्य भी इसी अवबोध का परिणाम होता है। विवेक और वैराग्य मिलकर साधन—चतुष्टय का आधार बनाते हैं। उपनिषद् थोपे हुए वैराग्य को हतोत्साहित करते हैं, यह केवल इस समझ का परिणाम है कि जिसे हम सत् समझते हैं, वह असत् होता है, और क्षणभंगुर वस्तुओं से चिपकना व्यर्थ है। वह छोड़ने योग्य वस्तुओं का त्याग और प्राप्त करने योग्य वस्तुओं की प्राप्ति है। यह उसे त्यागना है जो पहले से त्यागना है जो पहले से त्यक्त है और जिसका सम्बन्ध हमसे नहीं है तथा यह उसे पाना है जो हम पहले से हैं (हमारा सच्चिदानंद स्वरुप वास्तविक स्वभाव) इसप्रकार विवेक बुद्धि का वह तन्त्र है जो सत् और असत् में अन्तर करता है, इसलिए वैराग्य वह मनोवृत्ति है जो सत का अनुसरण करती है और असत् का त्याग करती है। पहले मन्त्र का आशय यह है कि हमारे पास जो पहले से है, हमे उससे संतुष्ट रहना चाहिए। और जो वस्तु हमारी नहीं है, उसके सम्बन्ध में हमें परेशान नहीं होना चाहिए। इसलिए मा गृधः; लालच मत करो, ऐसा निर्देश दिया गया है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर है और वस्तुओं पर किसी का कोई स्वामित्व नहीं है। जगत् में जो कुछ भी है वह केवल आभास है।

धर्म (कर्तव्य और कर्म का मार्ग)

जब कोई विवेक और वैराग्य प्राप्त कर लेता है तब प्रश्न उठता है कि उस व्यक्ति को क्या करना चाहिए? क्या उसे संसार का त्याग करके वन चले जाना चाहिए? अथवा उसे समाज में रहना चाहिए और एक परजीवी की तरह समाज पर निर्भर रहना चाहिए? *उपनिषद्* पलायनवाद या कर्मसंन्यास नहीं सिखाता कि सभी कर्मों का त्याग कर दिया जाय या स्थापित नियमों को भंग कर दिया जाय। *भगवद्गीता* का भी कहना है कि कर्म किए बिना व्यक्ति एक क्षण भी नहीं रह सकता और कर्म के रहस्य बड़े गहरे हैं और जब व्यक्ति कर्मों से बंधा हुआ है तो उसे उचित कर्मों का ही चुनाव करना चाहिए, कर्म केवल इच्छाओं पर आधारित नहीं होने चाहिए बल्कि तर्क और अन्तःप्रज्ञा के अनुरुप होने चाहिए। अन्तःप्रज्ञा का आशय केवल व्यक्तिगत अन्तःप्रज्ञा नहीं है बल्कि प्राचीन ऋषियों का सम्पूर्ण ज्ञान है जिसके अनुसार पुरुषार्थ अर्थात् मनुष्य के चार प्रमुख कर्तव्यों; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विधान किया गया है। काम और अर्थ को प्राप्त करना चाहिए किन्तु वह धर्म के नियमों से अनुषासित होना चाहिए। काम और अर्थ का इस प्रकार से पालन करना मोक्ष की ओर ले जाता है जोकि जीवन का परम पुरुषार्थ हैं। धर्म दो प्रकार का हो सकता है—

1 — साधारण धर्म

ये सामान्य सार्वभौमिक नैतिक नियम है—जैसे चोरी न करना (अस्तेय), अहिंसा, सत्य, वस्तुओं का संग्रह न करना (अपरिग्रह), आत्म—संयम तथा आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धि (शौच)

2 – विशेष धर्म

यह सब पर लागू न होकर विशिष्ट व्यक्तियों के वर्ग पर लागू होता है। इसके अन्तर्गत् वर्णधर्म (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) एवं आश्रम–धर्म (जीवन की चार व्यवस्थाएं–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) सम्मिलित है।

उपरोक्त दार्शनिक ज्ञान और आचरण को अपनाते हुए *ईश उपनिषद्* के अनुसार, सौ वर्ष तक जीने का यत्न करना चाहिए। कर्म और पुनर्जन्म का चक्र बहुत जटिल है किन्तु यदि कोई निष्काम ढंग से अपने कर्तव्यों का पालन करे तो वह कर्म के बन्धन से बंधता नहीं है, वह स्वतन्त्र हो जाता है, और पूर्ण आनन्द को प्राप्त करता है।

कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (*ईशावास्योपनिषद्*, 2)

ई – उपासना (शक्ति का मार्ग)

तत्त्व, वैराग्य और कर्म के सम्यक् अवबोध के साथ उपनिषद् भक्ति (उपासना) के रहस्य को भी खोलता है। उपासना शब्द के कर्म–काण्ड और पूजा–पाठ से सम्बद्ध बहुत अर्थ हो सकते हैं किन्तु उपासना का सार अर्थ है–सर्वत्र ईश्वर के ऐक्यभाव की विद्यमानता का विचार, ईश्वर के अन्तर्यामी और जगतातीत होने का भाव सच्चे वैराग्य का मार्ग खोलता है। उपासना के अन्तर्गत् ईश्वर की सेवा और निष्ठा अथवा जड़ अथवा चेतन सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करने का विचार निहित है। इस प्रकार समस्त कर्म और धर्म का आधार ईश्वर की उपासना होनी चाहिए, कुछ उपासक/साधक जगत् (कार्य–ब्रह्म) को ईश्वर (कारण–ब्रह्म) से भिन्न मानते हैं और इसमें एक ही पक्ष की उपासना करते हैं। इन दोनों को तात्विक दृष्टि से भिन्न मानना बहुत बड़ी भूल है तथा एकांगी आराधना या उपासना में संलग्न रहना भी एक भूल है। उपनिषद् गहन अन्धकार वाले लोक के रुपक की सहायता से यह निरुपित करते हैं, दोनों प्रकार के उपासक जो कार्य–ब्रह्म (जगत्) और कारण–ब्रह्म (ईश्वर) को भिन्न मानकर किसी एक की उपासना करते हैं, इस अन्ध लोक में गिरते हैं।

इदम् अन्धतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो या उ सम्भूत्या रताः।। (*ईशावास्योपनिषद्*,12)

इस प्रकार उपासना का मूल सार है भगवद्–दृष्टि अर्थात् ईश्वर को देखने का भाव प्राप्त करना। यह भाव केवल ईश्वर की सृष्टि तक सीमित न रहकर कर्त्तव्य भाव तथा प्राणी–कल्याण के भाव से किए गये कर्मों तक विस्तृत होना चाहिए। हालांकि साधक के मार्ग में यह खतरा बना रहता है वह निर्दिष्ट कर्मों में प्रवृत्त होकर भी अहंकार से भरा हुआ है, भले ही यह अहंकार सात्विक प्रकार का हो। उपनिषद् कर्त्तव्य–पालन के साथ अहंकार बढ़ने के संबन्ध में हमें सचेत करता है। परम वैराग्य कुछ और नहीं, कर्तापन के अभिमान का त्याग है। पूर्ण शरणागति के भाव को अपनाने से इसका अभ्यास सुकरता से किया जा सकता है। इसलिए उपनिषद् के अन्तिम कुछ मन्त्रों में सूर्य के प्रकाश के रुप प्रतीक वाले ईश्वर के प्रति प्रार्थना एवं समर्पण का भाव व्यक्त किया गया है। इन सबमें कर्म, वैराग्य, उपासना तथा ईश्वर के साथ ऐक्य का विचार ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। उपनिषद् में ऐसी परम अनुभूति प्रदान करने की ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥(*ईशावास्योपनिषद्*,15)

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥(*ईशावास्योपनिषद्*, 16)

10.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

ईशावास्य उपनिषद् का भारतीय दर्शन के वैचारिक आयामों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। यह वैदिक ज्ञान के सार–तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि इसकी संरचना, मन्त्रों का विषय–वस्तु और उपनिषदों की विभिन्न वेदान्तिक व्याख्याओं से अनेक विषयों पर एकमति का अभाव पाया जाता है, फिर भी इसकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। उपनिषदों की एक अन्य श्रेणी जो विभिन्न पृष्ठभूमिक युक्तियों जैसे आख्यान, संवाद, अवस्था–त्रय, पंचकोष, शरीर–त्रय जैसी पद्धतियों पर आधारित है। ईशावास्य उपनिषद् सीधे–सीधे विश्व के सत्य की घोषणा करता है, एवं सम्पूर्ण वैदिक नीतिशास्त्र का सार प्रस्तुत करता है। इसकी शिक्षा अत्यन्त सरल है।यह एक ऐसे वैराग्य का मार्ग है जिसमें भक्ति और कर्म का समन्वय है। इसका समन्वयात्मक मन्त्र भी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इसकी पूर्णता में व्यक्त करता है। संभवतः यही कारण है कि महात्मा गांधी जैसे चिन्तक ने यह कहा है;

"यदि सभी उपनिषद् और सभी धर्म–ग्रन्थ अचानक नष्ट हो जाय केवल ईशोपनिषद् का पहला मन्त्र हिन्दुओं की स्मृति में बचा रहे तो हिन्दू धर्म हमेशा बचा रहेगा।"

पॉल डायसन ने भी इसे स्वीकार किया है कि कितने सुन्दर ढंग से तत्त्व–चिन्तन का समन्वय वैदिक आचरणशास्त्र के साथ स्थापित किया है। स्वामी चिन्मयानन्द ने अपने भाष्य में कहा है–

"इस अद्वितीय उपनिषद् का पहला मन्त्र ही अपने आप में एक लघु दार्शनिक ग्रन्थ है। सत्य के प्रतिपादन में सारग्राही होने के साथ ही यह एक भाषा में सत्य के अनुभूति के पद्धति का सजीव निरुपण करता है जो अपनी दार्शनिक भाषा एवं साहित्यिक पूर्णता में अद्वितीय है। इसके मन्त्र दर्शन के अत्यन्त संक्षिप्त प्रतिपादक हैं और प्रत्येक अपने आप में चिन्तन के अभ्यास का अवसर है।"

अनेक भारतीय चिन्तकों ने *ईशावास्योपनिषद्* के 18 मन्त्रों का सम्बन्ध *भगवद्गीता* के 18 अध्यायों से जोड़ा है। इसका कारण यह है कि दोनों ही ग्रन्थ उपनिषदों के दर्शन को सार–रुप में प्रस्तुत करते हैं। *भगवद्गीता* की तरह *ईशावास्य* में ज्ञान, कर्म और उपासना का अपूर्व संगम है। यह समग्र ज्ञान अत्यधिक संभावनाओं से युक्त है और यह परम अनुभूति/मोक्ष का मार्ग खोलता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिए उत्तरों से अपने उत्तर की जाँच करें।

1. विद्या और अविद्या की औपनिषदिक धारणाओं पर टिप्पणी करें।

....

....

....

....

2. ईशावास्य उपनिषद् में ॐ के महत्व की चर्चा करें।

....

....

....

....

....

10.5 सारांश

ईशावास्य उपनिषद् से जुडी उपरोक्त चर्चा से हम निम्नलिखित दार्शनिक बिन्दुओं को निगमित कर सकते हैं–

1. पूर्ण सत्ता का विचार (आरंभिक आवाह्यनात्मक मन्त्र) इसमें विद्यमान है जिसके अनुसार केवल अंश को जानकर हम विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। गहन अन्तर्दृष्टि के लिए इसके समष्टि और व्यष्टिगत पक्षों का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। विश्व को इसकी समग्रता में समझा जाना चाहिए।

2. तात्विक दृष्टि से अस्तित्व के दो आयाम हैं; जगत् का उपादान, निमित्त एवं अन्तिम कारण (ईश्वर) और सृष्ट जगत्। हालांकि इसे सृष्टि कहने के बजाय प्रकाशना या अभिव्यक्ति कहना उचित होगा क्योंकि यह सभी वस्तुओं में अन्तर्निहित ऐक्य का प्रतिपादन करता है।

3. ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से द्वैत के ज्ञान और छद्म अहंकार से अविद्या का निर्माण होता है। सम्यक् तात्विक अवबोध को विद्या कहा जाता है। विद्या जीवन में नैतिक और सौन्दर्यशास्त्रीय पूर्णता का मार्ग खोलता है।

4. जहाँ तक व्यावहारिक पद्धति या साधना का सम्बन्ध है, ब्रह्माण्ड की पूर्णता का ध्यान अपेक्षित है। वैराग्य सत और असत के बीच विवेक का परिणाम है। अन्ततः इस वैराग्य का समन्वय धर्म और उपासना से अवश्य होना चाहिए।

5. मूल्य–मीमांसा की दृष्टि से आत्मानुभूति, सत्य, सौन्दर्य और शुभत्व के परम मूल्यों को धारण करती है।

   इसके अतिरिक्त सबकुछ दुःखप्रद है। केवल आत्मा या ईश्वर ही असीम शान्ति प्रदान करने में समर्थ है। आत्म–ज्ञान के अनुसरण में प्रवृत्त न होना आध्यात्मिक आत्महत्या या आत्महनन कहा जा सकता है।

6. अन्ततः ईश्वर या समस्त ब्रह्माण्ड और आत्मा की परम अवस्था अनिवार्य रुप से अनिर्वचनीय है। यह शाब्दिक विमर्श का विषय न होकर साक्षात् अनुभूति का विषय है। परमेश्वर के प्रति समर्पण करके आत्मानुभूति के लिए उस परमेश्वर की कृपा प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

10.6 कुंजी शब्द

आत्मन् : चेतना की अन्तर्भूत/जगत्–व्यापी और जगदातीत अवस्था, इसे ईश्वर या निर्गुण ब्रह्म के समकक्ष रखा जा सकता है इसे ओंकार (ॐ) के अन्त में अमात्र (मौन) से व्यक्त किया जाता है।

ॐ : परम सत्ता या आत्मा का रहस्यवादी प्रतीक, यह ध्यान की सर्वप्रमुख ध्येय वस्तु भी है। यह पूर्ण का प्रतीक है।

अविद्या : यह स्व को न जानने से जुड़ा तात्विक अज्ञान है और अहंकारगत छद्म विश्वदृष्टियों का प्रक्षेपण है।

महावाक्य : वेदान्त दर्शन में प्रधान महत्व के उपनिषदों के चार महान कथनों को महावाक्य कहा जाता है। 1– प्रज्ञानम् ब्रह्म *(ऐतरेय उपनिषद्* 3.3) 2– अहं ब्रह्मास्मि (*बृहदारण्यक उपनिषद्* 1.4.10) 3– तत् त्वं असि (*छान्दोग्य उपनिषद्* 6.8.7) 4– अयम् आत्मा ब्रह्म (*माण्डूक्य उपनिषद्* 2)

निर्गुण ब्रह्म : यह परम सत्ता का रुप एवं गुणरहित आयाम है। इसके विपरीत ब्रह्म का क्रियात्मक पक्ष है जिसे सगुण ब्रह्म कहा जाता है। यह कारण ब्रह्म के रुप में भी जाना जाता है।

पंचकोश : ये मानव–व्यक्तित्व के पांच अधिष्ठान या आवरण हैं जिनका निरुपण तैत्तिरीय तथा अन्य उपनिषदों में किया गया है। ये हैं– अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमयकोष।

प्रधान उपनिषद : इन मुख्य उपनिषदों का वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत् प्रमुखता से अध्ययन किया जाता है। शंकराचार्य ने इन पर भाष्य लिखे हैं। सामान्य रुप से संख्या में 10 हैं, *ईश (यजुर्वेद) केन (सामवेद) कठ (यजुर्वेद) प्रश्न (अथर्ववेद) मुण्डक (अथर्ववेद) माण्डूक्य (अथर्ववेद) तैत्तिरीय (यजुर्वेद) ऐतरेय (ऋग्वेद) छांदोग्य (सामवेद) बृहदारण्यक (यजुर्वेद)*।

पुरुषार्थ : इसका अर्थ है मानव के सद्गुपण या कर्त्तव्य। वे चार हैं– धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष।

शरीर त्रय : उपनिषदों में मानव के तीन शरीरों की व्याख्या की गई है; स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर।

वेदान्त : यह प्रस्थानत्रय पर आधारित शिक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है। प्रस्थानत्रय तीन हैं, उपनिषद्, भगवद् *गीता* और *ब्रह्मसूत्र*।

विद्या : यह आत्म या स्व का ज्ञान है।

विवेक : मन की वह शक्ति जिससे वह सत् और असत् के मध्य भेद करता है।

10.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

ईशावास्य उपनिषद्: गॉड इज एवरीथिंग, कमेन्टरी बाई चिन्मयानन्द. हरिद्वार: अद्वैत आश्रम सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, 2013.

डायसन, पॉल. द *फिलॉसोफी ऑफ उपनिषद्स.* न्यूयॉर्कः कोस्मिओ क्लासिक्स, 2010.

राधाकृष्णन्, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* सेकण्ड एडिशन. लन्दनः जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, 1931.

राधाकृष्णन्, एस. *प्रिंसिपल उपनिषद्स.* न्यूयॉर्कः हार्पर कॉलिन्स, 1963.

शर्मा, सी डी. *अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1990.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

ईशावास्योपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुरः गीताप्रेस, विक्रम सम्वत् 2064.

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. 'उपनिषद्' शब्द संस्कृत के तीन शब्द– 'उप', 'नि' 'सद्' से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, 'पास बैठना'। एक औपनिषदिक परिवेश में शिष्य अपने गुरु के समीप बैठता है। यह गुरु के प्रति सम्मान का प्रतीक है। इस परिवेश में आत्मा और ब्रह्म के विषय में महान कथनों के ज्ञान के प्रकाश के द्वारा अज्ञान का अन्धकार दूर कर दिया जाता है। *ईशावास्य उपनिषद्* भी इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। उपनिषदों (*भगवद् गीता* और *ब्रह्मसूत्र* के साथ) पर आधारित शिक्षा को वेदान्त भी कहा जाता है। महावाक्यों में यह साररुप में व्यक्त हुआ है जो आत्मा,जगत् और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करते हैं।

2. ईशावास्य शब्द का अर्थ है ईश्वर या विश्व के अन्तःनियन्ता के द्वारा व्याप्त होना। यह इस पर प्रकाश डालता है कि उपनिषदों को किस प्रकार समझा है। इसमें यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार जगत् ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है जो अन्दर और इसके बाहर जगह फैला हुआ है। यह अन्तर्भूत और जगदातीत है। ईश्वर सत्, चित् और आनन्द होकर सत है, नाम और रुप से निर्मित असत जगत् उसी का प्रक्षेपण या आभास है। सार्वभौमिक ईश्वर के एकत्व की अनुभूति को ईशावास्य शीर्षक से व्यक्त किया गया है। यह पूर्ण के विचार को भी व्यक्त करता है। अर्थात् जो कुछ है सब ईश्वर रुप है।

बोध प्रश्न 2

1. उपनिषद् की भाषा में, विद्या और अविद्या की अवधारणा प्रधान महत्त्व की है। अविद्या का अर्थ है आत्म, जगत् और ईश्वर के यथार्थ को न जानना। यह भ्रामक रुप से अहंकार से पहचान जोड़ना है, एक असम्यक् विश्वदृष्टि है और आत्म और जगत् से भिन्न ईश्वर की धारणा है। इस द्वैत रुप अज्ञान को केवल इस आत्मानुभूतिरूप ज्ञान या विद्या से ही मिटाया जा सकता है कि ईश्वर जगत् के सार में है। इस ज्ञान और विवेक के ही बल पर ही असत और जो आत्मा का आभास है–का त्याग किया जा सकता है। यह वैराग्य का भाव विद्या का अनायास परिणाम होता है। यह निष्काम कर्मरुप धर्म–पालन का मार्ग खोलता है। एकत्व का विचार भक्ति के पथ का भी

आधार–तत्त्व है। इसलिए वेदान्त में समस्त दुःखों का कारण अविद्या का माना गया है जिसका वास्तविक प्रतिकार विद्या है।

2. उपनिषदों के अनुसार, जो कुछ सत है, वह अनुभूतिगम्य है। परम सत्ता केवल एक तार्किक परिकल्पना नहीं है। यद्यपि परम सत्ता की भाषिक अभिव्यक्ति असंभव है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसकी अनुभूति नहीं हो सकती। इसकी अनुभूति की कई पद्धतियां हैं और ॐकार का ध्यान करना सबसे प्रभावकारी विधियों में से एक है।

ॐ समस्त सत्ता का प्रतीक है। *ईशावास्य उपनिषद्* के प्रार्थना–मन्त्र में ॐ को पूर्ण के रुप में वर्णित किया गया है। अ जाग्रत् अवस्था को व्यक्त करता है, उ स्वप्नावस्था को, म सुषुप्ति को तथा अन्त का मौन तुरीयावस्था, आत्मा या ब्रह्म को व्यक्त करता है। यह साररुप में सर्व की सम्पूर्ण धारणा को व्यक्त करता है। ॐ या पूर्ण स्रष्टा और सभी स्तरों पर सृष्टि को भी व्यक्त करता है। न केवल ईशावास्य उपनिषद् में बल्कि समग्र वैदिक परम्परा में और दूसरे पन्थों में ॐ शुभ एवं उच्च श्रद्धा का प्रतीक है। इसे साररुप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–

अ जाग्रत्

उ स्वप्न

म् सुषुप्ति

मौन तुरीय

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 11 कठोपनिषद्[11]

रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 परिचय

11.2 नचिकेता की कथा

11.3 आत्म (स्व) का स्वरूप

11.4 आत्म (स्व) की अनुभूति

11.5 अनुभूति के साधन

11.6 वैयक्तिक (अण्ड) आत्म एवं परम (ब्रह्माण्ड) आत्म

11.7 अनुभूति का फल

11.8 जीवन–मुक्तिः जीवन में ही अनुभूति

11.9 विदेह–मुक्ति

11.10 सारांश

11.11 कुंजी शब्द

11.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

11.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

कठ उपनिषद् प्रसिद्ध उपनिषद् है जो मानवीय जीवन के लक्ष्य सम्बन्धी आधारभूत प्रश्नों के उत्तर को प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत इकाई के अन्त में, आशा की जाती है कि आप इन प्रश्नों के उत्तर जानने में सक्षम होंगे:

- जीवन और मृत्यु के अर्थ के प्रश्न.
- अमरत्व के प्रश्न
- धर्म और अधर्म के अर्थ के प्रश्न
- ज्ञान और अज्ञान के प्रश्न
- संसार (जगत्) के अन्तिम (परम) कारण सम्बन्धी प्रश्न

[11] डॉ. जॉन पीटर, सं. एन्टोनीज महाविद्यालय, कोटागिरि, अनुवाद– श्री आशुतोष व्यास, परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र), एसोआईटीएस, इग्नू

11.1 परिचय

कठ उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित है। जीवन के रहस्यमय सत्यों का अवगाहन संक्षिप्त और सुस्पष्ट पूर्णतः के साथ करने के कारण इस उपनिषद् की महनीयता है। जीवन और मृत्यु के आधारभूत प्रश्नों, जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों के अर्थ इस उपनिषद् की विषय–वस्तु हैं। वेदान्त के एकीकृत सिद्धान्त का अन्य उपनिषदों से बेहतर प्रस्तुतीकरण इस उपनिषद् में है। यम जैसे गुरू और नचिकेता जैसे शिष्य के कारण यह सम्वाद प्रतिभा की उच्चतम अवस्था को प्राप्त है। उपनिषद् की पृष्ठभूमि/आलेखन गुरू यम और गम्भीर, ईमानदार और प्रेरित शिष्य नचिकेता के मध्य सम्वाद में अवस्थित है। शिष्य को नित्य और अनित्य की समझ रखने वाला बताया गया है। 12 वर्ष के नचिकेता को वाजश्रवा का पुत्र बताया गया है। यह बालक अपने पिता और समाज के प्रति समर्पित है। वह आत्म–ज्ञान प्राप्ति हेतु परम इच्छा और जिज्ञासा रखता है। यम से मिलने पर उसे तीन वरदान प्राप्त हुए। बालक ने प्रथम वरदान में, पिता के उसके प्रति क्रोध की शान्ति, द्वितीय में, स्वर्ग प्राप्ति हेतु उपायभूत अग्निचयन का ज्ञान, और तृतीय में, आत्म–ज्ञान–सम्बन्धी ज्ञान मांगा। कठ उपनिषद् में दो अध्याय और एक सौ बीस श्लोक हैं। प्रत्येक अध्याय में वल्ली कहे जाने वाले तीन खण्ड हैं।

11.2 नचिकेता की कथा

नचिकेता के पिता वाजश्रवा ने पुण्य–प्राप्ति हेतु यज्ञ करते हैं। विश्वजित् यज्ञ की पूर्णाहुति पर, उन्होंने बूढ़ी और अशक्त गायों को ब्राह्मणों को दक्षिणा में प्रदान किया। इस प्रकार के यज्ञ में यज्ञकर्त्ता से आशा की जाती है कि वह अपनी सम्पूर्ण प्रिय सम्पदा पुरोहितों को दान में दें। बालक नचिकेता पिता के कृत्य को देखकत व्यथित हुआ और दान के लिए प्रियवस्तु के रूप में स्वयं को प्रस्तुत किया। अपनी सम्पूर्ण सम्पदा को दान करने के पिता के प्रण को जानकर, नचिकेता ने पिता से कहा, "प्रिय पिता, आप मुझे किसे दान देंगे?" पिता के उत्तर न देने पर नचिकेता ने प्रश्न बारम्बार दोहराया, तब क्रोधित होकर पिता ने कहा, "यम को"। अपने वचन को महसूस कर पिता संताप को प्राप्त हुए, परन्तु पिता की बात का मान रखते हुए, नचिकेता यम के पास चला गया। बिना अन्न–जल ग्रहण के तीन रात–दिन यम का इंतजार करता रहा। नगर वापिसी पर यम बालक पर दयावान हुए और हठ देखकर प्रसन्न हुए। उन्होंने बालक नचिकेता को तीन वरदान दिये। बालपन होने पर भी नचिकेता प्रज्ञावान था।

उसने पहला वर मांगा कि उसके पिता चिन्ता, क्रोध से मुक्त होकर मनःशान्ति को प्राप्त हों।

द्वितीय वर के रूप में उसने उस यज्ञ का ज्ञान मांगा, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और व्यक्ति भूख, प्यास, क्रोध और संताप से मुक्त हो जाता है। यम ने प्रसन्नतापूर्वक यह वरदान दिया। उन्होंने बताया कि कैसे यज्ञीय अग्नि विश्व का स्रोत बनती है। नचिकेता ने बताये गये समस्त प्रक्रिया–विधानों को सुना दिया। यम बालक की मेधा–शक्ति और योग्यता से प्रसन्न होकर यम ने कहा, "आज से यह यज्ञीय अग्नि तुम्हारे नाम से जानी जायेगी।" और यह भी कहा कि जो भी यह अग्नि तीन बार प्रज्ज्वलित करेगा, वह तीन देवताओं से संयुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होगा।

तीसरे वर के रूप में नचिकेता ने मृत्यु के पश्चात मनुष्य का क्या होता है? इस विषय में ज्ञान चाहा। उसने पूछा, "मृत्यु के पश्चात मनुष्य का क्या होता है, इस सम्बन्ध में संषय है। कुछ कहते हैं कि उसका अस्तित्व होता है और अन्य कहते हैं कि नहीं होता।" यम ने कहा कि महान विद्वान भी इस सन्दर्भ में संशयग्रस्त हैं और इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त जटिल एवं सूक्ष्म होने के कारण बोध में कठिन है। ऐसा कहकर यम ने बालक को इस प्रश्न के प्रति हतोत्साहित करना चाहा और भौतिक/सांसारिक वस्तुओं; धन, स्वर्ण, घोड़े, हाथी, भूमि इत्यादि लेने का प्रस्ताव दिया। नचिकेता उत्तर प्राप्ति हेतु दृढ़ और अडिग रहा। सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता के बोध वाले नचिकेता ने नित्य ज्ञान की प्राप्ति को महत्व दिया। नचिकेता के सांसारिक सुख–इच्छाओं से निवृत्ति से यम प्रभावित होकर यम ने नित्य ज्ञान को निर्देशित करना प्रारम्भ कियाय अविद्या और विद्या भिन्न मार्गों की प्राप्ति के कारण एक–दूसरे से भिन्न हैं। सत्य–प्राप्ति हेतु *कठोपनिषद्* में दी गई शिक्षाओं में वर्णित ज्ञानमार्ग का अनुसरण किया जाना चाहिए।

11.3 आत्म का स्वरूप

अजन्मा, नित्य, अन्तहीन, पुराण (प्राचीन) और अनश्वर आत्म का स्वरूप है। आत्म का न जन्म है न मृत्यु। यह सर्व–आच्छादक, दूरस्थ, समीपस्थ, और सर्वव्यापक है। यह आनन्द–परिपूर्ण और आनन्द–रहित दोनों है। यह अशरीरी होते हुए भी सबको आच्छादित करने वाला है। यह सूक्ष्मतम से अधिक सूक्ष्म और उसी समय महानतम से महान है। पुरुष (आत्म) सूक्ष्मतम है। यह इन्द्रियगोचर वस्तुओं, इन्द्रियों, मनस्, बुद्धि, और महत्, व्यक्त हिरण्यगर्भ और अव्यक्त से भी सूक्ष्म है। आत्म सबमें है। आत्म ध्वनिहीन, रूपहीन, अनश्वर, स्वादहीन, गन्धहीन, नित्य, स्थिर, सर्व–आच्छादक, सूक्ष्मतम, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। इसका प्रकाश सूर्य, चन्द्र, तारों, प्रकाश और अग्नि से भी महानतर है। इसे देखा नहीं जा सकता, यद्यपि इससे सबकुछ प्रकाशित है। कोई भी मर्त्य श्वांस मात्र से जीवित नहीं रहता। वह आत्म से जीवित रहता है, जिस पर सम्पूर्ण अस्तित्व निर्भर रहता है। ब्रह्म में सबकुछ स्थित है और वह सबका स्रोत है। उसकी तुलना पेड़ से की जा सकती है जिसकी मूल आकाश में और शाखाएं नीचे अवस्थित हैं। प्रत्येक सम्भावित वस्तु इसमें स्थिति को पाती है। जिससे कोई भी पारगमित नहीं हो सकता। उसके आदेश पर, विधाता भी प्राण–शक्ति के समान उसमें श्वसन करता प्रकट होता है। वह प्राकृतिक नियम (ऋत्) को बनाने वाला है, और वज्र के समान भयकारी है। आत्म की शक्ति से अग्नि, सूर्य, वायु, और यहां तककि मृत्यु भी नियन्त्रित हैं। आत्म के आदेश से सभी शक्तियां और देवता अपने नियत दायित्वों का निर्वहन करते हैं। पुरुष (आत्म) सभी से महान है। वह, सबके द्वारा अभिलषित सत्य है। वह ही सूर्य है, आकाश में वायु, यज्ञवेदी की अग्नि और यज्ञ का सोमरस है। फिर भी उसका रूप दृष्टि के क्षेत्र से परे है। कोई भी इन नेत्रों से उसे नहीं देख सकता।

आत्म चेतन है। यह शरीर का गुणधर्म नहीं है, क्योंकि भौतिक द्रव्य स्वरूप में आन्तरिकतः संज्ञारहित है। आत्म शरीर का उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि अचेतन भौतिक द्रव्य चेतन/चेतनावान को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह शरीर का अंग भी नहीं है, क्योंकि यह सम्पूर्ण शरीर को आच्छादित करता है और इसे जीवन्त और चलायमान/कम्पायमान बनाता है। शरीर का प्रत्येक अंग अपने अस्तित्व के लिए आत्म पर ही निर्भर है। वे सभी आत्म पर निर्भर हैं, अपने अपने अस्तित्व के लिए आत्म उन पर निर्भर नहीं है। यह शरीर की सीमाओं से सीमित नहीं है। शरीर के क्षीण होने पर भी यह एकमात्र जीवित रहता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त अवकाश का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में प्रदत्त उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1. नचिकेता के द्वारा मांगे गये तीन वरदानों की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

2. आत्मा के लक्षणों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

11.4 आत्म की अनुभूति

आत्मानुभूति करने वाला ही आत्म–सम्बन्धी ज्ञान के बारे में बता सकता है। यम कहते हैं, "अरे मनुष्य! उठो, जागो और सत्य का अनुभव करो।" सत्य को जानने का मार्ग छुरे की पैनी धार के समान है। कठिन होते हुए यही मार्ग अनुसरित किया जाना चाहिए। कठिनाई आत्म और अनात्म के विवेक में है। जो भी व्यक्त है वह अव्यक्त ब्रह्म में है। साधारण मनुष्य इस सत्य की अनुभूति में असफल होता है और संसार को ब्रह्म से भिन्न देखता है। इन्द्रिय स्वरूपतः बहिर्मुख हैं। फलतः, जो स्वयं का शरीर और इन्द्रिय से तादात्म्य मानता है, वह केवल इन्द्रिय और बाह्य–जगत् को ही समझने और जानने का प्रयास करता है। इन्द्रिय में मग्न रहने वाले वे आत्म–दृष्टि प्राप्त नहीं करते हैं। ये व्यक्ति अपने विचारों और लक्ष्यों में अबोध बच्चों के समान हैं। केवल थोड़े से अमरत्व की आकांक्षा वाले बुद्धिमान (प्रज्ञावान) व्यक्ति अपने ध्यान को अन्तर्मुख करते हैं और आत्म–ज्ञान और आत्मानुभूति सम्बन्धी जिज्ञासा करते हैं।

11.5 आत्म–अनुभूति के साधन

केवल तर्क से आत्म–ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ज्ञान तर्क से अधिक है। यह शास्त्र–ज्ञान से या मानवीय बुद्धि से प्राप्तव्य नहीं है। यह केवल आन्तरिक अनुभूति/

साक्षात्कार और अनुभव से सम्भव है। अनियन्त्रित मन वाला व्यक्ति अशुद्ध होकर भौतिक सुखों में लिप्त हो जाता है। सांसारिक सुखों की चाह न रखने वाला व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त करता है। मन के ध्यान और स्वयं में अन्तर्वासी के रूप में आत्म को अवस्थित पाना ही अनुभूति/साक्षात्कार का मार्ग है। आत्म सूक्ष्मतम है और सभी के हृदयों में विराजित है। अनुभूति कठिन है, परन्तु प्रज्ञावान इसे प्राप्त करते हैं। इच्छाओं से मुक्त आत्म को देखता है और दुःखों से मुक्त होता है। समस्त बाधाओं की अप्रकटन पर आत्म की उपलब्धि होती है। जब मन सहित पांचों इन्द्रियां विरत हैं और बुद्धि अक्रिय हो जाती है, तब उच्चतम अवस्था प्राप्त होती है। वह संक्रमणशील संसार के सुख–दुःख को त्याग देता है। सत्य को जानने और अवबोधन के पश्चात्, वह उस सूक्ष्म आत्म को उपलब्ध करता है और आनन्दरत होता है। आत्म–ज्ञान प्रत्येक को मुक्त करता है। भौतिक वस्तुओं और बाह्य–सुखों में रत अबुद्धिमान व्यक्ति जन्म–मृत्यु के चक्र में फंसा रहता है। प्रज्ञावान/बुद्धिमान आत्म को जानकर मुक्त हो जाता है। नचिकेता ने मृत्यु के पश्चात् की अवस्था के सत्य सम्बन्धी प्रश्न किया। यम कहते हैं कि कुछ आत्माएं शरीर प्राप्ति हेतु गर्भ में पुनः प्रवेश करती हैं। जो मुक्त नहीं हैं पुनः जन्म पाते हैं। कुछ अन्य अप्रबोधित आत्माएं पादप–शरीर को पाती हैं। इस पुनर्जन्म में भेद (भिन्न–भिन्न शरीरों की प्राप्ति) का कारण कर्म हैं।

स्वर वेदों की समस्त शिक्षाओं और पवित्र कार्यों का लक्ष्य है। यह वह परमार्थ है जो समस्त तपस्याओं का अन्तिम उद्देश्य है। व्यावहारिक और पारमार्थिक ब्रह्म है। जो भी स्वर और आत्म (ब्रह्म) की तादात्म्यता को जानता है, वह समस्त काम्य को पाता है। वह अविद्या और विद्या, कारण और कार्य और अन्य समस्त क्षेत्रों से परे हो जाता है।

यह ज्ञान तर्क, विचार, अन्तर्प्रज्ञा या बुद्धि से प्राप्तव्य नहीं है, अपितु अपने हृदय में प्रवेश करके प्राप्त किया जा सकता है। स्वयं में झांकना और सूक्ष्म विषय को समझना मोक्ष को सम्भव बनाता है। अनात्म और आत्म का भेदज्ञान (विवेक) आत्मानुभूति के लिए आवश्यक है। जैसे कोई गेंहू को घुन से पृथक् करता है, उसी प्रकार आत्म से शरीर को पृथक् करना चाहिए। यह योग स्वयं के प्रयास और कौशल से पाया और खोया जा सकता है। योग मनस् के द्वारा इन्द्रियों का नियमन है। योगी मन की चंचलता से मुक्त होता है।

जैसेकि आत्म स्वयं को सब पर प्रकट नहीं करता, इसी तरह वह सबको उपलब्ध/प्राप्त भी नहीं होता। वह शास्त्राध्ययन और बुद्धि से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वह ध्यानवस्थित और शुद्ध मन वाले सत्यान्वेषी द्वारा दृष्ट और अनुभूत है। जो बुरे आचरण से रहित नहीं है, जो अनियन्त्रित मन वाला है, और जो ध्यानस्थ नहीं है वह आत्म की झलक भी नहीं पा सकता है।

11.6 वैयक्तिक आत्म और ब्रह्माण्डीय आत्म

आध्यात्मिक क्षेत्र में, सत् दो तरह से समझा जा सकता है, वैयक्तिक आत्म और ब्रह्माण्डीय आत्म। ब्रह्माण्डीय आत्म उत्पन्न सत् की बुद्धि और चेतना में प्रवेश करके हृदय की गुफा (गुहा) में निवास करता है। यह सजीवों के जीवन को प्राणित करता है। वैयक्तिक आत्म के रूप में उसी क्षण यह मनुष्य के अच्छे–बुरे कर्मों का फल भोगता है। आत्म सर्वज्ञ, जो जन्मता या मरता नहीं। यह रचित नहीं है। शरीर के क्षय होने पर आत्म का क्षय नहीं होता है। आत्म न मरता है, न मारता है। जैसे वायु सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है और बर्तनों के आकार के कारण भिन्न–भिन्न मानी जाती है, उसी तरह आत्म समस्त प्राणियों के हृदयों

में निवास करता है, और भिन्न–भिन्न रूप में प्रकट होता है। अपनी परम अवस्था में यह अगोचर और अन्तःस्थ है। इसकी उपस्थिति से रहित कोई स्थान नहीं है। यह अन्तर में, बाहर में और सर्वत्र है।

नित्य ब्रह्म ग्यारह द्वारों वाले नगर में निवास करता है। ये द्वार निम्नलिखित हैं; सिर में सात, एक नाभि में, दो निम्नभाग में, एक अग्रमस्तिष्क में। आत्म भौतिक शरीर की अध्यक्षता करता है। *कठोपनिषद्* में एक सुन्दर रूपक से आत्म और शरीर के सम्बन्ध को दर्शाया गया है। शरीर की तुलना एक ऐसे रथ से की गई है जो जीवन–मार्ग पर अन्तहीन यात्रा कर रहा है, मन की तुलना लगाम, इन्द्रियों की घोड़ों और बाह्य वस्तुओं की तुलना सड़क से की गई है। आत्म भोक्ता है। यदि कोई अनियन्त्रित मन वाला और अविद्याग्रस्त है उसकी इन्द्रियां बेलगाम घोड़ों की तरह हो जाती हैं। नियन्त्रित मन रथ को सही दिशा में ले जाता है। अशुद्ध मन से लक्ष्य–प्राप्ति कठिन है।

11.7 अनुभूति का फल

अनुभूति के पश्चात् व्यक्ति संतप्त नहीं होता है, क्योंकि आत्म पर ध्यान के फलस्वरूप अविद्या से मुक्ति हो जाती है। अनुभूत आत्म संतप्त नहीं होता क्योंकि वह ब्रह्माण्डीय आत्म को वैयक्तिक आत्म जैसा और सर्व–आच्छादक रूप में अनुभव करता है। यह बिना किसी भौतिक लगाव/मोह (एषणा) के और बिना नाम या रूप के सभी के हृदयों पर ध्यानावस्थित होता है। बुद्धिमान सत्य का अनुभव करता है कि आत्म इन्द्रियों से विरक्त है। इन्द्रियां केवल पंच महाभूतों का उत्पाद्य हैं। उनका अस्तित्व और क्रियाक्षेत्र सीमित और परिवर्तनशील है। आत्म उनसे असीमित और कूटस्थ (अपरिवर्तनशील) होने के कारण पूर्णतः भिन्न है। आत्म को 'यह वह है' (वैयक्तिक आत्म और ब्रह्माण्डीय आत्म ऐक्यता/तादात्म्यता) के रूप में जानने वाला भयमुक्त हो जाता है। मुक्त होकर, जन्म–मरण के जाल से परमतः/पूर्णतः मुक्त हो जाता है। मन की शुद्धता पर जब आत्मानुभूति होती है, तब द्वैत और बहुत्व बाह्य संसार, जोकि सीमित, सीमाबद्ध और बद्धकारी है, का अन्त हो जाता है। जाग्रत् लोग अरण्य काष्ठ में अरणि की पूजा करते हैं। अरणि (अग्नि) सर्व–आच्छादक आत्म ही है। गर्भ के अन्दर सुरक्षित भ्रूण की तरह अग्नि काष्ठ में सुरक्षित होती है। यह केवल अनुभूत (साक्षात्कृत) व्यक्ति को ही दिखाई देती है। जो इस सत्य को जानता है वह आत्मा को जीवन को स्थित करने वाले और भूत एवं भविष्य के स्वामी के रूप में अनुभव करता है। इस प्रकार जो अन्यों के लिए अज्ञात और अज्ञेय है, वह बुद्धि के द्वारा ज्ञेय बन जाता है। बुद्धि द्वारा प्रकाश, स्वाद, गन्ध, ध्वनि, स्पर्श आदि को ग्रहण करने की सामर्थ्य आत्म की सामर्थ्य ही है। परम सत् के लिए कुछ भी अज्ञेय नहीं है। अनुभूत का आत्म निर्मल जल में उड़ेले गये निर्मल जल के तरह निर्मल रहता है। जो आत्म को समझने और जानने में समर्थ है अमर हो जाता है। जो व्यक्ति इस सत्य को देखता और इसका अनुभव करता है जीवित (वर्तमान शरीर में रहते हुए) रहते हुए भी ब्रह्म पद को प्राप्त करता है। वह जीवन–मुक्त हो जाता है।

11.8 जीवन–मुक्तिः जीवित रहते अनुभूति

उपनिषदों में आत्म–ज्ञान का लाभ दो रूपों में व्यक्त किया गया है। एक इसी जीवन में, दूसरा मृत्यु के पश्चात्। *कठोपनिषद्* इनको जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति कहता है। मृत्यु के पश्चात जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्ति और अमरत्व प्राप्त होता है, यहीं शरीर में रहते हुए

पृथ्वी पर प्रामाणिक अर्थपूर्ण जीवन के प्रति ध्यानाकर्षित होता है। जीवन मुक्ति भांति प्रकार से मानसिक स्तरों पर प्राप्त ज्ञान–लाभ है। जीवन में रहते हुए संतुष्टि की भावना (अहसास) अनुभूति का प्रथम लाभ है। अनुभूत व्यक्ति सीमाओं से मुक्त और सभी से सम्बन्धित होता है। सर्व–आच्छादक आत्म को स्वयं में अनुभूत करने के कारण विभक्त होने या निषेध की भावना नहीं रहती। द्वितीय, वह मानसिक एवं भावनात्मक स्तर पर निर्भर नहीं रहता। वस्तुओं की प्राप्ति न होना या वंचित होना, सम्बन्ध या विछोह से भावनात्मक रूप से प्रभावित नहीं होता। अनुभूत व्यक्ति (साक्षात्कृत्) सम्पत्ति, पद, व्यक्ति, शक्ति, सत्ता, प्रसिद्धि, सम्मान आदि बाह्य कारकों पर निर्भर नहीं रहता। तृतीय, अनुभव (साक्षात्कार) से भावनात्मक संतुलन या स्थिरता की सामर्थ्य का उदय होने से जीवन में किसी भी परिस्थिति का सामना करने की योग्यता आ जाती है। भावनात्मक अस्थिरता आत्म को प्रभावित नहीं करता है।

11.9 विदेह–मुक्ति

जीवन मुक्ति जीवित रहते मुक्त होना है, वहीं विदेह मुक्ति मृत्यु के पश्चात् मुक्ति है। *कठोपनिषद्* में अविद्याग्रस्त व्यक्ति के साथ क्या होता है, यह स्पष्टतया बताया गया है। मृत्यु के पश्चात् अनुभूत व्यक्ति केवल देहपात करता है। मृत्यु आत्म का पंच महाभूत से निर्मित शरीर से वियोग है। देह (शरीर) का लय पंच महाभूतों में हो जाता है। अज्ञानी के लिए सूक्ष्म और कारण शरीर अस्तित्व में रहते हैं। सूक्ष्म शरीर संसार में आने के लिए अन्य भौतिक (स्थूल) शरीर की चाह रखता है।

पुनर्जन्म अन्य शरीर में घटित होता है। कर्म–सिद्धान्त पुनर्जन्म की प्रक्रिया में क्रियाशील रहता है। प्रत्येक शरीर में आत्म अच्छे और बुरे कर्मों का अनुभव करता है और उसी के अनुसार धर्म और अधर्म प्राप्त करता है। ये धर्म और अधर्म पूर्वजन्म के अच्छे और बुरे फलों के भोग के लिए पुनर्जन्म का निर्णय करते हैं। अज्ञानी व्यक्ति में शेष अफलभूत पुण्य–पाप के भोग हेतु सूक्ष्म और कारण शरीर अन्य भौतिक शरीर को पाने को बाध्य होते हैं। इस प्रक्रिया के विपरीत, अनुभूत व्यक्ति के जीवन में पुनर्जन्म प्राप्ति का कारण बनने वाले कोई नये पुण्य–पाप नहीं होते हैं। मुक्त व्यक्ति की मृत्यु पर तीनों शरीर विश्व में व्याप्त हो जाते हैं। ज्ञानी के लिए व्यक्ति रूप में कोई भी जीवित नहीं है। व्यक्तिपरक जीव न होने के कारण जन्म–मृत्यु के चक्र से स्वतन्त्रता सम्भव है। मृत्यु पर, अनुभूत व्यक्ति पुनर्जन्म से मुक्ति के रूप में विदेह मुक्ति प्राप्त करता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) उत्तर के लिए प्रदत्त अवकाश का प्रयोग करें।

ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. स्व–अनुभूति की आवश्यकता क्या है?

....

....

....

....

....

2. स्व–अनुभूति के साधनों की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

....

3. आत्म–ज्ञान के लाभों की दृष्टान्ततः चर्चा करें।

....

....

....

....

....

11.10 सारांश

प्रत्येक *उपनिषद्* का मन्तव्य व्यक्ति का आध्यात्मिक उन्नयन है। *कठोपनिषद्* नचिकेता और यम के मध्य सम्वाद–शैली में लिखा होने कारण अत्यधिक प्रसिद्ध है। *उपनिषद्* वाजश्रवा के पुत्र नचिकेता की कथा कहता है, जिसने यम द्वारा प्रदत्त शिक्षा ग्रहण की। कथा से आरम्भ कर उपनिषद् गहन दार्शनिक सत्यों को उद्घाटित करता है। यह लौकिक और पारलौकिक जगतों के बारे में सत्य का रहस्योद्घाटन करता है, जो मानवीय समझ से परे है। *उपनिषद्* में आत्म का मन और देह दोनों से भेद स्पष्ट है। इच्छा, क्रोध, घृणा, भय मन से सम्बन्धित हैं। आत्म से तादात्म्य के बिना वस्तुओं के बारे में तटस्थ दृष्टि, व्यक्ति को अनश्वर आत्म की अनुभूति कराती है। आत्म मन और देह नहीं है। जीवित रहते हुए भी, कोई भी उन्हें एकरूप में ग्रहण नहीं कर सकता। इच्छाओं और देहात्म (दैहिक चेतना) की पूर्ण समाप्ति पर केवल आत्म ही भासित होता है।

ऐसे व्यक्ति के लिए मृत्यु नहीं। मृत्यु केवल देह की होती है, आत्म की नहीं। यम के शब्दों में जीवन का लक्ष्य निर्धारित है और यह मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त व्यक्ति मृत्यु, पुनर्जन्म और अस्तित्व सम्बन्धी समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। जो भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है, मन और इन्द्रिय नियमन और आध्यात्मिक अनुशासन वाला है, वह ब्रह्म–क्षेत्र में पहुँच जाता है। ध्यान और आत्मानुभूति का उचित पथ वाक् शक्ति का मन में, मन का बुद्धि में और बुद्धि का महत् (आत्म) में लय होना है। मोक्ष का अर्थ है पुनर्जन्म से स्वतन्त्रता। आत्म–ज्ञान यह सम्भव बनाता है। यह ज्ञान आत्म के स्वरूप ज्ञान से आता है। यह धूम्ररहित आग है। यह चेतनमात्र है। आकाश तक फैली जड़ों वाले वृक्ष का रूपक यह बताने के लिए प्रस्तुत किया गया कि स्वर्ग समस्त जीवनों का मूल है। आत्म सभी का स्रोत है। यह सभी को ध ारण करता है और जो भी इससे परतन्त्र है, उसे जीवन प्रदान करता है। आत्मनिर्भर होने पर भी यह सभी के हृद–गुहा में विराजित है। सभी वस्तुएं और जीवात्माएं अपना आलम्बन और शक्ति आत्म से ही प्राप्त करते हैं। प्राण के चले जाने पर, केवल आत्म रहता है। भौतिक शरीर के क्षीयमान होने पर अपरिवर्तनीय आत्म जीवित रहता है।

आत्म के स्वरूप की अनुभूति केवल सीखने या शास्त्रीय विद्वत्ता से नहीं आती है। यह बुद्धि या अन्तर्प्रज्ञा पर निर्भर नहीं है। अनुभूति साक्षात अनुभव है। अनुभूति नया अन्वेषण नहीं है। यह जो पहले से है उसके प्रति अवधानमात्र है। अज्ञान के कारण आत्म की प्रत्यभिज्ञा या ज्ञान नहीं होता है। समस्त प्राणियों में छिपा हुआ आत्म अनुभूति का विषय है। जो अनुभूत नहीं है, वह पुनर्जन्म के चक्र और मृत्यु की अवस्था से जूझता है। जो यह सोचता है कि वह बुद्धिमान और प्रबुद्ध है वह बारम्बार पुनर्जन्म और मृत्यु के चक्र से गुजरता है। आत्म पर ध्यान से व्यक्ति अज्ञान से छुटकारा पाता है। शरीर के अवधान के बिना जो इहलोक में जीवित है वह जीवन–मुक्त कहलाता है। जब समस्त इच्छायें नष्ट हो जाती हैं और अज्ञान दूर हो जाता है, तब व्यक्ति अमर हो जाता है। उपनिषद् घोषणा करता है कि जो आत्म–अवधान में है, वह मृत्यु से परे मुक्त व्यक्ति है। वह अमरत्व को प्राप्त होता है।

11.11 कुंजी शब्द

रूपक : रूपक; मेटाफर (लैटिन शब्द मेटाफोरिया) वह भाषा है जो असम्बन्धित विषयों से प्रत्यक्षतः जुड़ी हुई होती है। यह वाक्–रूप है जो दो या अधिक वस्तुओं को सम्बद्ध करती है। सामान्यतः, रूपक प्रथम वस्तु को किसी तरह से द्वितीय वस्तु की तरह या समतुल्य रूप में वर्णित करता है।

पुनर्जन्म : पुनर्जन्म पुनः शरीर धारण करने और उस विश्वास को जिसमें मृत्यु से पुनः जन्म तक किसी सार तत्व के अस्तित्व माना जाता है, संदर्भित करता है।

11.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

ऑलिवेल, पैट्रिक. *उपनिषद्स.* लन्दनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998.

कीथ, आर्थुर बेरीडले. *दि रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1970.

के. पी. बहादुर. *दि विज़्डम ऑफ उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः स्टर्लिंग पब्लिशर्स, 1989.

नैयर, शांता एन. *ईकोस ऑफ एन्सियन्ट इण्डियन विज़्डम.* न्यू देल्हीः पुस्तक महल, 2008.

प्रसाद, रामानुज. *नो दि उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः पुस्तक महल, 2003.

मर्सियर, जीन एल. *फ्रॉम दि उपनिषद्स टू ऑरोबिन्दो.* बैंग्लोरः एशियन ट्रेडिंग कॉर्पोरेषन, 2001.

राधाकृष्णन्, एस. *दि प्रिंसिपल उपनिषद्स.* न्यू देल्हीः हार्पर कॉलिन्स, 1994.

रामा, श्री स्वामी. *एनसाइक्लोपीडिया विदाउट गॉड.* पेन्नसिल्वेनियाः हिमालयन इन्स्टीट्यूट, 1982.

रानाडे, आर डी ए. *कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी.* बॉम्बेः भारतीय विद्या भवन, 1968.

शास्त्री, टी. वी. कपालि. *लाईट्स ऑन दि उपनिषद्स.* पॉण्डिचेरी: दीप्ति पब्लिकेशनस, 1985.

सरस्वती, स्वामी परमार्थानन्द. *इन्ट्रोडक्शन टू वेदान्त.* चेन्नई: योगमलिका, 2005.

सुब्रह्मण्यन, एन. एस. *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि उपनिषद्स.* न्यू देल्ही: स्टर्लिंग पब्लिशर्स, 1990.

सिंह, बलबीर. *दि फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स.* न्यू देल्ही: आर्नोल्ड–हीनेमन्न, 1983.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

कठोपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुर: गीताप्रेस, विक्रम सम्वत् 2074.

कठोपनिषद्. हिन्दी व्याख्या– सुरेन्द्रदेव शास्त्री. वाराणसी: चौखम्भा विद्याभवन, 2007.

11.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. भगवान यम से मिलने पर नचिकेता को तीन वर प्राप्त हुए। बालक नचिकेता ने पहले में, पिता के क्रोध की शान्ति, दूसरे में, स्वर्ग प्राप्ति के उपायभूत अग्निचयन की विधि, और तीसरे में, आत्म सम्बन्धी ज्ञान मांगा।

2. आत्म अजन्मा, नित्य, अनन्त, प्राचीन (पुराण) और अनश्वर है। आत्म का जन्म और मृत्यु नहीं होता है। यह सर्व आच्छादक, दूरस्थ, निकटस्थ और सर्वत्र है। यह आनन्दपूर्ण और आनन्दरहित है। यह देहरहित और सर्व–आच्छादक है। यह सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्म है; उसी क्षण महानतम से महान है। पुरुष सूक्ष्मतम है। यह वस्तुओं, इन्द्रियों, मन, बुद्धि और यहाँ तककि महत् व्यक्त हिरण्यगर्भ और अव्यक्त से भी अधिक सूक्ष्म है। आत्म समस्त वस्तुओं में छिपा हुआ है। आत्म ध्वनिरहित, रूपरहित, सूक्ष्मतम, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। यह सूर्य, चन्द, तारों, प्रकाश और अग्नि से भी अधिक प्रकाशवान है।

बोध प्रश्न 2

1. आत्मलब्ध ही आत्म सम्बन्धी ज्ञान दे सकता है। आत्म और अनात्म ब्रह्म के मध्य भेद को समझने में कठिनाई है। केवल कुछ बुद्धिमान व्यक्ति जो अमरत्व के इच्छुक हैं वह आन्तरोन्मुख अवधान करते हैं एवं आत्म–ज्ञान और आत्म–अनुभूति की जिज्ञासा रखते हैं।

2. आत्म–ज्ञान तार्किक वाद–विवाद से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। ज्ञान तर्क से अधिक है। यह शास्त्रीय ज्ञान या केवल मानवीय बुद्धि से प्राप्तव्य नहीं है। यह आन्तरिक अनुभूति और अनुभव से प्राप्तव्य है। चंचल मन वाला अशुद्ध हो जाता है और भौतिक सुखों में लिप्त हो जाता है। इन्द्रिय मन के द्वारा और मन आत्म के द्वारा नियन्त्रित है। सांसारिक इच्छाओं से मुक्त व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त होता है। अनुभूति मन की एकाग्रचित्तता और आत्म को अपने अन्तर में अवस्थिति पाना है।

3. अनुभूति पर व्यक्ति संताप को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्म पर ध्यान द्वारा अज्ञान से मुक्त हो जाता है। अनुभूत आत्म (साक्षात्कृत् आत्म) संतापरहित होता है, क्योंकि वह व्यक्तिगत आत्म को आत्म (ब्रह्माण्डीय आत्म) के समान और सर्व–आच्छादक रूप में अनुभव करता है। यह बिना किसी भौतिक जुड़ाव के और नाम–रूप रहित होकर सभी के हृदयों में ध्यानावस्थित है। बुद्धिमान (प्रज्ञावान) इन्द्रियों से विभक्त रूप में आत्म का अनुभव करते हैं। इन्द्रियां प्रकृति के पांच मूलभूत तत्वों की उत्पाद्य हैं। उनका अस्तित्व और कार्य–क्षेत्र सीमित और परिवर्तनीय है। आत्म असीमित और अपरिवर्तनीय होने के कारण उनसे पूर्णतः भिन्न है। आत्म को "यह वह है" रूप में समझकर व्यक्ति भयमुक्त हो जाता है। मुक्त होकर, वह जन्म और मृत्यु के जाल से पूर्णतः स्वतन्त्र हो जाता है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 12 छान्दोग्य उपनिषद्[12]

रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 परिचय

12.2 ब्रह्म–ज्ञान के साधन

12.3 तज्जलानिति के दार्शनिक निहितार्थ

12.4 विश्व का संभाव्य स्वरूप

12.5 ब्रह्म के स्वरूप में वापसी

12.6 उद्दालक द्वारा वैदिक सूक्तों का खण्डन: उनकी ब्रह्माण्ड विद्या

12.7 स्वपिति का अर्थ और स्वप्नावस्था के साथ इसका सम्बन्ध

12.8 सत् के बन्धन

12.9 आत्म और जगत् का स्रोत: ब्रह्म

12.10 पराविद्या (भूमाविद्या)

12.11 सारांश

12.12 कुंजी शब्द

12.13 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

12.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप निम्नांकित बिन्दुओं से परिचित हो जाएँगे:

- *छान्दोग्य उपनिषद्* का दार्शनिक महत्व
- कर्मकाण्डीय पक्ष पर गम्भीर विमर्श
- ब्रह्म और आत्मा के तादात्म्य की स्थापना
- उपनिषद् में विद्यमान विश्व रचना के विषय में प्राथमिक विचार तथा जीवन का विकास
- उपनिषद्–गुणात्मक विश्लेषण के साथ परिमाणात्मक विश्लेषण को समाहित करने का प्रथम प्रयास
- उपनिषद् में उल्लेखित आत्मा के स्वरूप के अनेकों ढंग

[12] प्रो. एम आर नन्दन, दर्शन विभाग, शासकीय महिला महाविद्यालय, माण्ड्या, अनुवाद श्री प्रवेश कुमार, दिल्ली

12.1 परिचय

यह *उपनिषद् सामवेद* के *ताण्ड्य ब्राह्मण* से सम्बन्धित है। इसमें आठ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय को अनेक खण्डों में विभाजित किया गया है। तीसरे अध्याय के चौदहवें मन्त्र खण्ड, जिसमें शाण्डिल्य विद्या की चर्चा की गयी है, को छोड़कर पहले पाँच अध्यायों में उपासना एवं होम की चर्चा कर्मकाण्ड के अंग के रूप में की गयी है। इन कर्मकाण्डों (जिनका प्रसार 110 खण्डों में है) पर विशेष बल इस बात की ओर संकेत करता है कि इनसे सम्बन्धित अध्याय और खण्डों को बाहर से जोड़ा गया है। यद्यपि उपनिषद् सभी प्रकार के कर्मकाण्डों का निषेध करते हैं तो भी इन कर्मकाण्डों का महत्व एकाएक कम नहीं होता है। 'अहिंसा सर्वानि भूतानि अत्यत्र तीर्थेभ्याहः' से तात्पर्य है कि यज्ञ के अतिरिक्त अहिंसा सद्गुण है परन्तु यज्ञों में पशु बलि आवश्यक है। जो खण्ड कर्मकाण्ड के महत्व को बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं उनसे भी कोई एकरूपता दिखाई नहीं पड़ती क्योंकि इन्हें अनेक कालों में *छान्दोग्य उपनिषद्* में जोड़ा गया है। इसलिए वर्तमान में उपलब्ध उपनिषद् में बहुत सारी सामग्री बाहर से आई प्रतीत होती है। यह *उपनिषद्* केवल कर्मकाण्डों की ही चर्चा नहीं करता है बल्कि सामवेद के विभिन्न पक्षों को भी महिमामण्डित करता है। उदाहरण के लिए, *उपनिषद्* के प्रारम्भ में ही उद्गीथ (यह वेद मुख्यतः उद्गीथ के महत्व को बताता है) के महत्व की चर्चा की गयी है। यह चर्चा आगे कितने ही खण्डों तक चलते हुए प्रस्ताव, प्रतिहार और स्तोभ आदि के बारे में बताती है। दूसरे अध्याय में केवल सोम के महत्व की चर्चा की गयी है? यद्यपि, *उपनिषद्* के इस भाग में विविधता है तो भी मुख्य उपनिषद् आत्मा और ब्रह्म के वर्णन तक सीमित रहता है। अदार्शनिक विषयों के महत्व को बढ़ा–चढ़ाकर कहने का अभिप्राय सम्भवतः मोक्ष की तरफ प्रवृत्ति पैदा करना हो सकता है। उस समय लोग यह विश्वास करते थे कि ब्रह्म साक्षात्कार के लिए ज्ञान के साथ कर्म (कर्मकाण्ड) का 'समुच्चय आवश्यक है।

अन्य उपनिषदों की तरह *छान्दोग्य* में भी ऐसे व्यक्तियों का वर्णन है जिनकी सत्ता काल्पनिक है। यहाँ तक कि *उपनिषद्* का दार्शनिक अंग भी इससे मुक्त नहीं है। इसलिए हमने अपने अध्ययन में दर्शन को पौराणिक आख्यान से पृथक् रखा है। अतः हमारा विवरण अन्तिम तीन अध्यायों पर केन्द्रित रहेगा। साथ–साथ अपवाद स्वरूप तीसरे अध्याय के बारहवें खण्ड पर भी हम विचार करेंगे।

12.2 ब्रह्मज्ञान के साधन

इस खण्ड को जिसका हम वर्णन करने जा रहे हैं गायत्री ब्रह्म कहा जाता है। उपनिषद् का मत है कि गायत्री के द्वारा ब्रह्म को समझा जा सकता है। यही कारण है कि वाक् को ब्रह्म को जानने का एक माध्यम कहा गया है। हमारे संदर्भ में गायत्री को प्रार्थना का एक प्रकार मानना पर्याप्त है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, ब्रह्म का भावात्मक वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म को केवल सकारात्मक वर्णनों से समझना असम्भव है। इसलिए छान्दोग्य में एक पृथक् पद्धति अपनायी गयी है। सातवें, आठवें और नवें मन्त्र में ब्रह्म का वर्णन आकाश के रूप में किया गया है। इस अर्थ में आकाश को सर्वव्यापी और नित्य द्रव्य के रूप में समझा जा सकता है। ये तीनों मन्त्र ब्रह्म को पहले आकाश के रूप में देखते हैं। यह आकाशवत् ब्रह्म पुरुष से बहिर्गत है तथा प्रार्थना के उपर का विषय है। यहीं पर कहा गया है कि आकाश पुरुष के अन्तर्गत् भी है। इस अन्तः पुरुष आकाश की उपासना

से पूर्ण श्रेयस् की प्राप्ति होती है। यहाँ दो सम्भावनाएं हो सकती हैं। पहली, आकाश का बाहर और अन्दर में विभाजन निराधार है। दूसरी यह है कि आन्तरिक पुरुष जो आत्मा है व्यक्ति का सार है। जबकि बाह्य जगत् का सार है। जब अन्त: आकाश को बर्हि आकाश से पृथक् नहीं मानते हैं तो वैयक्तिक आत्मा को भी बाह्य जगत् (ब्रह्म) से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसी समीकरण के माध्यम से ब्रह्म और आत्मा को जोड़ा गया है। यही उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य है।

मनुष्य के आन्तरिक आकाश के दो भाग हैं, शरीर के अन्तर्गत् आकाश तथा ह्रदय के अन्तर्गत् आकाश। इस प्रकार तीन आकाश हुए। एक व्याख्या के अनुसार ये तीन आकाश मन की प्रथम तीन अवस्थाओं; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के समानान्तर हैं। जबकि प्रथम दो अवस्थाएँ दु:ख देती हैं और अन्तिम अवस्था दु:ख नहीं देती है। आकाश को इन्हीं तीनों अवस्थाओं के साथ–साथ अनुभव से भी जोड़ा गया है। यह विशेष व्याख्या कुछ समस्या पैदा करती है। जाग्रत् अवस्था केवल कष्टप्रद अनुभव नहीं देती है। यह और भी बहुत सारे अनुभव देती है। तब अन्य अनुभवों को क्यों छोड़ा जाये। दूसरी समस्या यह है कि यदि आकाश के तीन प्रकार हैं तो उन तीनों में गुणात्मक भेद भी होगा। तब आकाश को एक कैसे माना जा सकता है। इसी अध्याय के तेरहवें खण्ड के सातवें मंत्र में ब्रह्म का प्रकाश के साथ एकत्व स्थापित किया गया है। प्रकाश भी आकाश की तरह पुरुष के आन्तरिक और बाह्य हैं। असामान्य रूप से इस मन्त्र को जानने के लिये इस प्रकाश का अनुभव आवश्यक बताया गया है। इस अनुभव में तीन ज्ञानेन्द्रियों, नेत्र, कान और त्वचा का होना आवश्यक है। स्पष्टत: उपनिषद् के अनुसार ये तीनों अंग मात्र भौतिक नहीं अपितु तत्वमीमांसीय ही होंगे।

12.3 तज्जलानिति के दार्शनिक निहितार्थ

यहाँ हम ब्रह्म के सगुण रूप की चर्चा करेंगे जो तज्जलान् का एक अंश है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म के कुछ गुण हैं और उन्हीं गुणों से ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। तज्जलान् का अर्थ है कि जगत् ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। तज्जलान का अर्थ है किजगत् ब्रह्म से आया है और उसी में लीन हो जाता है। इसलिए भौतिक जगत् का आरम्भ और अन्त दोनों है लेकिन ब्रह्म का आदि और अन्त नहीं है। यदि हम कुछ समय के लिये उपनिषदों की विज्ञानवादी (आदर्शात्मक) दृष्टि को छोड़ दें तो ब्रह्म का निरूपण जड़ तत्व के अविनाशी स्वरूप को बताता है। जड़ तत्व केवल अविनाशी नहीं है अपितु इसका निर्माण भी नहीं हो सकता। भौतिक शास्त्र विश्व की उत्पत्ति की परिकल्पना कर ले तो हमें जड़ से पूर्व किसी और पदार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी और यदि ऐसा है तो पूर्व–जड़ (जड़ से पूर्व जड़) की उत्पत्ति की नहीं। यदि हम जड़ तत्व की उत्पत्ति की परिकल्पना कर ले तों हमें जड़ से पूर्व किसी और पदार्थ की कल्पना करनी पड़ेगी और यदि ऐसा है तो पूर्व जड़ की उत्पत्ति के लिए पूर्व–पूर्व जड़ की परिकल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अत: दर्शन की स्थिति विज्ञान से भिन्न नहीं है। जिस भी बिन्दु से हम सृष्टि का प्रारम्भ मानें यह आकस्मिक भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। जहाँ नासदीय सूक्त विश्वोत्पत्ति के स्रोत के विषय में सन्देहात्मक दृष्टि रखता है लेकिन उपनिषदों का मत बिल्कुल निश्चित है। उपनिषदों के अनुसार जगत् का स्रोत ब्रह्म है। उपनिषदों में बिल्कुल निश्चित रूप से ब्रह्म को स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस ढंग से उपनिषदों में 'ब्रह्म' का वर्णन किया गया है उससे उसके मत की पुष्टि हो जाती है।

अगला मन्त्र ब्रह्म के गुणों का वर्णन करता है। यह मनोमय (आध्यात्मिक) है, प्राण शरीर (चैतन्य) वाला है, भारूप (भा= प्रकाश) है, सत्यसंकल्प है, आकाश की आत्मा (आकाशरूपा) है सभी कर्मों को करने वाला (सर्वकर्मा) है, सर्वकाम है, सर्वगन्ध (सभी सुगन्धों का आश्रय) है, सबको आच्छादित करने वाला (सर्वम् इदम अभ्यत्ता) है, मौन (अवाक्य) है तथा अनादर है। ध्यान देने वाली बात यह है कि ये सभी गुण मानवीय हैं। ब्रह्म को मनोमय इसलिए कहा गया है क्योंकि मनन के कारण ही कोई वस्तु ध्यान में आती है। ब्रह्म को चैतन्य कहने से उपनिषद् के लिये अन्य गुणों का समावेश करना सम्भव हो जाता है। ब्रह्म को प्रकाश भी कहा गया है। ब्रह्म ज्ञान में ज्ञान है इसलिए वह 'पर' भी है। यहाँ पर ब्रह्म को भावात्मक गुणों के आश्रय के रूप में लिया गया है। लेकिन इतने मानवीय गुणों के होने के बाद भी ब्रह्म निराकार है क्योंकि यह आकाशात्मा है। इसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म अव्यक्तित्ववान है। ब्रह्म को वाक् रहित बताने का अर्थ यह है कि ब्रह्म मौन है। एक विलुप्त उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा शान्त है, उप शान्तोऽयम् आत्मा। इसी को लेकर एक ऑस्ट्रियन कहावत है जिसमें यह कहा गया है कि 'वाणी चाँदी है, लेकिन मौन सोना है।' लेकिन यहाँ पर विरोधाभास यह है कि जहाँ ब्रह्म को अनादर (शान्त) कहा गया है वहीं पर ब्रह्म का एक अर्थ 'प्रार्थना' भी है जिसमें ब्रह्म स्वयं को वाक् के माध्यम से व्यक्त करता है। सबसे महत्वपूर्ण है कि ब्रह्म सबको आच्छादित किये हुए है। यदि इस विशेष गुण का परिमाणिकरण किया जाये तो ब्रह्म को सर्वव्यापक होना ही होगा। गुणात्मक दृष्टि से कारण और कार्य में भेद नहीं होता। इसी प्रकार परिमाणात्मक दृष्टि से कारण को कम से कम कार्य के बराबर होना चाहिए क्योंकि 'कम' से 'अधिक' को नहीं निकाला जा सकता है। 'ऊष्मागतिकी' का द्वितीय नियम यह कहता है कि उर्जा ऊँचे तापक्रम से नीचे तापक्रम पर प्रवाहित होती है। यदि इसको ब्रह्म के सन्दर्भ में देखा जाए तो यह कहना पड़ेगा कि ब्रह्मजगत् से अधिक है। इसे पुरुष सूक्त से भी बल मिलता है। जहाँ यह कहा गया है कि 'सभूमिं विश्वतो वृत्त्या अष्टतिष्तस्य दशांङ्गुलम्' अर्थात् ब्रह्म जगत् से दस अंगुल बाहर है। इस उपनिषद् में पुरुष शब्द को ब्रह्म शब्द से स्थानान्तरित कर दिया गया है। बाकि ब्रह्म जगत् को लेकर परिणाम वही है जो पुरुष सूक्त में है।

यदि ब्रह्म शब्द का व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ करें तो इसका अर्थ है 'जो बढ़ता है।' इस दृष्टि से ब्रह्म को ऊर्जा कहा जा सकता है। इस जगत् में दो प्रकार की ऊर्जा व्याप्त है। एक स्थूल ऊर्जा (ब्रह्माण्डीय ऊर्जा) तथा दूसरी सूक्ष्म ऊर्जा (नाभिकीय ऊर्जा) सूक्ष्म ऊर्जा विज्ञान की नाभिकीय ऊर्जा के सादृश्य है। एक अर्थ में सूक्ष्म ऊर्जा आन्तरिक है जबकि स्थूल ऊर्जा बाह्य है। लेकिन ऊर्जा का स्वरूप एक ही है। जब ब्रह्म को आत्मा के रूप में अणु स्वरूप वाला माना गया है तो ब्रह्म नाभिकीय ऊर्जा के सादृश्य है लेकिन जब इसे देश में व्याप्त बताया गय है तो यह स्थूल ऊर्जा के सादृश्य है। इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध को वैज्ञानिक दृष्टि से समझा जा सकता है। यदि ब्रह्म को ऊर्जा का महान स्रोत मान लिया जाये तो ब्रह्म को सृष्टि के प्रारम्भ काल में अव्यक्त माना जा सकता है और यह स्थिति सांख्य की स्थिति के सदृश हो जाती है। इस दृष्टि से यदि हम तीसरे मन्त्र को देखें तो स्थिति काफी समझने लायक हो जाती है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. आकाश से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

2. उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म के कुछ गुणों का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

12.4 विश्व का संभाव्य स्वरूप

तीसरे अध्याय के उन्नीसवें भाग, जिसमें यह कहा गया है कि आदित्य ही ब्रह्म है, में इन दोनों का तादात्म्य इस आधार पर स्थापित किया गया है कि सूर्य के कारण ही जगत् प्रकाशित होता है। इस मन्त्र में कहा गया है कि पहले असत् (शून्य) था और उसी से सत् की अभिव्यक्ति हुई। लेकिन इसी उपनिषद् के आगे के अध्यायों में इस मत का खण्डन करके सत् से ही सबकी उत्पत्ति बताई गयी है। उपनिषद् में इस तरह के विरोधाभास नहीं हो सकते हैं। इसलिए जहाँ असत् से सत् की उत्पत्ति बताई गयी है उसकी दूसरे प्रकार से व्याख्या करनी चाहिए। असत् को यदि हम अव्याकृत, जिसमें जगत् की संभावना निहित है, के रूप में ले तो कोई विरोधाभास उत्पन्न नहीं होता है। अव्याकृत अवस्था में नाम और रूप का भेद निहित नहीं होता है। इसी अर्थ में सबसे पहले असत् की उपस्थिति बताई गयी है। उसके बाद नाम और रूप की अभिव्यक्ति के कारण उसे सत् कहा गया है। उपनिषद् कहता है कि पहले असत् फिर सत् आया। उपनिषदानुसार, 'असत् एव इदम् अग्र आसीत् तत् सत् आसीत् तत् समभवत् तत् अण्डम्' अर्थात् यह पहले असत् था फिर सत् (उत्पन्न) हुआ। आरम्भ में यह सत् अण्डरूप था। वास्तव में, ऊपर जो व्याख्या दी गयी है यह उतनी सहायक नहीं है। यहाँ पर यह मान लिया गया है कि असत् का अर्थ नाम और रूप के भेद का अभाव है तथा सत् का अर्थ नामरूप भेद है। लेकिन पुस्तक से कुछ दूसरी ही बात झलकती है। वहाँ कहा गया है कि सत् के बाद नाम और आकार का भेद आया। प्रथम और द्वितीय मन्त्र में यह बताया गया है कि सत् ने कैसे अण्डे का आकार ग्रहण किया। इसकी गर्भावधि एक साल थी। उसके बाद इस अण्डे के सेने से पृथ्वी, द्यु आदि की उत्पत्ति हुई। तीसरे मन्त्र में यह बताया गया है कि आदित्य भी इसी अण्डे से आया। इस प्रकार विभिन्न आकारों और शरीरों के निर्माण से नाम और रूप का भेद स्पष्ट हो गया। अतः यह विशेष व्याख्या अश्व के आगे गाड़ी जोतने के समान है।

असत्–सत् समस्या के अतिरिक्त, आदित्य की उत्पत्ति की समस्या भी समस्या उत्पन्न करती है। यदि आदित्य ब्रह्म है तो वह अण्डे से कैसे उत्पन्न हो सकता है क्योंकि अण्डा असत् से आया है और यदि ब्रह्म–परिणामवाद के साथ कारण और कार्य दोनों को यथार्थ मानते हैं तथा कार्य को कारण का एक परिणाम मानते हैं तो यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म ने स्वयं अपने आप को उत्पन्न किया। लेकिन यह कोई ज्यादा सुविधाजनक स्थिति नहीं है। स्पष्टतः यहां ब्रह्म को असत् भावना मानना पड़ेगा क्योंकि ब्रह्म असत् ब्रह्म की तरह भेद रहित है। यह संशयात्मक है कि उपनिषदों में यही मन्तव्य प्रतिपादित है।

12.5 ब्रह्म के स्वरूप में वापसी

सातवें अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप पर पुनः विचार किया गया है। यह कहने के बाद कि ब्रह्म अवाक् (शान्त) है उपनिषद् यह कहता है कि ब्रह्म वाक् भी है। ऐसा करने के पहले ब्रह्म को 'नाम ब्रह्म' कहा गया है। केवल ब्रह्म ही नाम नहीं है, सभी वेद नाम हैं। लेकिन यह निम्न स्तर पर है। लेकिन उपनिषद् इससे आगे बढ़ता है और कहता है कि वाक् नाम से अधिक है। परन्तु जब ब्रह्म को पूर्व में शान्त बताया गया है तो वाक् ब्रह्म का बेहतर विवरण कैसे प्रस्तुत कर सकता है। यह सही है कि 'उप शान्तोयम् आत्मा' आत्म पर भी लागू होता है इसलिए आत्मा और ब्रह्म से एकत्व होने के कारण ब्रह्म को भी षान्त कहा जा सकता है। इस प्रकार जो विशेषण आत्मा के हैं वे ब्रह्म के भी हो सकते हैं और जो ब्रह्म के हैं वो आत्मा के भी हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सगुण ब्रह्म का वर्णन करते समय उपनिषद् में विरोधाभास दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह हो सकता है कि बहुत सारे ऋषियों द्वारा अलग–अलग समय–समय पर अपने विचारों को उपनिषदों में जोड़ दिया गया है।

मन ब्रह्म को वाक् ब्रह्म से अधिक कहा गया है लेकिन यह समझ में नहीं आता कि उपनिषद् ने दो बार मन को ब्रह्म के साथ क्यों जोड़ा है? अन्तर केवल यह है कि जहाँ मन का कार्य केवल विचार करना था लेकिन वहीं सातवें अध्याय में इच्छा को मन का कार्य माना गया है। फिर यह मन से संकल्प हो गया। इस प्रकार उपनिषद् यह दिखाता है कि सभी बारह विशेषणों में से 'प्राण' मुख्य है। उल्लेखनीय है कि यहाँ आकाश की पुनरावृत्ति हुई है। यहाँ पर विशेषणों में से 'प्राण' मुख्य है। यहाँ पर विशेषणों की स्थिति का निर्धारण निर्भरता के सिद्धान्त पर हुआ है। सर्वप्रथम यहाँ पर हम विभिन्न विशेषणों की स्थिति का वर्णन करेंगे। संकल्प से शुरू होकर श्रृंखला इस प्रकार है: चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, अप्, तेज, स्मृ (स्मृति), आशा और प्राण। वर्तमान के अध्ययन प्रसंग में यद्यपि, इस श्रृंखला को विस्तृत रूप से जानने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर केवल अन्तिम बिन्दु को ही जान लेना पर्याप्त होगा। यह स्पष्ट है कि प्राण सबका आधार है। अतः ब्रह्म जीवन है। जैसे आत्मा जीवन है। जीवन सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है तथा इसके बाहर भी है। यह विचार ग्रीक दर्शन के समकक्ष है जहाँ सम्पूर्ण विश्व को जीवनमय माना गया है। ग्रीक दर्शन इसी दृष्टि से परिवर्तन की समस्या की व्याख्या करता है और उपनिषद् भी जाने और अनजाने में इसी दृष्टि से जीवन की उत्पत्ति की समस्या का समाधान करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म को प्राणरूप में प्रतिष्ठित करके उपनिषद् ने ब्रह्म और आत्मा के समीकरण को अत्यन्त सबल रूप में रखा है।

12.6 उद्दालक द्वारा वैदिक सूक्तों का खण्डन: उनकी ब्रह्माण्ड विद्या

यदि हम विश्व दर्शन को आधुनिक अर्थ में लें तो उद्दालक का सिद्धान्त विश्व की संरचना और उत्पत्ति को समझने के लिए मानव इतिहास में पहला प्रयास माना जा सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि इस सम्बन्ध में सभी प्रारम्भिक प्रयास एकत्व की स्थापना पर ही पहुंचते हैं। यही स्थिति पाश्चात्य दर्शन में भी है। दोनों में अन्तर मात्र यह है कि पूर्व सुकरात दार्शनिक, जो पाश्चात्य दर्शन के प्रणेता हैं, जड़वादी हैं जबकि भारतीय दार्शनिक प्रत्ययवादी (आध्यात्मवादी) हैं। इन दोनों विचारधाराओं का विरोध बाद के समय में शुरू हुआ।

यदि यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और ब्रह्म में ही लीन हो जाएगा तो क्या यह यथार्थ जगत् नहीं होगा? यदि ऐसा है तो उद्दालक को किस प्रकार विज्ञानवादी कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जगत् की उत्पत्ति और जीवन की उत्पत्ति को समझने के लिए दो भिन्न–भिन्न पद्धतियाँ हैं; परिमाणात्मक विश्लेषण और गुणात्मक विश्लेषण। किसी भी परिकल्पनात्मक विज्ञान का गुणात्मक विश्लेषण ही संभव है। लेकिन उद्दालक का विचार इसका अपवाद है।

उद्दालक का दर्शन ऋग्वेद के सूक्त के खण्डन से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद में कहा गया हैय 'देवानां पूर्वे युगे असतः सत् अजायतः' अर्थात् देवताओं के पैदा होने के पूर्व असत् से ही सत् उत्पन्न हुआ। इसके अतिरिक्त इस प्रकरण में नासदीय सूक्त का भी उल्लेख किया जा सकता है जो यह कहता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'न सत् था न असत् था।' उद्दालक ऋग्वेद के इन दोनों कथनों के विपक्ष में तर्क देते हैं और प्रश्न करते हैं कि (कथम् असत् सत् जायतः) असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? ऋग्वेद के अनुसार, सत् के अभाव से असत् की उपस्थिति सिद्ध नहीं होती है। यहाँ तक यह सूक्त सत्य है लेकिन जब दोनों सत् और असत् नहीं थे तब (तत् एकम्) वह अकेला ही कैसे प्राण क्रिया कर रहा था? इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए उद्दालक ने दोनों सूक्तों का विरोध किया। केवल वस्तुओं की उत्पत्ति के पूर्व मात्र 'सत्' था तथा अन्य कुछ भी नहीं था। 'एकमेव अद्वितीयम्' का यही अर्थ है। यह सत् ही ब्रह्म है। परन्तु तब जगत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव हुई? यदि हम यह कल्पना कर लें कि यहाँ चेतना है जहाँ क्रिया है, तब हम यह कह सकते हैं कि ब्रह्म ही समस्त क्रियाओं का आधार है क्योंकि ब्रह्म चैतन्य है। ब्रह्म की यह क्रियाशीलता ही जगत् की उत्पत्ति के रूप में प्रस्फुटित होती है। क्रियाशीलता के प्रस्फुटन के लिये किसी बाहरी कारण की आवश्यक नहीं होती है। उद्दालक कहते हैं कि इस प्रकार वह एक ब्रह्म अनेक रूपों वाला हो गया। सर्वप्रथम तेज की उत्पत्ति हुई, फिर अप् की तथा उसके बाद अन्न की उत्पन्न हुई। उद्दालक इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं– ताप से जल (पसीना) आता है अतः इसका अर्थ है कि तेज से जल उत्पन्न होता है। उद्दालक के इस कथन को अन्य उदाहरणों से भी पुष्ट किया जा सकता है। ताप से ही वर्षा होती है। यदि उद्दालक के सिद्धांत को वैज्ञानिक सिद्धांत कहा गया है तो इसका मुख्य कारण यह नहीं है कि वह क्या कहते हैं अपितु यह है कि वह ऐसा क्यों कहता हैं वह ऐसे साक्ष्य देता है जो उनके सिद्धांत को पुष्ट करते हैं। तथापि उनके साक्ष्यों को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। ये अपूर्ण तथा अप्रासंगिक भी हो सकते हैं। परन्तु यह संभावना ही उनके सिद्धांत को वैज्ञानिक बनाती है।

उद्दालक के अनुसार तेज, अप् और अन्न तीन भूत (तत्व) हैं। *तैत्तिरीय* वायु और आकाश इन दो और भूतों को जोड़ता है। जब ये भूत जन्म लेते हैं तो नाम और रूप के रूप में

जगत् का प्रसार सम्पन्न होने लगता है। जब एक अनेक हो जाता है प्रत्येक सीमित हो जाता है। जो भी सीमित होता है उसका निश्चित आकार होता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु को पृथक् करने के लिए नाम की आवश्यकता होती है। इस प्रकार नाम और रूप से यह जगत् परिचालित है। इसी खण्ड के चौथे मन्त्र में यह भी बताया गया है कि इन भूतों का पुनः विभाजन होता है। इस प्रकार कुल नौ विभाजन हो जाते हैं। यह विभाजन उनके स्थूल स्वरूप पर भी घटित होता है। तेज में और दूसरे भूत भी होते हैं लेकिन तेज में अन्य भूतों का अंश बहुत कम होता है। यही बात अन्य भूतों के लिये भी सत्य है। अतः जिन्हें हम भूत कहते हैं वह वास्तविक अर्थ में भूत नहीं हैं क्योंकि सभी भूत अमिश्रित नहीं हैं अपितु मिश्रित हैं। यह विज्ञान सम्मत परिमाणात्मक मात्रा का भेद भूतों के गुण में भेद कर देता है। यह अपने आप में एक क्रान्तिकारी विचार है। उद्दालक रंगों को इन भूतों से जोड़ते हैं। वह लोहित को तेज के साथ, श्वेत को जल के साथ और काले को पृथ्वी के साथ सम्बन्धित करते हैं। यही सम्बन्धात्मक विचार आगे चलकर द्रव्य–गुण को जन्म देते हैं।

अग्रिम स्तर पर इन तीनों भेदों का अत्यन्त महत्व है। यहाँ पर मन पर विचार किया गया है। एक मन्त्र में कहा गया है कि मन की उत्पत्ति अन्न के (ठोस) के सूक्ष्म भाग से हुई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मन गुणात्मक रूप से अन्न (भौतिक पदार्थ) से भिन्न नहीं है। मन शायद पदार्थ का सूक्ष्म रूप है। इस प्रकार मन के जड़ से सम्बन्ध की व्याख्या दो तरह से की जा सकती है। प्रथमतः मन के किसी भी आयाम को हम जड़तत्व के आधार पर समझ सकते हैं। इसे उपजड़वाद कहा जाता है जो आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का एक सिद्धांत है। अब केवल मन की ही नहीं वरन् प्राण की भी जड़ से उत्पत्ति हुई। 'आपम्... पीय मानानां य अणिमा स उर्ध्वः समुदीषति स प्राणोभवति (6.6.3)' अर्थात् जब हम जल ग्रहण करते हैं तो उसका सूक्ष्म भाग ऊपर उठकर प्राण बन जाता है। मन और प्राण दोनों का उत्पत्ति स्थान जड़त्व है। यदि इसका यह निष्कर्ष है तो यह भारतीय दर्शन (औपनिषदिक दर्शन) की मूल भावना से विपरीत है। सम्भवतः इस परिस्थिति को संभालते हुए उद्दालक कहते हैं कि केवल ब्रह्म ही देवता नहीं है अपितु तेज, अप् और अन्न भी देवता है। अब, उपनिषद् के देवता वैदिक देवताओं की तरह भौतिक न होकर आध्यात्मिक हैं यदि ऐसा है तब जो भी अस्तित्ववान है वह आध्यात्मिक ही होगा। उद्दालक ने इसी रास्ते का चयन किया है क्योंकि इसी रास्ते के माध्यम से 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' के सिद्धांत की प्रतिष्ठा हो सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्दालक ने मन और प्राण की संरचना को समझने का अद्भुत प्रयास किया है। वार्डर ने तो इसे एक अद्भुत प्रयोग माना है। *बृहदारण्यक* के अनुसार प्रजापति के 16 आयाम हैं। जिसमें से 15 आयाम मन के हैं तथा एक आयाम प्राण का है। मन जटिल है तथा इसके अनेक आयाम हैं। इसी तथ्य को समझने के लिए उद्दालक ने अपने पुत्र से पन्द्रह दिन उपवास करने को कहा। परिणामस्वरूप उसकी स्मृति का लोप हो गया। वह कुछ भी याद करने योग्य नहीं रहा। इससे यह सिद्ध होता है कि स्मृति जो मन का व्यापार है अन्न से उद्भूत है। इसे वार्डर ने परिणामात्मक विश्लेषण का उदाहरण माना है क्योंकि इसमें अनुपात और संयोजन का प्रयोग किया गया है और इसे संज्ञा के बिना नहीं समझा जा सकता।

क्या जो कुछ भी अस्तित्वान है उसको आध्यात्मिक मानने में कठिनाई है? यदि मन और प्राण के सोलह आयाम हैं तो आत्मा (चैतन्य) के भी सोलह आयाम होने चाहिए। परन्तु जो भौतिक नहीं है उसके इतने विभिन्न आयाम कैसे हैं? दूसरे, यदि मन और प्राण अध्यात्मिक हैं तो क्या हड्डी और मांस को भी आध्यात्मिक कहा जा सकता है? ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। लेकिन उद्दालक इस प्रश्न पर चुप हैं।

उद्दालक के स्पष्टीकरण में 'तत् त्वम् असि' यानि कि तुम वही आत्मा हो जो अत्यन्त सूक्ष्म है तथा जगत् का आदि स्रोत है का सात बार प्रयोग हुआ है। दूसरे शब्दों में समस्त विश्व के साथ मेरा तादात्म्य है। यह कैसे संभव है? उद्दालक दो उदाहरणों से इसे स्पष्ट करते हैं, यथा विभिन्न नदियाँ विभिन्न दिशाओं में बहती हुई (एक) समुद्र में मिलती है और भिन्न–भिन्न फूलों के रस से (एक) मधु तैयार होता हैं। यहाँ हमें भारतीय दर्शन की एक प्रमुख विशेषता प्राप्त होती है। यह आत्मन्, ब्रह्म का तादात्म्य ही *छान्दोग्य उपनिषद्* की शिक्षा का मुख्य सार है। यह वास्तव में एक मनःस्थिति है। जो हमें बुद्धि और अनुभव के परे ले जाती है।

अब, जीवन की उत्पत्ति के विषय पर एक सरसरी दृष्टि से देखना भर ही हमारे लिये पर्याप्त होगा। उद्दालक तीन प्रकार के जीवन की उत्पत्ति देखते हैं; अण्डे से, जीव से, और बीज से। ऐतरेय ने स्वेदज नाम से एक अन्य प्रकार और जोड़ा है। वस्तुतः यही जीवों के विभाजन की पुरातन जीव वैज्ञानिक विधि रही है।

छठवें अध्याय के प्रारम्भ में उद्दालक एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं। वह कहते हैं कि कार्य केवल नाम है। परन्तु कारण ही मूल तथा यथार्थ है। उदाहरणार्थ, माला कार्य है जबकि सोना (स्वर्ण) उसका कारण है। ब्रह्म इस जगत् का द्रव्यात्मक कारण है, जगत् कार्य है। सोने की माला के उदाहरण में निमित्त कारण सुनार है लेकिन जगत् के उदाहरण में ब्रह्म जगत् का द्रव्यात्मक कारण और निमित्त कारण दोनों है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्रह्मपरिणामवाद कारणता को समझने का प्रथम प्रयास है। एक अन्य उल्लेखनीय सिद्धांत, उद्दालक का सामान्यीकरण का सिद्धांत है। जिसके अनुसार, यदि हम लोहे से बनी किसी एक वस्तु के गुणों को जानते हैं तो हम स्वयं ही लोहे से बनी अन्य दूसरी सभी वस्तुओं के गुणों को भी जान जाते हैं यह तर्कशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विषय है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. छान्दोग्य उपनिषद् के इस कथन को कैसे समझायेंगे कि प्रारम्भ में असत् था?

....

....

....

....

....

2. उद्दालक के अनुसार तत्वमसि का क्या अर्थ है?

....

....

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

12.7 स्वपिति का अर्थ और स्वप्नावस्था के साथ इसका सम्बन्ध

सर्वप्रथम दो बातों का स्पष्ट होना अति आवश्यक है। एक है स्वपिति और दूसरी स्वप्न अवस्था। उद्दालक के अनुसार स्वपिति का अर्थ व्यक्ति का अपने वास्तविक स्वरूप से जुड़ना है। व्यक्ति का यथार्थ स्वरूप सत् से सम्बन्धित है। व्यक्ति का सत् से सम्बन्ध तभी सम्भव है जब सत् मन के साथ सम्बन्धित हो। सत् के स्थान पर हम आत्मा का भी ग्रहण कर सकते हैं। इसका अर्थ है कि व्यावहारिक धरातल पर इन्द्रियों का व्यापार जैसे खाना, सुनना, देखना आदि आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर ही सम्भव होता है। सत् का यथार्थ स्वरूप गुप्त है। इसी कारण बन्धन होता है। मुक्ति इस सम्बन्ध से छुटकारा है। दूसरे शब्दों में स्वपिति का अर्थ सत् का मन से अलगाव होना है। सुषुप्ति को समझने से स्वपिति का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जाता है। उपनिषद् में स्वपिति का प्रयोग न करके स्वप्नान्तम् (स्वप्न अवस्था का अन्त) शब्द का प्रयोग किया गया है। असम्बद्धता की प्रक्रिया को समझने के लिए मन की विभिन्न अवस्थाओं को समझना आवश्यक है। जाग्रत् अवस्था में केवल स्नायुतन्त्र ही क्रियाशील नहीं रहता है अपितु व्यक्ति भी उसके सम्बन्ध में चैतन्य रहता है। अतः जाग्रत् अवस्था स्वसंवित की अवस्था है। यहाँ मन के साथ पूर्ण सम्बन्ध रहता है। स्वप्नावस्था में एक भेद है। दूसरे, यद्यपि स्वप्नावस्था में भी कर्मेन्द्रियों का व्यापार रहता है, फिर भी दोनों में बड़े गुणात्मक अन्तर हैं। इसका अर्थ है कि स्नायुतन्त्र क्रियाशील तो रहता है, लेकिन क्रियाशीलता की मात्रा कम रहती है। इसलिए स्वप्नावस्था में भी सत् आनुभाविक धरातल पर रहता है। स्वप्नावस्था का एक छोर जाग्रत् अवस्था है तथा दूसरा छोर सुषुप्ति अवस्था है। जाग्रत् अवस्था जगत् से पूर्णतः सम्बन्धित अवस्थ है जबकि सुषुप्त अवस्था पूर्ण रूप से बाह्यजगत् से सम्बन्धित अवस्था है। सुषुप्ति में ही हम बाह्य जगत् से छुटकारा पाते हैं लेकिन यह अवस्था क्षणिक होती है। लेकिन जब सत् बाह्य जगत् से पूर्णतः असम्बन्धित हो जाता है तो उसे नित्यता का बोध होता है। इस अर्थ में सत् को आत्मा कहा गया है जो ब्रह्म भी है।

स्वपिति को हम एक दूसरे साधारण तरीके से ऐसे समझ सकते हैं कि यह स्वरूप (व्यक्ति का अपना वास्तविक रूप) है। जब सत् (अहम्) अपने सत् रूप को प्राप्त कर लेता है तो यह शुभ और अशुभ के परे चला जाता है क्योंकि शुभ और अशुभ इस जगत् के अन्तर्गत् हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सत् का मनस के साथ सम्बन्ध और मन का जगत् के साथ सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है अपितु आगन्तुक है। उपनिषद् का मुख्य उद्देश्य इस बन्धन से छुटकारा पाना है। तथा उपनिषद् में वर्णित सभी बौद्धिक क्रियाओं का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। अतः उपनिषदों की साधना बौद्धिक है लेकिन लक्ष्य बौद्धिक नहीं है। यही उपनिषद् का वास्तविक स्वरूप है।

12.8 सत् के बन्धन

इसके पूर्व के खण्ड में बन्धन और मोक्ष का उल्लेख किया गया है। मोक्ष को समझने के लिए बन्धन को अच्छी तरह समझना आवश्यक है। उद्दालक के अनुसार छः ऐसे स्थान (षडायतन) हैं जहाँ बन्धन होता है। बन्धन की परम्परा को समझना आसान है। मन प्राण से बंध जाता है, प्राण अन्न से, अन्न जल से और जल तेज से। सत् मन के द्वारा इन सभी से सम्बन्धित हो जाता है। यदि सत् मन के साथ अपने सम्बन्ध को समाप्त

कर दे तो बन्धन की श्रृंखला समाप्त हो जाती है। उद्दालक यह बताते हैं कि एक तत्व दूसरे तत्व को कैसे बाँधता है। यह अत्यन्त रूचिकर है। अन्न जीवन के लिए आवश्यक है। अतः प्राण अन्न पर निर्भर है। केवल भोजन करना ही पर्याप्त नहीं है। इसका द्रव में परिवर्तन तथा इस (पाचक रस) के साथ मिश्रण होना भी आवश्यक है तभी पाचन क्रिया सम्पन्न होती है। उद्दालक स्पष्ट रूप से यहाँ पाचन क्रिया का उल्लेख कर रहे हैं। भोजन को ऊर्जा में बदलने के लिए जल की आवश्यकता है। इसलिए भोजन जल पर निर्भर है। और यह प्रक्रिया आन्तरिक जठराग्नि के बिना नहीं हो सकती। यह जठराग्नि, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तेज या अग्नि के ही समान है। एक दूसरे प्रकार से भी बन्धन को समझा जा सकता है। सत् तेज का स्रोत है, तेज अप् का और इसी प्रकार एक श्रृंखला बनती है। सत् सबका आधार है, लेकिन यह स्वयं किसी पर निर्भर नहीं रहता है। बन्धन से मुक्ति का अर्थ मृत्यु नहीं है। मुक्ति की अवस्था मृत्यु से भिन्न है। क्योंकि सत् का जब बन्धन से छुटकारा होता है तो वह मन से असम्बन्धित होता है। परन्तु यह एक पक्ष है क्योंकि अभी भी मन और प्राण का सत् के साथ सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है। मृत्यु के बाद मन का प्राण में, प्राण का तेज में और तेज का सत् में लय हो जाता है। और तब यह सत् शुद्ध सत् है।

12.9 आत्म और जगत् का स्रोतः ब्रह्म

उद्दालक ने सत् को बताने के लिये आत्मा को विश्व के सूक्ष्म सार के साथ सम्बन्धित किया है। उद्दालक ने इस सम्बन्ध को तत्वमसि (तुम वही हो) महावाक्य से प्रदर्शित किया है। इसे स्पष्ट करने के लिये वह एक साम्यानुमान प्रस्तुत करते हैं। जब मधुमक्खी इस (शहद) को विभिन्न स्रोतों से ले आती है तो उसमें स्रोत सम्बन्धी भेद नहीं रहता है वह एक ही हो जाता है। लेकिन उनका (स्रोतों का) अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसलिए तादात्म्य और अस्तित्व एक ही नहीं हैं। आत्म साक्षात्कार सत् के साथ तादात्म्य है। एक स्थान की हानि दूसरे स्थान के लाभ से पुष्ट होती है।

उद्दालक के द्वारा प्रस्तुत एक दूसरे साम्यानुमान में यह दिखाया गया है कि विभिन्न नदियाँ समुद्र में प्रविष्ट होकर समुद्र का एक अंश हो जाती हैं। समुद्र में एक नदी के जल को दूसरे नदी के जल से भिन्न करना असंभव है। नदियों की स्वतन्त्र पहचान समाप्त हो जाती है क्योंकि वे समुद्र के साथ एक हो जाती हैं और उनकी सत्ता अब समुद्र के रूप में रहती है।

इस प्रकार उद्दालक ने अपने संवाद में अनेक उदाहरणों का प्रयोग किया है। उन सबका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। उन सबका सारांश यह है कि अज्ञान ही भेद का जनक है। ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं, उचित शिक्षा, योग्यता और शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा। इसके बिना लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती है। ज्ञान की प्राप्ति ही मोक्ष है। सत्य मुक्ति का द्वार है तथा असत् बन्धन की गुफा। ज्ञान का अर्थ है सत्य की पहचान।

12.10 परा विद्या (भूमाविद्या)

ज्ञान और सत्य की चर्चा हमें भूमाविद्या तक पहुँचाती है जिसका विस्तृत विवरण सातवें अध्याय में है। उपनिषद् कहता है कि ज्ञान के ही कारण कोई सत्य कहता है और ज्ञान नहीं है तो सत्य भी नहीं है। प्रश्न है कि ज्ञान कैसे होता है? किस प्रकार ज्ञान प्राप्त होता

है? ज्ञान के लिए मति की आवश्यकता है और मति के लिए श्रद्धा की और श्रद्धा से निष्ठा और इन सबका लक्ष्यार्थ सुख में होता है। और जो सुख की तरफ ले जाता है वही पराविद्या सर्वोच्च ज्ञान है। उपनिषद् कहता है, 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति...' जो महान् है, विस्तृत है, अनन्त है उसी में सुख है। जो अल्प है उसमें सुख नहीं है। जब हम सर्वोच्च शिखर पर पहुँचते हैं तो वहाँ द्वैत विगलित हो जाता है। ऐसी अवस्था में ज्ञाता–ज्ञेय, श्रोता–शब्द सबका अन्त हो जाता है, मात्र अद्वैत शेष रहता है। वह अपनी ही महिमा में स्थित रहता है। उसे किसी सहारे की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह सबका सहारा होता है। वही परमात्मा है और उसी का ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है। वही ऊपर है वही नीचे है, वही आगे वही पीछे है वही सर्वत्र है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. संक्षेप में 'स्वपिति' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

12.11 सारांश

छान्दोग्य उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों में से एक है। यहाँ अधिकांश सम्वाद कर्मकाण्डों के विषय में हैं। यह सामवेद का अंग है। अतः इसमें उल्लेखित सभी कर्मकाण्डों का सम्बन्ध *सामवेद* से है। उपनिषद् कर्मकाण्डों के विरोधी हैं क्योंकि संक्रमण काल में लोग यह विश्वास करते थे कि कर्मकाण्ड भी ब्रह्म ज्ञान के साधन हैं। गायत्री वह मन्त्र है जिसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है। आकाश के तीन स्तर हैं जो मन के तीन स्तरों का निरूपण करते हैं। ब्रह्म को प्रकाश के साथ भी एकरूप समझा गया है। तज्जलानिति का दार्शनिक महत्व है। विश्व दर्शन का बीज इसमें निहित है। उद्दालक का विश्वदर्शन वैदिक संहिताओं की दृष्टि का विरोधी है तथा वैज्ञानिक है। ब्रह्म को अनेक प्रकार से समझाते समय प्राण को सर्वोच्च बताया गया है। आत्मा केवल जगत् का स्रोत नहीं है अपितु मनुष्य का सार है। स्वबोध ही सर्वोच्च ज्ञान है।

12.12 कुंजी शब्द

लोकोक्ति : इसका अर्थ सूक्तियाँ हैं जिसमें हमारे पूर्वजों का ज्ञान सुरक्षित रहता है तथा जिसे परम्परा से प्रमाणित माना जाता है।

गुण : यह किसी द्रव्य की अमूर्त विशेषता है।

द्रव्य : यह गुण का आश्रय होता है। यह किसी वस्तु का मूल सिद्धांत है जिसके बिना उसका अस्तित्व असंभव होता है।

ऊष्मागतिकी : भौतिक शास्त्र की एक शाखा जिसमें ताप और उसके दबाव का अध्ययन किया जाता है।

12.13 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

दास गुप्ता, एस. एन. *हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यू–1. देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1988.

राधाकृष्णन्, एस. *हिस्ट्री ऑफ फिलोसॉफीः ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न.* लन्दनः जॉर्ज एलेन एवं अनविन, 1967.

राधाकृष्णन्, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यू–1. न्यू देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004.

राधाकृष्णन्, एस. *द प्रिंसिपल्स उपनिषद्स.* लंदनः जार्ज एलेन एवं अनविन, 1958.

वार्डर, ए. के. *आउट लाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 1971.

शर्मा, सी.डी. *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 2000.

सरस्वती, एस. एव. *छान्दोग्योपनिषद्.* बेंगलोरः अध्यात्म प्रकाशनालय, 2007.

हिरियण्णा, एम. *आउटलाईन्स आफ इण्डियन फिलॉसोफी.* लंदनः जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1958.

हिरियण्णा, एम. *एसेन्सियल्स ऑफ इंडियन फिलॉसोफी.* लन्दनः जार्ज एलेन एण्ड अनविन, 1958.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

छान्दोग्योपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुरः गीताप्रेस, विक्रम सम्वत् 2070.

12.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. आकाश जो मन का आन्तरिक अंग है उसके दो भाग हैं– शरीराकाश और हृदयाकाश। इस प्रकार आकाश के तीन भाग हो गये। ये तीनों आकाश क्रमशः मन की जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति के समानान्तर है। प्रथम दो अवस्थाओं में दुःख होता है जबकि अन्तिम अवस्था दुःख के परे हैं। आकाश इन अवस्थाओं में दुःख होता है जबकि अन्तिम अवस्था दुःख के परे है। आकाश इन अवस्थाओं के साथ सम्बन्धित है तथा अनुभव के साथ भी सम्बन्धित है।

2. यह मनोमय है, प्राणमय है, भारूप (प्रकाश रूप) है, सत्य संकल्प है, आकाशात्मा है, सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वगन्ध है, सर्वत्र व्याप्त है, अवाक्य है तथा अनादर है।

बोध प्रश्न 2

1. तीसरे अध्याय का नौंवा खण्ड कहता है कि आदित्य ही ब्रह्म है। इसमें कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् था जिससे सत् का प्रादुर्भाव हुआ। इस मन्त्र के पहले कथन के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। इसकी एक व्याख्या यह हो सकती है कि असत् को अव्याकृत अथवा संभावना के अर्थ में लिया जा सकता है जब जगत् अभिव्यक्ति नहीं था तब यह संभावित था। यहाँ नामरूप का भेद नहीं था इसी रूप में यह असत् था।

2. तत्वमसि उद्दालक के स्पष्टीकरण में सात बार आया है। इसका अर्थ है कि यह जो सूक्ष्म और सत् है वही सत्य है और वह आत्मा है तथा जगत् के स्रोत के साथ एकरूप है। दूसरे शब्दों में जगत् और ब्रह्म के ऐक्य को अनुभव करना चाहिए।

बोध प्रश्न 3

1. उद्दालक 'स्वपिति' को सत् के साथ सम्बन्धित मानते हैं तथा इसे व्यक्ति की यथार्थ प्रकृति के साथ सम्बन्धित करते हैं। यह सत् का व्यक्ति के साथ सम्बन्ध इसलिए सम्भव होता है कि सत् मन के साथ सम्बन्धित है। 'स्वपिति' का अनुभव तभी होता है जब सत् मन से सम्बन्ध हटा लेता है। 'स्वपिति' को ठीक से समझने के लिए सुषुप्ति को समझना आवश्यक है। उपनिषद् इस शब्द का प्रयोग नहीं करता है अपितु इसके स्थान पर यह 'स्वप्नान्तम्' शब्द का प्रयोग करता है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 13 बृहदारण्यक उपनिषद्[13]

रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 परिचय

13.2 अवलोकन

13.3 केन्द्रिय समस्या पर विचार

13.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

13.5 सारांश

13.6 कुंजी शब्द

13.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम *बृहदारण्यक* के सार विषय को जानने में समर्थ होंगे। सार–विषय इस प्रकार है–

- अश्वमेध यज्ञ का महत्व तथा जगत् की उत्पत्ति
- 'प्राण' (जीवन) का अर्थ
- प्राण शक्ति का महत्व
- सद्गुण की विषय–वस्तु
- परब्रह्म की महानता
- सत्योपलब्धि के लिए दिशा तथा परब्रह्म

13.1 परिचय

बृहदारण्यक का शाब्दिक अर्थ है: बृहद् अरण्य शिक्षा। यह उपनिषदों में एक महत्वपूर्ण एवं पुराना उपनिषद् है। यह *शतपथ ब्राह्मण* का अंग है। यह ब्रह्म को सर्वव्यापी निरपेक्ष, स्वप्रकाश तथा आनन्दमय रूप में देखता है तथा आत्मा के रूप में इसकी उपलब्धि की घोषणा करता है। यह *उपनिषद्* अपने दार्शनिक सूत्रों के लिए विख्यात है। पूरा *उपनिषद्* गद्यमय है कहीं–कहीं कुछ पद्य हैं। यह छः अध्यायों में विभक्त है। इन अध्यायों को पुनः

[13] डॉ. परिमल जी के, आंजनेय महाविद्यालय, बैंग्लोर, अनुवाद– श्री प्रवेश कुमार, दिल्ली

सैंतालीस भागों में विभक्त किया गया है जिन्हें ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण पुनः कण्डिका में विभक्त हैं। तीन मुख्य काण्ड हैं– मधुकाण्ड, जो व्यक्ति और सार्वभौम आत्मा के एकत्व का प्रतिपादन करता है। मुनिकाण्ड या याज्ञवल्क्य काण्ड, जो अपनी दार्शनिक शिक्षा के लिए जाना जाता है तथा खिल काण्ड जो कुछ उपासना तथा ध्यान की विधियों की चर्चा करता है। इस उपनिषद् का उद्देश्य आत्मा का प्रतिपादन करना तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता को भी प्रदर्शित करना है।

13.2 अवलोकन

उपनिषद् के प्रथम अध्याय में अश्वमेध यज्ञ और सृष्टि पर प्रकाश डाला गया है। इसे मधुकाण्ड कहा गया है। उपनिषद् का प्रारम्भ यज्ञीय अश्व के वर्णन से होता है। अश्व के प्रत्येक अंग को दैवीय बताया गया है तथा उपनिषद् के अनुसार अश्व का ध्यान प्रजापति या हिरण्यगर्भ के रूप में करना चाहिए। यहाँ पर अश्वीय ध्यान को अश्वमेध यज्ञ के तुल्य बताया गया है।

प्राण शक्ति की सर्व शक्तिमानता को एक नीति कथा के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। देवताओं ने विभिन्न इन्द्रियों से अपने लिए गान करने को कहा। एक राक्षस ने सभी इन्द्रियों में दोष उत्पन्न कर दिया। लेकिन वह प्राणशक्ति को परास्त न कर सका। प्राण शक्ति की सहायता से ही अन्य इन्द्रियां दोषों से मुक्त हो पाई तथा देवताओं का गान किया। देवताओं ने पुरस्कार के रूप में प्राण को भोजन दिया और सभी इन्द्रियों ने प्राण का अंग होना स्वीकार किया। स्रष्टा ने जगत् और भोजन दोनों की रचना की। सात प्रकार के भोजनों का सृजन किया। एक प्रकार का आधारभूत भोजन शरीरधारियों के लिए, दो भोजन देवताओं के लिए। एक भोजन जानवरों के दुग्ध हेतु। उसने तीन भोजन अपने लिए रख लिये।

दूसरे से लेकर चौथे अध्याय तक को मुनिकाण्ड या याज्ञवल्क्यकाण्ड कहते हैं। दूसरे अध्याय का प्रारम्भ अजातशत्रु और गंग के सम्वाद से होता है। अजातशत्रु आत्मा के विषय में चर्चा करता है तथा उसकी तीन अवस्थाओं– जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के विषय में बताता है।

याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी के आत्मा के विषय में उठाये गये प्रश्नों के उत्तर तथा शिक्षा प्रदान करते हैं। साथ ही याज्ञवल्क्य ने जनक के दरबार में विद्वानों और राजा जनक के प्रश्नों का भी समाधान किया है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से आत्म–ज्ञान की चर्चा करते हैं। वो कहते हैं कि आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए तथा उसका ध्यान करना चाहिए। सबकुछ आत्मा से ही ओत–प्रोत है तथा देवता भी इस आत्मा से ओत–प्रोत हैं। जिस प्रकार सभी प्रकार के धूम, धूम वाले ईंधन से निकलते हैं। उसी प्रकार सभी प्रकार के वेदादि भी आत्मा से निकले हुए हैं।

राजा जनक ने एक यज्ञ किया और उपस्थित ब्राह्मणों में से सबसे विद्वान ब्राह्मण को सोने से मढ़ी सींग वाली एक हजार गायें दान में देने की घोषणा की। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को गायों को अपने आश्रम में ले चलने को कहा तब सभी ब्राह्मणों ने मिलकर याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया और याज्ञवल्क्य ने सभी के प्रश्नों के समुचित उत्तर दिये।

एक विद्वान ने प्रश्न पूछा–आत्मा के लिए सबसे प्रत्यक्ष क्या है? उन्होंने उत्तर दिया– प्राण, अपान, ध्यान तथा उदान। उन्होंने पुनः स्पष्ट किया कि प्रत्येक शरीर में आत्मा सूर्य की

तरह प्रकाशित है जो श्रोता है, मन्ता है और ज्ञाता है। लेकिन उसे बाह्य वस्तुओं की तरह नहीं जाना जा सकता। उनके अनुसार इसमें भौतिक और मनोवैज्ञानिक वर्ग होते हैं, जो इसको समझता है वह वैसा ही हो जाता है। आत्मोपलब्धि के बाद इस ज्ञान का नाश नहीं होता है। जब यह प्रश्न पूछा गया कि क्या वे इससे परिचित हैं तथा इससे सम्बन्धित करने वाला सूत्र कौन सा है? तब उन्होंने सकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि इसका स्रोत 'वायु' है। उन्होने यह स्पष्ट किया कि यह सभी शरीरों में व्याप्त है लेकिन सभी लोग इससे परिचित नहीं हैं। इसका अपना शरीर नहीं होता है। लेकिन उसकी उपस्थिति शरीर और इन्द्रियों का कारण है। उन्होंने विस्तारपूर्वक अन्तर्यामी की महत्ता बताई–

"अदृष्टो दृष्टा, अश्रुतो श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता...एस त आत्मन्तर्याम्य अमृतः अतोऽन्याद् अर्तम् (3.8.1)

उन्होंने कहा है कि यह अक्षर है और उसका राज्य अमर है। जब उनसे यह प्रश्न पूछा गया कि दिशा से ऊपर तथा पृथ्वी के नीचे तथा द्युलोक और पृथ्वीलोक के मध्य में क्या है? तो उन्होंने उत्तर दिया वह आकाश है।

जब अन्य विद्वानों ने अपने प्रश्न समाप्त कर लिए तो याज्ञवल्क्य ने उन विद्वानों से प्रश्न पूछा कि जब वृक्ष को काट दिया जाता है तो वह पुनः उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य मृत्यु के बाद किस कारण से पुनः उत्पन्न हो जाता है? कोई भी विद्वान इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। याज्ञवल्क्य के अनुसार वह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है जिसके कारण मृत्यु के बाद भी मानव जीवित रहता है।

याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को परब्रह्म की शिक्षा दी। उन्होंने उन्हें बताया कि प्राणशक्ति को समझने से ब्रह्म को समझना आसान हो जाता है। ब्रह्म, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में वैश्वानर, तैजस, और प्राज्ञ के रूप में स्थित रहता है। उन्होंने इसी खण्ड में इसकी विस्तृत व्याख्या की।

पाँचवें अध्याय से खिल काण्ड प्रारम्भ होता है। खिल का अर्थ पूरक है। शंकराचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म, जो सभी उपनिषदों का विषय है, जो अनन्त है, को अन्तिम चार अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है।

"पूर्णमदः..." मन्त्र की व्याख्या करते हुए कुछ लोग मानते हैं कि अनन्त (जगत्) अनन्त (ब्रह्म) से उत्पन्न हुआ। द्वैतात्मक जगत् भी अनन्त है अर्थात् पूर्ण ब्रह्म है। पाँचवें अध्याय में इस प्रकार के ध्यानों का वर्णन है जो समृद्धि तथा क्रमशः मुक्ति की ओर ले जाते हैं:–

"तद् एतद् एवैसा दैवि वाग् अनुवदति स्तनयित्नुः– द, द, द, इति दम्यता, दाता, दयाध्वम् इति। तद् एतद् त्रयम् शिक्षेत्, दमन, दानम्, दयाम् इति।" (5.2.3)।

यहाँ पर एक आख्यायिका है किस प्रकार मनुष्यों ने प्रजापति द्वारा दिये गये एक अक्षर 'द' को समझा। प्रजापति दे देवता, मानव, राक्षस तीनों को शिक्षा दी। उन्होंने अन्त में केवल 'द' अक्षर कहा और उनसे पूछा कि उन्होंने किस अर्थ में लिया। देवताओं ने कहा कि वे 'द' का अर्थ 'दम' से लेते हैं। मनुष्यों ने कहा कि वे 'द' का अर्थ 'दान' से लेते हैं और राक्षसों ने कहा कि वे 'द' का अर्थ 'दया' से लेते हैं। उन्होंने वहाँ पर दैवीय वाणी सुनी 'द' द द' – जिसका अर्थ था – दान, दया, दम।

इसका तीसरा खण्ड अत्यन्त महत्वपूर्ण है इसमें प्रजापति ने यह बताया है कि हृदय में तीन अक्षर हैं– हृ, द, य। यदि कोई इन तीनों अक्षरों पर ध्यान करता है तो इन तीनों पर ध्यान करने से क्रमशः वह भोग, शक्ति तथा स्वर्ग लोक की प्राप्ति करता है।

सम्पूर्ण पंचम ब्राह्मण ध्यान और इसके प्रभावों की चर्चा करता है। यहाँ पर ध्यान के लिए सत्य, सूर्य, मन, विद्युत, वाक् (वेदों) को 'धेनु' के रूप में तथा वैश्वानर का ध्यान करने को कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ध्यान के लिए एक निश्चित विषय होना चाहिए। एक ही समय में एक से ज्यादा वस्तुओं पर ध्यान करने से फल नहीं मिलता है। ध्यान का अर्थ है किसी एक विषय पर नियमित रूप से क्रमशः निरन्तर ध्यान करना। ध्यान का मुख्य लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना है। उपनिषद् में इस विषय पर भी विस्तृत चर्चा है कि किस प्रकार से मनुष्य रोग, मृत्यु और मरण क्रिया का सामना करे। उपनिषद् कहता है कि कुछ लोग इन्हें भयावह दृष्टि से देखते हैं।

प्राण की महिमा अनेक खण्डों में की गयी है। इसके विषय में अनेक आख्यान भी हैं। प्राण पर विभिन्न नामों के द्वारा ध्यान करने की चर्चा भी की गयी है प्राण को उक्थ के रूप में समझना चाहिए तथा ध्यान करना चाहिए क्योंकि यह सम्पूर्ण विश्व को धारण करता है। जा इस प्रकार से ध्यान करता है वह ऐसे पुत्र की प्राप्ति करता है, जो इस प्राण शक्ति को जानता है। यदि हम उक्थ को यजुः के रूप में ध्यान करते हैं तो हम उसी लोक में पहुँच जाएँगें जहाँ उक्थ रहता है, जहां सभी जीव एक दूसरे से मिलते हैं। इस प्राण शक्ति को समन के रूप में जानना होगा क्योंकि जो इसका ध्यान करता है वह उसके साथ तादात्म्य रूप को प्राप्त करता है। अन्त में, इसका क्षेत्र के रूप में ध्यान करने को कहा गया है, क्योंकि यह चोटों एवं घावों से बचाता है। जो इसे 'क्षेत्र' के रूप में जानता है उसे अन्य किसी रक्षक की आवश्यकता नहीं होती है। यह प्राण ही उसे अन्त तक बचाने में समर्थ है।

गायत्री छन्द के विषय में विस्तृत चर्चा की गयी है। गायत्री वेदों में प्रमुख छन्द है। केवल गायत्री छन्द में ही जपकार की रक्षा करने की शक्ति है। यह 'सवित्' अथवा 'सूर्य' की उपासना है। गायत्री के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। प्रथम पाद भूमि है, द्वितीय पाद अन्तरिक्ष है तथा तृतीय पाद द्युलोक है। द्वितीय पाद के आठ अक्षर क्रमशः ऋक्, यजुर् और साम है। तृतीय पाद के आठ अक्षर प्राण, अपान और उदान हैं। तथा चतुर्थ पाद अलौकिक है 'परोरजा' है। इसके पाद दृष्टि में आते हैं क्योंकि सूर्य नेत्रों का विषय है और सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है। गायत्री ज्ञान की महिमा अपरिमित है।

छठवें अध्याय का प्रारम्भ भी एक रूपक से होता है। इन्द्रियों के मध्य एक संवाद होता है। प्रत्येक इन्द्रिय कहती है कि वह सबसे पुरातन है। अन्त में वे सभी प्रजापति के पास जाती हैं। प्रजापति ने कहा कि वही इन्द्रिय श्रेष्ठ होगी जिसके अभाव में शरीर नष्ट हो जाएगा। अपनी महिमा को प्रदर्शित करने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय एक–एक साल तक शरीर के बाहर निवास करती रहीं। लेकिन शरीर यथावत् रहा। लेकिन जब प्राण ने शरीर छोड़ना प्रारम्भ किया तो सभी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगी तथा सभी ने अनुरोध किया कि प्राण शरीर को न छोड़ें।

"मा भगवः उत्क्रमिः, न वै सक्ष्यमस् त्वद् ऋते जीवितुम् इति, तस्यो मे बलिं कुरुत्त्वि, तथेति।" (6.1.13)

इस प्रकार सभी इन्द्रियों ने यह स्वीकार कर किया कि प्राण उनमें सबसे श्रेष्ठ हैं।

छठवें अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में एक अन्य आख्यायिका श्वेतकेतु से सम्बन्धित है जो गौतम का पुत्र और आरुणि का पौत्र है। श्वेतकेतु अपनी शिक्षा समाप्त करके पांचालों के परिषद् में जाता है। राजा ने उससे पाँच प्रश्न पुछे। जिनका उत्तर देने में श्वेतकेतु अपने को असमर्थ पाता है। राजा ने उसको अपने यहाँ ठहरने का आग्रह किया। लेकिन श्वेतकेतु शर्म के कारण राजदरबार छोड़कर अपने पिता, जो उसके गुरु भी थे, के पास जाता है और इस घटना को बताता है। पिता ने इस ज्ञान के विषय में अपने को अनभिज्ञ बाताया। लेकिन उन्होंने निश्चय किया कि यह राजा के पास जाकर इस ज्ञान को प्राप्त करेंगे। उन्होंने अपने पुत्र से भी यहाँ चलने का आग्रह किया। लेकिन पुत्र ने इंकार कर दिया। अन्त में उसके पिता पांचाल नरेश के पास जाते हैं और उनका शिष्यत्व ग्रहण करते हैं। फलस्यरुप राजा ने उन्हें पाँच प्रकार की अग्नियों की शिक्षा दी। लोकाग्नि, पर्जन्य अग्नि, पुरुष अग्नि, योगअग्नि, द्यूलोकाग्नि। राजा ने पुनः कहा कि जो कोई भी गृहस्थ या सन्यासी, इन पाँच अग्नियों को जानता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. वैश्यिक यज्ञीय अश्य किसका प्रतीक है?

....

....

....

....

....

2. संक्षेप में यह बताइए कि याज्ञवल्क्य कैसे एक देवता का बहुदेवता से भेद करते हैं?

....

....

....

....

....

13.3 केन्द्रिय समस्या पर विचार

प्रथम अध्याय कर्मकाण्डीय है। वैदिक काल में अश्यमेध यज्ञ को एक महान यज्ञ के रूप में देखा जाता था तथा इसको सम्पादित करने याला ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता था।

उपनिषद् में यज्ञीय अश्व का प्रतीकात्मक वर्णन है। इस वैश्विक अश्व के वर्णन में मनोवैज्ञानिक घटक सम्मिलित हैं। यहाँ दिखाया गया है कि किस प्रकार अश्व के शरीर के अंग, जगत् के विभिन्न तथ्यों का निरूपण करते हैं। आदि शंकराचार्य के अनुसार केवल इस अश्व के ध्यान मात्र से अश्वमेध यज्ञ के करने के फल की प्राप्ति हो सकती है।

सृष्टि के आरम्भ में स्रष्टा अकेला था और उसे साथी की आवश्यकता हुई। उसने अपनी इच्छा से पुरुष और स्त्री का सृजन किया। उसने स्त्री, पुरुष करके समस्त प्राणियों का सृजन किया। उसने देवताओं का भी सृजन किया। और इस प्रकार सृजन करके वह उनमें प्राणशक्ति के रूप में प्रविष्ट हो गया। सृष्टि रचना का वर्णन आध्यात्मिक और काव्यगत सौन्दर्य से परिपूर्ण है। उपनिषद् का सूत्रात्मक संदेश निम्नलिखित है– 'असतो मा सद गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योः मा अमृतं गमय' (1, 3, 28)। उपनिषद् के अनुसार इस मन्त्र की पुनरावृत्ति प्राण को जानने वाले के लिए की गई है। जो इस मन्त्र के अर्थ को समझता है तथा इसका उच्चारण करता है वह देवत्व को प्राप्त करता है। इस मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है–

"असत् की ओर नहीं सत् की ओर ले चलो।

अन्धकार की ओर नहीं प्रकाश की ओर ले चलो।

मृत्यु की ओर नहीं अमरत्व की ओर ले चलो।"

प्रथम दो पंक्तियां का गम्भीर अर्थ है। यहाँ असत् का अर्थ अशुभ है। यदि हमारे विचार और क्रिया अशुभ हैं तो वे हमें नीचे की ओर ले चलेंगे। इसलिए हमें इस प्रकार की मृत्यु से दूर रखो। मुझे शुभ की आरे ले चलो। शुभ अमरत्व है। यदि कोई उचित मार्ग का अनुसरण करता है तो वह देवत्व को प्राप्त करता है। अन्धकार मृत्यु है, अज्ञान है, पर्दा है और इस प्रकार इसके पीछे भागने वाला मृत्यु की शरण में जाता है। इसके विपरीत प्रकाश दैवीय है तथा अमरत्व की प्राप्ति कराने में समर्थ है। प्रकाश का नाश नहीं होता है। प्रथम मन्त्र हमें अपने स्वरूप सत् के साथ जोड़ता है। जबकि द्वितीय मन्त्र अज्ञान का निराकरण करके हमें अपने स्वरूप की प्राप्ति कराना चाहता है। तृतीय मन्त्र 'मृत्योः मा अमृतं गमय', उपरोक्त दोनों मन्त्रों का समन्वयात्मक अर्थ देता है। यदि मन्त्र का पाठकर्ता यह जानता है कि प्राणशक्ति के साथ इस मन्त्र का तादात्म्य है तो वह अपने लिए वरदान प्राप्त कर सकता है।

13.4 दार्शनिक प्रतिउत्तर

उपनिषद् सार्वभौम ब्रह्म और वैयक्तिक आत्मा दोनों की चर्चा करता है तथा दोनों के एकत्व का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म पर और अपर रूप में अनन्त अस्तित्व रखता है। ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में ऐकेश्वरवाद के ईश्वर की तरह नहीं है अपितु उसे सर्वव्यापक और सबके अन्दर बताया गया है।

उपनिषदों में प्रतीकात्मक रूप से यज्ञीय अश्व को विश्व के रूप में देखा गया है। यहाँ पर जिसका वर्णन किया गया है वह अश्वमेध यज्ञ का यज्ञीय अश्व है जिसकी बलि अश्वमेध यज्ञ में दी जाती थी। लेकिन उपनिषदों में इस पर केवल ध्यान के द्वारा फल की प्राप्ति बतायी गयी है। यहाँ यज्ञ क्रिया का स्थान ध्यान भावना ने ले लिया है।

शंकराचार्य और अन्य विद्वानों ने कहा है कि यह अश्व प्रजापति या सृष्टि का स्रष्टा है। यह केवल यज्ञीय पशु नहीं है। इसी रूप में इसको देखना चाहिए। अतः यहाँ पर सृष्टि प्रक्रिया कारण–मूलक अवस्था से सूक्ष्मावस्था में जाती है तथा सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में जाती है और स्थूलावस्था के रूप में यह जगत् के विभिन्न आकारों को जन्म देती है। इसलिए यज्ञीय अश्व के विभिन्न प्रकार्यों पर भी ध्यान करने को कहा गया है। और ये कार्य सामान्यतया अश्वमेध यज्ञ के समय सम्पादित किये जाते थे।

सृष्टि का वर्णन प्रतीकात्मक रूप में किया गया है। किस प्रकार वस्तुएं उत्पन्न हुई तथा आँखों से हम क्या देखते हैं? कार्य और कारण सम्बन्ध क्या है? सार्वभौम सत्ता के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? व्यक्ति और निरपेक्ष तत्व का क्या सम्बन्ध है? इन सभी का विस्तृत निरूपण किया गया है?

उपनिषद् में इस तथ्य का भी निरूपण है कि किस प्रकार प्राणशक्ति (आत्म) के ज्ञान से अज्ञान का निषेध हो सकता है। यह कहना बहुत कठिन है कि अज्ञान कैसे आता है। लेकिन ज्ञान तथा सत्य को जानने की तीव्र इच्छा से मुमुक्षु आत्म को जान सकता है। जब व्यक्ति आत्म की ब्रह्म के रूप में अनुभूति कर लेता है तो वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।

विद्वानों के अनुसार, शरीर, मन और प्राण का समन्वयात्मक कार्य यह संकेत करता है कि कोई अन्य अभौतिक सत् है जो इनसे भिन्न है। इसे ही हम व्यक्ति की आत्मा कहते हैं लेकिन इसका स्वरूप अनुभवातीत है। यह उन सीमित गुणों से मुक्त है जो अज्ञान के कारण हैं तथा यह परमसत् के साथ एकरूप है। केवल जड़ वस्तुएं, जिनमें गुण–दोष होते हैं, ही इन्द्रियों का विषय बनती हैं, आत्मा नहीं। अतः नाशवान वस्तुओं के गुण–धर्म–नाश, सम्बन्ध, बन्धन, दुख और मृत्यु आदि इसमें नहीं होते हैं।

यद्यपि, आदि शंकराचार्य प्रत्येक जाति के लिये निश्चित कर्मकाण्ड का निर्धारण करते हैं परन्तु वे मानते हैं कि ध्यान से ज्ञान उत्पन्न होता है। वास्तव में, उपनिषदों में बारम्बार ध्यान को कर्मकाण्ड के समतुल्य बताया गया है जिससे आत्मा का ज्ञान होता है और जो इस जगत् से इसे प्राप्त किये बिना चला जाता है वह अज्ञान में ही रह जाता है।

अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ब्रह्मानुभव साधक के लिए एक बड़ी चुनौती होती है। ब्रह्म न तो सूक्ष्म है न स्थूल है, न छोटा है, न बड़ा है, न रूखा है, न चिकना है, न छाया है, न अन्धकार है, वह न आकाश है न वायु है, उसका कोई भी भौतिक आकार नहीं है। उसे नापा नहीं जा सकता है क्योंकि उसके अन्दर अथवा बाहर कुछ भी नहीं है लेकिन सभी वस्तुएं उसी के कारण हैं। वही द्रष्टा, सोचने वाला, श्रोता और ज्ञाता है। इसलिए याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा, "इसी अक्षर में आकाश ओत–प्रोत है।" अतः ब्रह्म नित्य, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है। वह सृष्टि का सार और निरपेक्ष तत्व है। इस ब्रह्म का आत्मा के साथ एकत्व का ज्ञान 'सत्य' की प्राप्ति कराता है। सत्य की अनुभूति की गति अति तीव्र है। सत्य का ज्ञान बिजली के चमकने जैसा है। 'नेति–नेति' से यह दिखाया जाता है कि जितना भी द्वैत (विषय–विषय) है वह पूर्ण है तथा मानव प्रत्यक्ष का विषय है लेकिन यह सब कुछ उस निरपेक्ष एकता से आता है, जिससे द्वैत का उद्गम होता है, वह स्वयं द्वैत से परे है।... बहुत सारे दर्शन अनुभवातीत ईश्वर के पर स्वरूप और सृष्टिकर्ता ईश्वर में भेद करते हैं। उपनिषद् के प्रसिद्ध उपवाक्य 'नेति–नेति' से ईश्वर के अनुभवातीत परारूप की झलक मिलती है'' (एस. राधाकृष्णन्, 1963)।

उपनिषद् साधक की पूर्णता की तथा शुद्धता की परीक्षा करता है। जिससे यह पता लगता है कि यह ब्रह्म की उपलब्धि के लिए समर्थ है कि नहीं। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रमुख साधन विद्या, ज्ञान, सत्य, आचार, विश्वास तथा विशाल हृदय होना है। यदि कोई संकल्प शक्ति संपन्न है तथा ईमानदारी से लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है तो वह उसे प्राप्त कर लेता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. ध्यान और कर्मकाण्डीय आचरण में क्या भेद है?

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

2. 'ॐ' के महत्व पर एक संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

   ....

   ....

   ....

   ....

   ....

13.5 सारांश

उपनिषद् का प्रारम्भ अश्वमेध यज्ञ के वर्णन से होता है तथा अश्व की उपमा वैश्विक सत्ता के रूप में दी गयी है। जिसके प्रत्येक अंग को वैश्विक सत्ता से सम्बन्धित करके ध्यान करना चाहिए। अश्व से प्रारम्भ करके यह जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का विवरण देती है। आरम्भ में कुछ भी नहीं था। शून्य से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। 'प्राण', आत्मा है तथा सबसे बलशाली है।

उपनिषद् ने कर्मकाण्ड के रूपक के माध्यम से सृष्टि की रचना को समझाया है। प्राण शक्ति को समझने के लिए अतिसुन्दर रूपक दिये गये हैं। सद्गुण की उत्पत्ति को बहुत मोहक एवं सुन्दरता के साथ समझाया गया है तथा सत्य और ब्रह्म की प्राप्ति में इसकी महिमा समझाई गई है। ऐसे बहुत सारे उपाख्यान हैं। जहाँ ब्रह्म की महिमा को समझाया गया है। 'द' ध्वनि और 'अन्' तथा मन्त्र 'असतो मा सद्गमय...' की महत्ता का भी सुन्दर ढंग से विवरण दिया गया है। उपनिषद् ने बहुत सुन्दर ढंग से यह समझाया है कि ध्यान

कर्मकाण्ड के समकक्ष है। अनेक प्रकार के ध्यानों की चर्चा की गयी है तथा ध्यानों के महत्व को बताया गया है। गायत्री छन्द की विस्तृत चर्चा की गयी है। मूलतः परब्रह्म और सत्य की तरफ साधकों को उन्मुख करने में यह उपनिषद् सफल रहा है।

13.6 कुंजी शब्द

अश्वमेध यज्ञ : वैदिक धर्म मे राजाओं की दृष्टि से अश्वमेध यज्ञ का सबसे ज्यादा महत्व है। इसका विस्तृत वर्णन (*यजुर्वेद* 7.1–5 और 7.22–25 तथा *शतपथ ब्राह्मण* के सायण के भाष्य 13.1–5 में किया गया है।) *ऋग्वेद* के 1.162–63 सूक्तों में इसकी चर्चा की गयी है। लेकिन कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन *यजुर्वेद* में ही मिलता है।

प्रजापति : हिन्दूधर्म में प्रजापति का अर्थ है जीवों का स्वामी जो जीवन की रक्षा करता है। *ऋग्वेद* के (10.121.10) सूक्तों से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक भाष्यकार इसे ईश्वर के रूप में देखते हैं, जैसा कि नासदीय सूक्त में कहा गया है।

हिरण्य गर्भ : हिरण्यगर्भ का शाब्दिक अर्थ स्वर्णगर्भ है तथा भारतीय दर्शन के अनुसार यह सृष्टि का स्रोत है। *ऋग्वेद* का 10.121 सूक्त हिरण्यगर्भ सूक्त कहलाता है जहाँ इसका वर्णन किया गया है तथा इससे एकत्ववाद अथवा एकेश्वरवाद की झलक मिलती है। नासदीय सूक्त में एक ही देवता को सबका कारण बताया गया है और उसे देवताओं का भी देवता कहा गया है और उसके सिवा किसी अन्य सत्ता का खण्डन किया गया है। उसका प्रजापति के साथ भी एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। *उपनिषद्* इसे जगत् की आत्मा के रूप में स्वीकार करता है तथा यह कहता है कि यह अन्धेरे में तथा शून्यता में एक साल तक तैरता रहा तथा पुनः यह दो भागों, स्वर्ग और पृथ्वी, मे विभक्त हो गया।

13.7 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

राज, ए. आर विक्टर. द *हिन्दू कनेक्शनः रूट्स ऑफ द न्यू एज.* सेन्टलुइस मिसोरीः कन्कार्डिया पब्लिशिंग हाउस, 1995.

राधाकृष्णन्, एस. *प्रिन्सिपल उपनिषद्स.* न्यूयॉर्कः हार्पर कोलिन्स, 1963.

वाकर, बेन्जामिन. *द हिन्दू वर्ल्ड.* न्यूयॉर्कः फ्रेडरिक फ्रेगर, 1978.

ह्यूम, आर. ई. (ट्रांस). द *थर्टीन प्रिन्सिपल उपनिषद्स.* लंदनः अधिक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1931.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य सहित. गोरखपुरः गीताप्रेस, विक्रम सम्वत् 2072.

13.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. उपनिषदों का मुख्य ध्येय कर्मकाण्डीय है जो ब्राह्मणों और वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य है। वैश्विक अश्व पूर्णतः प्रतीकात्मक है तथा इसको समझना अत्यन्त कठिन है। इसके वर्णन में उपनिषद् ने मनोवैज्ञानिक तत्वों का संयोजन किया है जिसके माध्यम से अश्व के अंग की तुलना वैश्विक अश्व से ही गयी है।

2. याज्ञवल्क्य के उत्तर से ब्रह्म का परोक्ष और साक्षात् ज्ञान मिलता है। ऐसे अनेक देवताओं का उल्लेख है जो इसके शासन में रहते हैं। याज्ञवल्क्य यह व्याख्या करते हैं कि विभिन्न देवता एक ही ईश्वर हिरण्यगर्भ के अंग हैं जो विश्वात्मक प्राण हैं। इसी के प्रसार से अनेक देवता बनते हैं तथा संकुचन से एकत्व की प्राप्ति होती है। देवताओं की संख्या की गणना करते हुए याज्ञवल्क्य ने आठ वसु– अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य, द्यूलोक, चन्द्र और तारा की गणना की। मनुष्य के दस अंग तथा मन को लेकर एकादश रूद्र होते हैं। आदित्य बारह महिने हैं। विद्युत का गरजना इन्द्र है और यज्ञ की प्रजापति हैं। छः देवता क्रमशः अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य और द्युलोक हैं। तीन देवता तीन जगत् हैं दो देवता जड़ और प्राण है तथा डेढ़ देवता बहती हुई हवा है।

बोध प्रश्न 2

1. ज्ञान की प्राप्ति के लिए ध्यान सबसे सुन्दर मार्ग है। इसका कर्मकाण्ड की तरह महत्व है। लेकिन दोनों में भेद निम्नांकित है; यज्ञीय कर्म के सम्पादन के लिए शुभ स्थान, काल, उद्‌गाता, यज्ञीय सामग्री को एकत्रित करना पड़ता है जबकि ध्यान में इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसमें अपनी सुविधानुसार ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। यद्यपि स्व पर नियंत्रण आवश्यक है। प्रत्येक दिन साधक को निश्चित काल और निश्चित संकल्प के साथ ध्यान करना चाहिए। दोनों का फल एक ही ब्रह्म की प्राप्ति है।

2. ध्यान के लिए एक शब्द की आवश्यकता होती है। 'ॐ' वह शक्तिशाली शब्द है जिस पर ध्यान करने से ब्रह्मानुभव हो सकता है। यद्यपि ब्रह्म और आत्मा एक ही तत्व के सम्बोधक हैं फिर भी 'ॐ' को सबसे सुयोग्य नाम माना गया है। यह ब्रह्म को प्राप्त करने का सबसे सुन्दर साधन है। यह प्रतीक भी है, नाम भी है।

खण्ड 4

नास्तिक दर्शन

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड परिचय

भारतीय दर्शन को लेकर यह एक प्रसिद्ध मत है कि नास्तिक वे दार्शनिक सम्प्रदाय हैं जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते। जबकि यह सही नहीं है क्योंकि कई आस्तिक सम्प्रदाय जैसे कि सांख्य और पूर्व मीमांसा ईश्वर (सृष्टिकर्त्ता) के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। इन दार्शनिकों के लिये विशेषतः तीन प्रमुख प्रश्न थे। 1. वेदों की आत्मा के विषय में अधिकारिता, 2. यज्ञ की सार्थकता और 3. ब्राह्मणों की सर्वोच्चता। ज्ञातव्य है कि सांख्य एवं योग को आस्तिक कहा जाता है लेकिन ये दोनों ही वेदों और उनकी शिक्षा के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखते हैं। कई विषयों में, वे वेदों में केवल कहने भर के लिये विश्वास व्यक्त करते हैं, और जहाँ उनके मत समान होते हैं वे आस्तिक समर्थन का दावा करते हैं। इतिहास में आस्तिक धर्मों के विरोध के बहुत से साक्ष्य मिलते हैं। हमारे उद्देश्य के लिए, हमने केवल उन तीन दार्शनिक सम्प्रदायों; चार्वाक, बौद्ध और जैन का उल्लेख किया है, क्योंकि इन तीनों का उल्लेख आस्तिक दर्शनों में प्रमुखता से हुआ है।

इकाई 14 'चार्वाक दर्शन' के विषय में है जो भारतीय जड़वादी परम्परा का प्रवर्तक सम्प्रदाय है। तथा यह एक प्राचीनतम अवैदिक सम्प्रदाय है। यद्यपि चार्वाक शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं हैं परन्तु विद्वानों के अनुसार चार्वाक उस शिष्य का नाम था जिसको उसके गुरु ने सर्वप्रथम इस दर्शन की शिक्षा दी थी। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ मीठी वाणी बोलने वाला (चारु वाक) है। इस प्रसंग में देखें तो सम्भवत इस दर्शन को यह नाम इसलिए दिया गया क्योंकि यह दर्शन काम और अर्थ को अधिक महत्व देने के कारण ऊपरी तौर पर आकर्षक है।

इकाई 15 में 'जैन दर्शन' पर प्रकाश डाला गया है जो नास्तिक परम्परा का बहुत पुराना सम्प्रदाय है एवं वेदों का विरोधी है। जैन शब्द 'जिन' शब्द से आया है जिसका अर्थ होता है 'विजयी' अर्थात् जिसने अपनी भावनाओं और इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। उत्तर वैदिक युग में जैन दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ लेकिन इसका पुनोर्त्थान वर्धमान, जो छठीं शताब्दी ई. पू. में वर्तमान थे और जो महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए, के दर्शन में देखने को मिलता है।

इकाई 16 'बौद्ध दर्शन–I' है। इसमें पूर्व बौद्ध दर्शन, जिसे पाली बौद्ध दर्शन या सैद्धांतिक बौद्ध दर्शन भी कहा जाता है, का विवरण प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में, पूर्व बौद्ध दर्शन की उत्तर बौद्ध दर्शन से परस्पर भिन्नता है क्योंकि उत्तर बौद्ध दर्शन भगवान बुद्ध के दार्शनिक विचारों के प्रस्तुतीकरण के बहुत बाद विकसित हुआ। बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक सिद्धार्थ थे जो गौतम परिवार से सम्बन्ध रखते थे। ज्ञान की प्राप्ति के बाद उन्हें 'बुद्ध' 'जाग्रत्' की संज्ञा मिली।

इकाई 17 'बौद्ध दर्शन–II' विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की शिक्षाओं पर प्रकाश डालती है। भगवान बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं को उत्तर बौद्धों के सभी सम्प्रदायों ने लगभग यथावत स्वीकार कर लिया। लेकिन जीवन के आदर्श को लेकर बौद्ध मत दो संप्रदायों में विभक्त हो गया– हीनयान और महायान। दोनों हीनयान और महायान व्यक्तिगत मुक्ति को तो स्वीकार करते हैं लेकिन महायान में मुक्ति मात्र अपने लिए नहीं है अपितु दूसरों की मुक्ति के लिये निरंतर प्रयास रत रहना ही मुक्ति है। इनका आदर्श बोधिसत्व का है जो दूसरों की मुक्ति के लिए प्रयासरत रहता है लेकिन हीनयान का आदर्श अर्हत है जो केवल अपनी मुक्ति के लिए सचेत रहता है। इन सम्प्रदायों में विवाद के कई अनेक बिन्दु हैं, जिन्हें इकाई में विस्तार से देखेंगे।

इकाई 14 चार्वाक दर्शन[14]

रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 परिचय

14.2 चार्वाक की तत्वमीमांसा

14.3 चार्वाक की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप

14.4 ईश्वर या किसी परासत्ता (प्रत्ययगोचर) का निषेध

14.5 चार्वाक की ज्ञानमीमांसा

14.6 ज्ञान के विषय में चार्वाक की दृष्टि

14.7 चार्वाक की भ्रम–विषयक दृष्टि

14.8 जीवन–दृष्टि

14.9 सारांश

14.10 कुंजी शब्द

14.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

14.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

भारतीय दर्शन को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है– नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन। जो वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार नहीं करते हैं, उन्हें नास्तिक कहते हैं तथा जो वेदों की सत्ता को स्वीकार करते हैं उन्हें आस्तिक दर्शन कहते हैं। चार्वाक, बौद्ध और जैन नास्तिक दर्शन के अंतर्गत आते हैं। इस इकाई में चार्वाक दर्शन के विषय में आप निम्नांकित तथ्यों से अवगत होंगे:

- तत्वमीमांसा
- आत्मा
- किसी परासत्ता या ईश्वर का खण्डन
- ज्ञान मीमांसा
- जीवन दृष्टि

[14] प्रो. सुधा गोपीनाथ, कोरामंगला, बैंग्लोर, अनुवाद– प्रो. ए के राई, बीएचयू, वाराणसी

14.1 परिचय

चार्वाक दर्शन या भारतीय भौतिकवाद दर्शन का प्रथम सम्प्रदाय माना जाता है। यह सबसे प्राचीन अवैदिक सम्प्रदाय भी है। चार्वाक बृहस्पति को अपना गुरु मानते हैं। 'चार्वाक' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है लेकिन विद्वानों का मत है कि बृहस्पति ने जिस पहले शिष्य को इस दर्शन की शिक्षा दी उसका नाम चार्वाक था। चार्वाक का शब्दिक अर्थ चारु और वाक् (मीठी वाणी) शब्दों से निगमित होता है। इस प्रकार चार्वाक का अर्थ होता है मीठी वाणी बोलने वाला या मीठी वाणी जो उस सिद्धान्त के लिए प्रयोग किया जा सकता है जो उथले रूप में आकर्षक हो क्योंकि यह सिद्धान्त काम और अर्थ (सम्पत्ति) की प्राप्ति का समर्थन करता है। चार्वाक के मूल ग्रंथ विलुप्त हो गये हैं, लेकिन इसके विषय में जो पर्याप्त सूचना हिन्दू, जैन और बौद्ध साहित्य से मिलती है इससे स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में न केवल आध्यात्मवाद अपितु जड़वाद का भी स्थान था। ऋग्वेद के लौक्य बृहस्पति ने जड़ को ही परमतत्व कहा। प्रारंभ में जड़वाद को संदेहवाद और अज्ञेयवाद से जोड़ कर देखा गया। परन्तु बृहस्पति ने इसे पृथक् स्वरूप प्रदान किया। प्रारम्भिक अवस्था में चार्वाक 'स्वभाववाद' में विश्वास करते थे। वे वस्तुओं के बाहरी गुणों के विपरीत किसी वस्तु के स्वाभाविक गुणों को ही उस वस्तु का वास्तविक कारण मानते थे। उन्होंने सृष्टि के मूल में किसी परासत्ता के अस्तित्व का खण्डन किया। आग गरम है, पानी ठण्डा है और वायु को स्पर्श किया जा सकता है। वस्तुओं में इस प्रकार के भेदों को किसने उत्पन्न किया? चार्वाक इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि वस्तुओं के ये गुण उसका स्वभाव हैं। वस्तुतः वस्तुऐं जो दिखती हैं वही हैं एवं उनकी प्रकृति अपने आप में सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त भिन्नता तथा क्रम की व्याख्या कर देती है। चार्वाक कार्य से भिन्न कारण की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उसके अनुसार दो वस्तुओं को एक साथ देखने से एक को दूसरे का कारण नहीं कहा जा सकता। क्या हम अग्नि और धूम (धुंआ) को साथ–साथ देख कर वास्तव में यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अग्नि धूम कारण है? प्रश्न है कि क्या हम तार्किक रूप से कह सकते हैं कि जहाँ धूम है वहीं अग्नि है तथा मेरे जन्म के पहले भूत में ऐसा ही था और भविष्य में भी, जब मैं नहीं होउंगा, यह सत्य रहेगा? यद्यपि, इस सम्प्रदाय के विषय में हमारी जानकारी अत्यंत अल्प है। इस दर्शन का अन्य दार्शनिकों ने जो खण्डन किया है उसी के आधार पर इसकी रूपरेखा कुछ उभर कर सामने आती है, तथापि, माधवाचार्य (विद्यारण्य स्वामी) के *सर्वदर्शनसंग्रह* नामक ग्रंथ में इस दर्शन पर एक अध्याय लिखा गया है लेकिन वह भी अत्यंत अल्प है तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारियों से अधिक नहीं है। चार्वाक को लोकायत भी कहा जाता है जिसका तात्पर्य है कि यह दर्शन स्वयं को सामान्य बुद्धि तक सीमित करता है। चूंकि अधिकांश दर्शन चार्वाक दर्शन को इसके भौतिकवादी सिद्धान्तों की आलोचना के क्रम में ही संदर्भित करते हैं। इसलिए यह सम्भव है कि ये दर्शन चार्वाक दर्शन के दोषों का अतिरंजन कर रहे हों और/अथवा भ्रमपूर्ण वर्णन।

14.2 चार्वाक की तत्वमीमांसा

भाववादी होने के कारण चार्वाक का दावा है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इसलिए चार्वाक के लिए केवल प्रत्यक्षात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय है। जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, वह कल्पनात्मक है। इस आधार पर जड़ ही एकमात्र तत्त्व है, और संसार चार तत्त्वों, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से निर्मित है, ये चारों तत्त्व भौतिक हैं और प्रत्यक्षगम्य हैं। आकाश को पृथक् तत्व नहीं माना गया क्योंकि इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। जड़ जगत् का

उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है तथा यह सदा से है और सदा रहेगा। सभी चर–चराचर इसी के विकार है। बृहस्पति का सूत्र 'जड़ से ही जीवन उत्पन्न होता है' अन्तर्निहित करता है कि जड़ परम सत्ता है। *तत्त्वोपप्लवसिंह* में जयराशिभट्ट (वैतण्डिकों में से एक; कुछ विद्वानों का विश्वास है कि वह चार्वाक परम्परा के दार्शनिक थे) लिखते हैं कि प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण है और यह इन्द्रिय–विषय (अर्थ) का सन्निकर्ष है। और प्रत्यक्ष को स्वीकारने का तात्पर्य है कि यहाँ तककि चार तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) की सत्ता सिद्ध न होना, क्योंकि तत्त्व सूक्ष्म प्रकृति के होने के कारण हमारी इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकते हैं।

14.3 चार्वाक की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप

चार्वाक दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। चूँकि शरीर से पृथक् आत्मा नामक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए आत्मा के लिए इस दर्शन में कोई स्थान नहीं है। चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु एक विशेष तरीके से मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं। प्राण और चेतना शरीर के धर्म हैं। शरीर ही आत्मा है तथा शरीर से पृथक नित्य आत्मा का अस्तित्व नहीं है। वियोजन की अवस्था में जड़ के सूक्ष्मतम कण, जोकि जड़ के आधारभूत घटक हैं, में भी प्राण या चेतना नहीं रहते। उस समय, वे प्राणरहित और असंज्ञा की अवस्था में होते हैं। किन्तु, इन तत्त्वों के विशिष्ट एवं पारस्परिक संयोजन प्राण और चेतना को जन्म देता है। इसलिए चेतन शरीर ही आत्मा है। दूसरे शब्दों में चेतना या मन जड़ पदार्थों से उत्पन्न एक उपतत्व है। यह उपतत्व (चेतना) किसी एक तत्व के गुण का परिणाम नहीं है बल्कि यह बहुत से तत्वों के समुच्चय से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, जिस प्रकार से मादकता का गुण 'जौ' के साथ अन्य पदार्थों को मिलाने से आ जाता है, यद्यपि उन पदार्थों में यह पहले से स्वतंत्र रूप में विद्यमान नहीं रहता है। उसी प्रकार चेतना भी जड़ तत्वों से उत्पन्न होती है। *सर्वसिद्धांतसारसंग्रह* में कहा गया है, "जिस प्रकार पान कत्था और चूने को मिश्रण से लाल रंग उत्पन्न होता है। उसी प्रकार जड़ तत्वों के मिश्रण से चेतना की उत्पत्ति होती है।" विचार जड़ द्रव्य का कार्य है। चेतना शरीर का धर्म है इसलिए मरने के बाद चेतना लुप्त हो जाती है तथा जड़ तत्त्व अपनी तरह के जड़ तत्त्व में मिल जाते हैं, केवल राख और धूल शेष रह जाती है। पुनर्जन्म और कर्म फल आदि अर्थहीन शब्द हैं।

चार्वाक अपने मत को इस प्रकार से स्पष्ट करते हैं। हम यह मानते हैं कि 'मैं' या 'अहं' के माध्यम से चेतना का कर्तृ, भोक्तृ और दृष्टृ के रूप में परिचय मिलता है। चार्वाक के अनुसार 'मैं' शरीर को ही कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा, के रूप में प्रदर्शित करता है। हम कहते हैं 'मैं जवान हूँ' 'मैं मोटा हूँ' 'मैं प्रौढ़ हूँ' आदि, इन कथनों से यही प्रतीत होता है कि शरीर ही आत्मा है। दोनों के पृथक् अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। जब हम कहते हैं कि 'मैं लिख रहा हूँ' तो इसमें आत्मा का कर्ता के रूप में परिचय मिलता है। यदि लिखते समय कोई व्यक्ति घर में है तब आत्मा का परिचय उस घर में होता है। जब हम कहते हैं कि 'मैं घर में हूँ' तो इसका अर्थ यही होता है कि शरीर घर में है। जब मैं यह कहता हूँ कि 'मैं चन्द्रमा को अपने कमरे से देख रहा हूँ' तो यहाँ पर हमें 'मैं' का परिचय दृष्टा के रूप में तथा कमरे में होता है। यहाँ पर भी 'मैं' शरीर से पृथक् दृष्टा नहीं है तथा वही शरीर घर में भी है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'मैं गड्ढे में गिर गया और मुझे बड़ा कष्ट हुआ' तो यहाँ पर 'मैं' का ज्ञान भोक्ता के रूप में होता है और यहाँ भी इसका अर्थ शरीर ही होता है। इसलिए शरीर ही आत्मा है। चार्वाक 'मैं' के विभिन्न अर्थों का विलोपन करते हुए शरीर को आत्मारूप मानते हैं।

इस विषय पर बाद में चार्वाक दर्शन में तीन और मत आये। प्रथम मत के अनुसार, चेतना इन्द्रियों के कारण सत्तावान होती हैं। द्वितीय मत के अनुसार, 'प्राण शक्ति' कर्तृपन (चेतना) है तथा तृतीय मत के अनुसार ज्ञाता होने के कारण मन ही चेतना है। यद्यपि प्राण और मन को शरीर से पृथक् मानते हुए भी, उनका शरीर से पृथक् अस्तित्व नहीं माना गया है।

चार्वाक का यह मत कि शरीर ही आत्म है ने स्वाभाविक रूप से पुरजोर विवाद उत्पन्न किया। चूँकि अन्य सभी दर्शनों में आत्मा को विशेष स्थान प्राप्त है इसलिए उन सभी ने चार्वाक मत का पुरजोर खण्डन किया। चार्वाक के विरूद्ध उन्होंने अग्रलिखित युक्तियां प्रस्तुत कीं। सर्वप्रथम, उनके अनुसार यदि चेतना शरीर का धर्म है तो यह या तो अनिवार्य धर्म होगा या फिर आगुन्तक। यदि यह (चेतना) अनिवार्य धर्म है तो चेतना को शरीर से पृथक् नहीं किया जा सकता।

तब शरीर की समाप्ति के साथ ही इसका भी अंत हो जाएगा। लेकिन हम देखते हैं कि मूर्छा की अवस्था में और स्वप्नहीन निद्रा में चेतना शरीर से पृथक हो जाती है। अब, यदि यह आगन्तुक धर्म है तो चेतना को उत्पन्न करने वाली कोई उपाधि या अभिकरण अवश्य होना चाहिए। ऐसी स्थिति में चेतना को पूर्णतः शरीर का धर्म नहीं कहा जा सकता। पुनः जब कोई व्यक्ति स्वप्न से जागता है तो वह अपने शरीर को ही अपना कहता है न कि सपने में धारण किये गये किसी अन्य शरीर जैसे शेर आदि, के शरीर को। अतः अधिकांश विद्व ानों का मत है कि यह मान भी लिया जाए कि चेतना सदैव भौतिक शरीर से जुड़ी रहती है तो भी हम यह नहीं कह सकते कि प्राणी के मरने के साथ ही चेतना भी नष्ट हो जाती है। यह किसी अन्य ढंग से निरंतर बनी रह सकती है। माना यह स्थिति सिद्ध नहीं की जा सकती परंतु चार्वाक के मत में संदेह होना ही उसके मत के निषेध के लिए पर्याप्त है। पुनः यदि चेतना का जुड़ाव शरीर के साथ स्थाई मान भी लिया जाये तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि चेतना शरीर का धर्म है। उदाहरण के लिए, आँख पूर्ण अंधेरे में देखने में असमर्थ होती है लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि नेत्रीय प्रत्यक्ष प्रकाश का धर्म है। इसी प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि शरीर चेतना के व्यक्त होने के लिए एक माध्यम है। एक दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण युक्ति यह है कि हम बाह्य इन्द्रियों से दूसरे का केवल शरीर देखते हैं लेकिन उसके मन के भावों विचारों, सुख–दुःख आदि को नहीं देखते हैं, ये केवल उसी व्यक्ति को ज्ञात होते हैं। यदि चेतना शरीर का धर्म होती तब अन्य व्यक्ति के मनोभावों सुख–दुःख आदि का साक्षात् ज्ञान दूसरों को भी हो जाता लेकिन ऐसा नहीं होता। अतः शरीर दूसरे के द्वारा भी जाना जा सकता है लेकिन चैतन्यगत धर्म के बोध के लिए स्वचेतना को पृथक् मानना आवश्यक है। एक दूसरे उदाहरण से भी इस समझा जा सकता है कि बीमार का दाँत दर्द दाँत के डाक्टर की दृष्टि से बीमार व्यक्ति का है न ही उसका स्वयं का। चार्वाक के विरोधी इससे निष्कर्ष निकालते हैं चेतना भौतिक शरीर का गुण नहीं है बल्कि किसी और का धर्म या गुण है अथवा यह (चेतना) एक स्वतन्त्र तत्त्व है जिसकी अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से होती है।

14.4 ईश्वर अथवा किसी परासत्ता (प्रत्ययगोचर) का निषेध

चूँकि यह सम्प्रदाय प्रत्यक्ष ज्ञान में विश्वास करता है। अतः यह किसी भी परासत्ता का निषेध करता है। यह न तो ईश्वर को मानता है और न ही किसी ऐसे अंतःकरण को जो मनुष्य का पथ प्रदर्शक है। भारतीय दर्शन के अन्य सभी सम्प्रदाय नैतिकता एवं एक ऐसा जीवन मार्ग जिसमें मृत्यु के बाद जीवन के लिये पर्याप्त स्थान है को स्वीकार करते हैं। लेकिन

चार्वाक ऐसे किसी भी जीवन का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि मृत्यु के बाद कोई जीवन नहीं होता जिसमें अच्छे कार्य का पुरस्कार मिलता है और बुरे कर्म अधिक के लिए दंड मिलता है। चार्वाक केवल इन्द्रिय सुख में विश्वास करते हैं और उच्च नैतिक जीवन का निषेध करते है। उनके अनुसार, प्रकृति साधु व असाधु के मध्य भेद नहीं करती। सूर्य साधु और असाधु पर समान किरणें डालता है। चार्वाक मानते हैं कि मनुष्य कमजोरीवश ईश्वर को मानते हैं। वास्तव में, कोई स्वर्ग और नरक नहीं हैं केवल यही जगत् है जहाँ हम रहते हैं।

चार्वाक किसी भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते। यदि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और करूणामय है, तो अपने अस्तित्व के विषय में जीवों के अज्ञान को क्यों नहीं दूर कर देता? ईश्वर पुण्य और पाप का न्यायाधीश भी नहीं है। यदि वह न्यायाधीश हो तो वह पक्षपात ओर निर्दयता के आरोप से नहीं बच सकता। इसलिए चार्वाक कहते हैं कि निर्दयी ईश्वर को मानने से अच्छा है उसे न मानना। कोई भीजगत् का सर्वोच्च शासक नहीं है। पृथ्वी का देवता राजा है। जो राज्य का संचालन करता है और साधु और असाधु को समाज में सही और गलत का निर्णायक है।

14.5 चार्वाक की ज्ञान मीमांसा

चार्वाक के अनुसार, ज्ञान का आश्रय शरीर है। वे इस विचार को 'उपस्थित में उपस्थित और अनुपस्थित में अनुपस्थित' के नियम से सिद्ध करते हैं। हम देखते हैं कि शरीर के रहने पर ही ज्ञान रहता है और नहीं रहने पर नहीं रहता है। ठीक वैसे ही जैस फूल का रंग तभी तक रहता है जब तक फूल रहता है। कोई भी व्यक्ति इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकता कि जब तक इन्द्रियां रहती हैं तभी तक ज्ञान भी रहता है तथा जब इन्द्रियां नहीं रहती हैं तो ज्ञान भी नहीं रहता है। अतः अन्वय–व्यतिरेक (उपस्थित और अनुपस्थित के मध्य सहमति) से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का आश्रय इन्द्रियां हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'उपस्थित में उपस्थित और अनुपस्थित में अनुपस्थित' को युक्ति की तरह नहीं लेते। चूँकि चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानते हैं इसलिए यहीं इस नियम का सहारा लेना चार्वाक की दृष्टि से अनुमान नहीं है अपितु प्रत्यक्ष ही है।

चूँकि चार्वाक के अनुसार इन्द्रियां पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, जैसे भौतिक तत्वों से निर्मित हैं इसलिए इन्द्रिय चैतन्यवाद का एक दूसरा नाम भूतचैतन्यवाद भी है। इस मत के खण्डन के लिए प्रतिपक्षी यह तर्क देते हैं कि वृद्धावस्था में हम बचपन की बातों का स्मरण करते हैं। लेकिन भूतचैतन्यवाद को स्वीकारने पर इस तथ्य (पुनः स्मरण) की व्याख्या नहीं हो सकती है। पुनर्स्मरण का कारण चेतना में संचित पूर्व के संवेदन (संस्कार) हैं। लेकिन भूतचैतन्यवाद में संस्कार (संवेदन) इन्द्रियों में अवस्थित हो सकते हैं और जड़ के परमाणुओं (भौतिक परमाणुओं) के नष्ट (लय) होने के कारण लड़कपन के इन्द्रिय बुढ़ापे में वर्तमान नहीं (अस्तित्व में नहीं हैं)। अतः इन्द्रियों में अवस्थित संस्कार भी नष्ट हो जाने चाहिए। किन्तु चार्वाक के मत में इस आपत्ति का उत्तर दिया जा सकता है। प्रथमतः, चार्वाक कार्य–कारण सम्बन्ध में विश्वास नहीं करते हैं। अतः इस आपत्ति के लिए उनका उत्तर होगा कि जिसका प्रत्यक्षगत अनुभव नहीं हुआ है उसे स्वीकारा नहीं जा सकता है (उस अनुभव की सत्यता नहीं स्वीकारी जा सकती है)। इसलिए, चार्वाक के मतानुसार, संस्कार पुनर्स्मरण का कारण नहीं है। पुनर्स्मरण का विषय पूर्व में प्रत्यक्ष वस्तु है। अतः अज्ञात वस्तु प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। स्वभाव (प्रकृति) की विशिष्टता के कारण, विभिन्न स्थान

(दिक) और समय (काल) में विभिन्न रूपों के साथ विभिन्न वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। इसके लिए कोई कारण स्वीकारने की आवष्यता नहीं है।

14.6 ज्ञान के विषय में चार्वाक की दृष्टि

चार्वाक के अनुसार ज्ञान अधिक दो भागों में विभक्त है; अनुभव और स्मरण। अनुभव को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है; प्रत्यक्ष और कल्पना। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो पंच ज्ञानेन्द्रियों– नेत्र, जिव्हा, नासिका, कर्ण (कान) और त्वचा (स्पर्श) के द्वारा होता है, जिनसे क्रमशः रंग, स्वाद, गंध, स्पर्श और ध्वनि का ज्ञान होता है। वैध ज्ञान (प्रमाण) वह ज्ञान होता है जिसे भविष्य में किसी अन्य ज्ञान के द्वारा खण्डित नहीं किया जा सके। अकेली इन्द्रियाँ ही वैध ज्ञान के साधन हैं। इस प्रकार चार्वाक का मानना है कि अन्य तरह का ज्ञान, जैसे अनुमान और शब्द अवैध (अयथार्थ) हैं। प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य ज्ञान के रूप अयथार्थ हैं, अतः वे सभी कल्पना की प्रकृति वाले हैं। चार्वाक ने अनुमान और शब्द प्रमाण की अप्रमाणिकता के लिए निम्न प्रकार से तर्क प्रस्तुत किए हैं:

चार्वाक के अनुसार, अनुमान वह प्रक्रिया है जहाँ हम किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता या असत्यता का दावा अन्य प्रतिज्ञप्ति के आधार पर करते हैं। अनुमान निगमनात्मक या आगमनात्मक हो सकता है, लेकिन चार्वाक ने अनुमान खण्डन किया है और इसलिए अनुमान के इन भेदों का चार्वाक के दर्शन में कोई स्थान नहीं है। जहाँ तक ज्ञान की समस्या है, चार्वाक के अनुसार अनुमान के निगमन और आगमन रूप एक दूसरे से अविभाज्यतः गुंथे हुए हैं। चार्वाक के अनुसार निगमन कुछ इस तरह का है–

सभी मनुष्य मरणशील हैं।

सुकरात मनुष्य है।

'इसलिए सुकरात मरणशील है' को नहीं स्वीकारा जा सकता है। जब तक हम यह नहीं जानते हैं कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' और 'सुकरात मनुष्य है' सत्य है, तक हम यह नहीं कह सकते कि 'सुकरात मरणशील हैं'। आगमन में, सार्वभौमिक प्रतिज्ञप्ति विशेष प्रतिज्ञप्तियों के आधार पर प्रमाणित की जाती है। हमने केवल व्यक्ति–विशेषों अ, ब, स को मरते हुए देखा और उसके आधार पर निष्कर्ष निकाला कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। चार्वाक के अनुसार, यह अंधेरे में कूदने जैसा है। सार्वभौमिक प्रतिज्ञप्ति अवांछनीय है, क्योंकि यहाँ पर हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि अब तक देखे गये सभी मनुष्य मरणशील हैं। सार्वभौम निष्कर्ष निकालने का तात्पर्य है यह मानना कि भविष्य भूतकाल के समान होगा। लेकिन हमारे अनुभव में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे सार्वभौम निष्कर्ष निगमित हो। अतः अनुमित प्रतिज्ञप्ति 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' प्रमाणिक ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि यह प्रतिज्ञप्ति ही विश्वसनीय (प्रमाणित) नहीं है तो निगमनात्मक अनुमान के लिए कोई चारा नहीं है। निगमनात्मक अनुमान के विरुद्ध, चार्वाक का दूसरा आक्षेप है कि यह 'चक्रक दोष' से ग्रसित है। जब हम कहते हैं कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' तो उसमें (मानव होने के कारण) 'सुकरात मरणशील है' सम्मिलित है। अतः प्रतिज्ञप्ति 'सुकरात मरणशील है' हमें मूल प्रतिज्ञप्ति (सभी मनुशय मरणशील हैं) से भिन्न कोई नया ज्ञान प्रदान नहीं करती है।

चार्वाक की इस आलोचना के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' का निश्चय इस आधार पर किया जाता है कि मनुष्य और मरणशीलता के मध्य में

व्याप्ति (अविनाभाव साहचर्य) सम्बन्ध है। एक अन्य उदाहरण लेते हैं, हम यह कह सकते हैं कि "जहाँ धुंआ है, वहाँ आग है।" क्योंकि धुंआ और आग के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध है। लेकिन चार्वाक व्याप्ति स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि यह प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष योग्य सभी दृष्टांतों से परे है। सार्वभौम सत्यों का सत्यापन इसलिए संभव नहीं हो सकता क्योंकि उनका मूल प्रत्यक्षगम्य अनुभवों में नहीं है। हमारे अनुभव में ऐसा कोई आधार नहीं है जिससे हम सीमित प्रत्यक्षगत प्रसंगों से असीमित एवम् अप्रतिबन्धित सार्वभौमिक सामान्यीकरण कर सकें। अनुमान के विरूद्ध चार्वाक के तर्कों की परीक्षा के लिए और अधिक विचार करना आवश्यक है जिससे यह सिद्ध हो सके कि क्या अनुमान का पूर्णतः परिहार हो सकता है। यह स्पष्ट है कि अनुमान हमारे रोजमर्रा के ज्ञान का एक साधन है। उदाहरण के लिए, अपने सिद्धांत को समझाने के लिए जड़वादी भी भाषा का ही प्रयोग करेगा। भाषा ध्वनि का (शब्दपूर्वक) उच्चारण है। श्रोता जड़वादी द्वारा कहे गए अर्थ एवं विषय–सामग्री का (शब्दमय) ध्वनि से अनुमान करता है। यह तभी सम्भव है जब श्रोता शब्दों के अर्थ के लिए अपनी स्मृति पर विश्वास करता है। अतः चार्वाक सैद्धान्तिक रूप से ही अनुमान को नकार सकते हैं, लेकिन दैनन्दिन जीवन में समाज में अनुमान का प्रयोग किए बिना नहीं रह सकते हैं।

पुनः, चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को इसलिए प्रमाण मानते हैं क्योंकि हम पाते हैं कि अधिकांश मामलों में प्रत्यक्ष सदैव प्रमाणिक ज्ञान देता है। अब, हम स्वीकार कर लेते हैं कि प्रत्यक्ष विश्वसनीय स्रोत है, लेकिन हमारे पास यह कहने का क्या आधार है कि केवल प्रत्यक्ष ही ज्ञान का विश्वसनीय स्रोत है। चार्वाक के प्रत्यक्षसम्बन्धी विचार की सांख्य दर्शन सबसे अच्छे ढंग से आलोचना करता है। यह कहता है कि अनुमान का निषेध करने वाला कोई व्यक्ति कैसे किसी अन्य व्यक्ति के अज्ञान या संदेह या भ्रम को जान सकता है। किसी व्यक्ति में अज्ञान, संदेह और भ्रम को प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता है। व्यक्ति के व्यवहार या बातचीत से इनका अनुमान किया जा सकता है। अब हम चार्वाक कृत शब्द–प्रमाण के खण्डन पर विचार करते हैं। उनके अनुसार शब्द तभी प्रमाण हो सकता है जब वक्ता ईमानदार एवं विश्वसनीय हो। लेकिन हम यह कैसे जान सकते हैं कि वक्ता ईमानदार और विश्वसनीय है और यदि कोई ईमानदार है तो वह भविष्य में भी सदैव ईमानदार बना रहेगा? अतः, चार्वाक के अनुसार, शब्द प्रमाण नहीं है। इस प्रकार, चार्वाक के लिए शाब्दिक ज्ञान कल्पना का ही एक रूप है क्योंकि हम इस पर तभी विश्वास किया जा सकता है जब इसे प्रत्यक्षतः जान लिया जाए।

जहाँ तक शब्द–प्रमाण का सवाल है, चार्वाक वैदिक कथनों की प्रामाणिकता के खण्डन के लिए अधिक इच्छुक थे। इसलिए उसने वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन कड़े शब्दों में किया। उसके अनुसार वैदिक कथनों में तीन दोष हैं– असत्यता, आत्म–व्याघात और पुनरुक्तता। वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान ब्राह्मणों के जीविकोपार्जन का साधन मात्र हैं, उनमें कोई वैधता या सत्य नहीं है। अश्वमेध यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति की बात कही गयी है लेकिन आज तक किसी को पता नहीं है कि स्वर्ग जैसी जगह होती भी है जहाँ मृत्यु के बाद व्यक्ति जाता है। चूंकि स्वर्ग जीवन रहते किसी को आज तक नहीं मिला इसलिए यह संदेहास्पद है कि कभी किसी को मरने के बाद स्वर्ग मिलेगा। इसी प्रकार पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ किया जाता है। इसे भी सत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। कुछ मामलों में इस यज्ञ के पश्चात कभी पुत्र होता भी है तो उसका कारण यज्ञ न होकर कुछ अन्य होता है। यह यह निश्चित है कि प्रत्येक यज्ञकर्ता पुत्र प्राप्त नहीं करता है। इन कथनों को अर्थ प्रदान करने के संदर्भ में पारम्परिक उक्तियां (ऐतिह्य) कहा जा सकता है;

न कि प्रमाण। किसी भी कथन की सत्यता उसके द्वारा संदर्भित वस्तु की प्रत्यक्ष उपलब्धि से सिद्ध होती है। वेदों द्वारा व्यक्त सत्यों का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। अतः वेदों, जो अतीन्द्रिय सत्ताओं के बारे में बताते हैं, उनकी सत्यता को किसी भी प्रकार से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। चार्वाक का मानना है कि कोई भी कथन स्वतः प्रमाण्य नहीं होता है।

अनुमान और शब्द–प्रमाण की अवैधतता दिखलाने के पश्चात् चार्वाक–दार्शनिक मीमांसा दर्शन के द्वारा स्वीकृत ज्ञान के अन्य प्रमाणों के सन्दर्भ में दिखलाते हैं कि वे भी अवैध हैं। वे कहते हैं कि अर्थापत्ति के द्वारा प्राप्त ज्ञान कल्पना की श्रेणी का ज्ञान है। अर्थापत्ति उन्हीं के लिये ज्ञान का प्रमाण हो सकता है जो पहले से यह जानते रहे हों कि कुछ निश्चित स्वीकृत अर्थों को किन्हीं अन्य दूसरे माध्यम से अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। ऐसे मामलों में स्वयं ज्ञाता को पता होता है कि उसका ज्ञान कल्पित ज्ञान है। यह (ज्ञान), 'मैं कल्पना करता हूँ' के रूपवाला है।

मीमांसकों के अनुसार जब यज्ञ कर्म किया जाता है तो उसके करने वाले को एक अदृष्ट या अपूर्व की प्राप्ति होती है। इस अदृष्ट की सत्ता अर्थापत्ति से सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में यज्ञ–क्रिया थोड़े समय में समाप्त हो जाएगी, परन्तु इससे उत्पन्न धर्म या अपूर्व स्वर्ग–प्राप्ति (इच्छित वस्तु की प्राप्ति) तक समाप्त नहीं होता। इस प्रकार का ज्ञान अर्थापत्ति से प्राप्त है। चार्वाक का प्रश्न है कि क्या इसे वैध कहा जा सकता है। उनका मानना है कि यह ऐतिह्य है, जोकि कोरी कल्पना है।

जहाँ तक अभाव का प्रश्न है इसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से माना जाता है। चार्वाक के मत में अभाव पूर्णतः असत् है। इसलिए, इस मत में, अभाव का ज्ञान कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस प्रकार चार्वाक मत में अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण नहीं स्वीकारे गये हैं। व्याघात से मुक्त प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण है।

चार्वाक मन को पंच ज्ञानेन्द्रियों से पृथक नहीं मानते हैं। न्याय–वैशेषिक दर्शन सुख–दुःख के अनुभव के लिए मन को एक पृथक इन्द्रिय मानता है। चार्वाक के अनुसार, मन नाम की कोई इन्द्रिय नहीं है। अतः कड़े शब्दों में कहें तो मानस–प्रत्यक्ष (संवेदना) नहीं है। वे संवेदना की व्याख्या निम्नांकित प्रकार से करते हैं– त्वचा शरीर के अंदर और बाहर दोनों ओर समानरूप से उपस्थित है। अतः जो त्वचा का भाग आन्तरिक है वही मन या अन्तःइन्द्रिय है। चार्वाक का मत है कि इसी इन्द्रिय के कारण सुख–दुःख का बोध होता है। कई मामलों में सुख या दुःख स्पर्श के एक विशिष्ट प्रकार के अनुभव से उत्पन्न होता है और इसका आश्रय आन्तरिक त्वचा है। दूसरे शब्दों में, सुख एक प्रकार का स्पर्शात्मक बोध है। ठीक उसी प्रकार दुःख भी स्पर्शात्मक बोध है। इसी प्रकार इच्छा और द्वेश भी ज्ञान के प्रकार हैं। जब हम यह महसूस करते हैं कि अमुक साधन हमारी इच्छाओं की पूर्ति करेगा, तो हमारी इच्छा पूर्ति हो जाती हैय जैसे कि इष्ट–साधन से इच्छित फल प्राप्त होता है। जो हमारे लिए हानिप्रद है उसके लिए हम द्वेश करते हैं। इन सब का आधार भी इन्द्रियां ही हैं। इसी प्रकार पुनःस्मरण (प्रत्यभिज्ञा) भी इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है। इसका कारण कभी कोई अज्ञात विषय नहीं होता। बहुत से भौतिक संवेगों के कारण मानव भूतकाल में अनुभूत वस्तुओं का स्मरण करता है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि यह एक सामान्य नियम है, कि एक विशेष प्रकार की वेदना से एक विशेष प्रकार की वस्तु का ही पुनर्स्मरण होगा। यहाँ कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की वेदना बहुत सारे प्रत्ययों पर निर्भर करती है। इसलिए वेदना और अनुस्मरण में किसी प्रकार का कारण–कार्य संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता।

14.7 चार्वाक की भ्रम–विषयक दृष्टि

भ्रम के विषय में चार्वाक असत्ख्याति का आलम्बन लेते हैं। जब शुक्ति (सीप) को रजत (चांदी) के रूप में देखते हैं तो भ्रम होता है। प्रकाश के अभाव और दूरी के चलते शुक्ति के स्थान पर रजत दिखाई देता है जो वास्तव में वहाँ नहीं होता। जैसे चलती हुई ट्रेन में एक आदमी जब बराबर में लगे प्रकाश–स्तंभ और पेड़ को देखता है तो उसे लगता है कि वे समान गति से चल रहे हैं। यहाँ पर केवल सम्बन्ध मिथ्या है विषय नहीं। अर्थात् यहाँ गति ट्रेन से संबंधित है न कि प्रकाश–स्तंभ या पेड़ों से। भ्रमित व्यक्ति गति को वस्तुओं के साथ जोड़कर देखते हैं, जो वास्तविक है परंतु स्थिर है। इसलिए यहाँ केवल सम्बन्ध को गलत ढंग से प्रत्यक्ष किया गया है।

14.8 जीवन–दृष्टि

चार्वाक किसी प्रकार के आध्यात्मिक मूल्य मे विश्वास नहीं करते हैं। वह चार पुरूषार्थों में से दो 'धर्म और मोक्ष' का खण्डन करते हैं। अतः मानव को केवल दो पुरुषार्थों 'अर्थ' और 'काम' के लिए प्रयास करना चाहिए। चार्वाक का मत सुखवादी है। चार्वाक यह जानते हैं कि सुख का दुःख के साथ सम्बन्ध है। लेकिन उनका कहना है कि कोई अनाज को इसलिए नहीं फेंकता है कि इसमें भूसा है, कोई फूल को इसलिए नहीं तोड़ना बंद कर देता है कि उसमें कांटा है, कोई मछली को इसलिए नहीं खाना बंद कर देता है कि इसके हड्डी और कांटे हैं। पत्नी या संतान पृथ्वी पर स्वर्ग रचते हैं, और उनके वियोग से दुःख है। लेकिन जिसके जीवन में प्यार नहीं है, सुख नहीं है, वह सर्वथा दुःखी है और नीरस है। चार्वाक स्वीकारते हैं कि दुःख सर्वत्र है, चाहे राजमहल हो और चाहे भिक्षुक की झोपड़ी। फिर भी यह संसार केवल दुःखों से ओत–प्रोत नहीं है। सुख दुःख से ज्यादा है। यदि ऐसा नहीं होता तो लोग जीने की चाह में मृत्यु से क्यों भयभीत रहते। हमें सुख को अपनाना चाहिए और दुःख को दूर रखना चाहिए। दुःख के भय से सुख को नहीं छोड़ना चाहिए। चार्वाक के अनुसार जीवन का उद्देश्य अधिकतम सुख की प्राप्ति है। यही सच्चा व्यापार है जिससे हम सुखी हो सकते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि चार्वाक का दृष्टिकोण मानवीय सारतत्त्व या लक्ष्य के विरुद्ध है। वे कहते हैं कि धर्म के बिना कोई प्रणाली मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं है। यह सम्भव है कि वे सही हों। लेकिन हम यह सकते हैं कि चार्वाक दर्शन नीति–दर्शन का नया ढंग या नया आधार रचना चाहते हों। चार्वाक पशु–बलि और यज्ञ (इस आधार पर कि यज्ञ किसी की स्वार्थ–सिद्धि के लिए हैं) की निंदा करते हैं। यह निंदा चार्वाक के नीतिमीमांसीय प्रणाली के आधार को समझने में सहायक हो सकती है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत मे दिए गए उत्तरों स अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. चार्वाक का तत्वमीमांसीय मत क्या है?

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

....

....

2. चार्वाक ईश्वर की विवेचना का खण्डन क्यों करते हैं?

....

....

....

....

....

3. चार्वाक के अनुसार भ्रम की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

....

14.9 सारांश

यह कहा जा सकता है कि चार्वाक का जड़वाद प्राचीन काल में प्रचलित सन्यासवाद और संशयवाद के नाम पर अकर्मण्यता से छुटकारा पाने का एक प्रयास था। यह विचारों की स्वतंत्रता को स्थान देता है। जब हम भारतीय दर्शन के इतिहास में स्वतंत्र विचारों की परम्परा का अवलोकन करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है कि क्या वास्तव में चार्वाक ने अनुमान और नीतिशास्त्र को अपने दर्शन में उचित स्थान नहीं दिया। सम्भवतः चार्वाक ने केवल उन्हीं अनुमानों को नकारा जिनके आधार पर अन्य दार्शनिक ईश्वर, आत्म, पुर्नजन्म आदि को स्थापित करते थे। नैतिक मूल्यों की बात करें तो क्या इस पर विश्वास किया जा सकता है कि बृहस्पति जैस उच्च कोटि के गुरु ने कुछ निश्चित आधारभूत मानव मूल्यों को स्वीकार न करते हुए मानव के लिये पाश्विक जीवन का समर्थन किया? हमारा चार्वाक के विषय में ज्ञान उसके विपक्षी दार्शनिकों की सूचनाओं पर आधारित है। जिनका एक मात्र उद्देश्य उसके विचारों को घटिया एवं निम्न स्तर का सिद्ध करना प्रतीत होता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि चार्वाक के विषय में हमारा दृष्टिकोण तटस्थ है। इन परिस्थितियों में, यह सही में एक कौतुहल का विषय है कि क्या चार्वाक ने वास्तव में स्थूल सुखवाद– खाओ पीओ ओर मौज करो को प्रोत्साहित किया था।

14.10 कुंजी शब्द

सुखवाद : यह दर्शन जो यह मानता है सुख एक परम महत्व वाला है और मानव का प्रमुखतम उद्देश्य सुखप्राप्ति है।

व्यंग–चित्र : एक व्यंग–चित्र उस चित्रण को संदर्भित करता है जो आसानी से पहचाने जाने वाली दृश्यात्मक समानताओं को रचने के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु का के सार (प्रकृति) का अतिरंजन या विरूपण करता है।

14.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

कॉवेल इ. बी. ट्रान्स, *माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह.* लंदनः केगेन पाल ट्रेन्च ट्रुबनर एण्ड कम्पनी, 1914.

चटर्जी, सतीशचन्द्र एवं धीरेन्द्रमोहन दत्त. *एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलोसॉफी.* न्यू देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2015.

चट्टोपाध्याय, देबीप्रसाद. *इण्डियन फिलोसॉफीः अ पॉपुलर इन्ट्रोडक्शन.* न्यू देल्हीः पीपल्स पब्लिशिंग हाऊस, 1964.

चट्टोपाध्याय, देबीप्रसाद. *लोकायत.* न्यू देल्हीः पीपल्स पब्लिशिंग हाऊस, 1959.

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* ट्रान्स्लेटिड बाइ कॉवेल, ई. बी. लन्दनः केगन पॉल ट्रेन्च, ट्रुब्नर एण्ड कं., 1914.

राधाकृष्णन् एस. *इण्डियन फिलोसॉफी.* वो. 1. लन्दनः जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लि., 1948.

रंगाचार्य, एम. *सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह.* मद्रासः मद्रास गवर्नमेन्ट प्रेस, 1909.

लेन्ग, एफ.ए., *द हिस्ट्री ऑफ मेटिरियलिज्म.* न्यूयॉर्कः ई. सी. थॉमस प्रेस एण्ड कम्पनी, 1925.

शास्त्री, डी.आर. *ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मैटियलिज्मः संसेशनलिज्म एंड हिडोनिज्म.* कलकत्ताः कलकत्ता बुक कम्पनी, 1930

संघवी, सुखलालजी, पारिख रसिकलाल सी. (ए.) *तत्त्वोपप्लवसिंह ऑफ श्री जयराशि भट्ट.* एडिटिड विद् एन इन्ट्रोडक्शन एण्ड इन्डिसेज. गायकवाड़ ऑरियन्टल सीरीज 87, ऑरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा 1940, रिप्रिन्टिड बौद्ध भारती सीरीज 20, वाराणसी 1987.

हिरियण्णा, एम. *आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलोसॉफी.* लन्दनः जार्ज एलन एण्ड अनविन लि., 1932.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

जयराशिभट्ट. *तत्त्वोपप्लवसिंह.* अनुवाद– काशीनाथ न्यौपाने एवं अम्बिकादत्त शर्मा. दिल्लीः डी के प्रिंट वर्ल्ड, 2015.

झा, आनन्द. चार्वाक दर्शन. लखनऊः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2013.

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

14.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. लोकयादी होने के कारण चार्वाक यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इसलिए जो भी दिखाई देता है वही ज्ञान का विषय है, जो नहीं दिखाई देता है वह कल्पना है। अंतः जड़ की एकमात्र तत्व है तथा जगत् चार जड़ तत्वों; पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से बना है। ये आकाश को पंचम भूत नहीं मानते हैं। जडं तत्व वस्तु जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है। जड़ सदा से विद्यमान है एवं सदा विद्यमान रहेगा।

2. चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। चार्वाक किसी परासत्ता को नहीं मानते हैं। ये न तो सृष्टिकर्ता ईश्वर को मानते हैं और न ही किसी ऐसी अंतः चेतना को मानते हैं जो समस्त मनुष्यों की पथ प्रदर्शक है। भारतीय दर्शन के अन्य सभी सम्प्रदाय पुनर्जन्म तथा मृत्यु के बाद के जीवन को मानते हैं। लेकिन चार्वाक मृत्यु के बाद किसी ऐसे जीवन का खण्डन करते हैं जहाँ मनुष्य को शुभ कर्मों के लिए पुरस्कृत तथा अशुभ कर्मों के लिए दण्डित किया जाता है। चार्वाक उच्च आध्यात्मिक जीवन का खण्डन करते हैं तथा कहते हैं कि मानव इस जगत् में इन्द्रिय सुख भोगने के लिए है। उनका कहना है कि प्रकृति शुभ ओर अशुभ में भेद नहीं करती है। सूर्य शुभकर्ता और अशुभ कर्ता दोनों पर एक समान प्रकाश डालता है। चार्वाक कहते हैं कि मनुष्य देवताओं में अपनी दुर्बलता के कारण विश्वास करता है। स्वर्ग–नरक नहीं है, मात्र यही जगत् है जहाँ हम रहते हैं।

3. चार्वाक भ्रमात्मक ज्ञान को असत् ख्याति के आधार पर स्पष्ट करते हैं। असत् ख्याति में शुक्ति का रजत के रूप में भ्रामक ज्ञान होता है एवं यही भ्रम है। अपर्याप्त प्रकाश ओर अपर्याप्त दूरी के कारण असत् वस्तु सत् प्रतीत होती है। परंतु भ्रम के कुछ अन्य मामलों में जो दिखता है वह असत् नहीं होता है। जैसे कोई मनुष्य यदि चलती ट्रेन में हैं तो उसे बाहर स्थित प्रकाश–स्तम्भ असत् नहीं होता है। जैसे कोई मनुष्य यदि चलती ट्रेन में है तो उसे बाहर स्थिर प्रकाश–स्तम्भ और पेड़ भी समान गति से चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। यहाँ अकेला सम्बन्ध ही भ्रमात्मक होता है वस्तु भ्रमात्मक नहीं होती। गति का संबंध ट्रेन से होता है, वस्तु और पेड़ से नहीं। जो मनुष्य भ्रम में है वह गति को उन वस्तुओं से जोड़कर देखता है जो स्थिर हैं। अतः यहाँ पर केवल सम्बन्ध का ही भ्रमात्मक प्रत्यक्ष है।

इकाई 15 जैन दर्शन[15]

रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 परिचय

15.2 तत्वमीमांसा

15.3 जैन प्रमाण मीमांसा

15.4 प्रमाण

15.5 सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष

15.6 अनुमान

15.7 आगम (श्रुत ज्ञान)

15.8 जैन आचार दर्शन

15.9 सारांश

15.10 कुंजी शब्द

15.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

15.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

नास्तिक दर्शनों में जैन दर्शन अत्यंत प्राचीन है। इसके प्रवर्त्तक वर्धमान (महावीर) थे। यह दर्शन जगत् की यर्थाथता में विश्वास करता है। इस दर्शन का स्थान अद्वितीय है। यह जीवन को जीने के लिए एक नया मार्ग बताता है तथा ऐसे मार्गों को भी बताता है जिससे जीवन की समस्याओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

इस इकाई के अंत में आप जैन दर्शन के निम्नांकित तथ्यों से अवगत होंगे:

- इस दार्शनिक तन्त्र की तत्वमीमांसीय और प्रमाणमीमांसीय स्थितियों में भेद से
- ज्ञान के विभिन्न स्त्रोतों से
- अनुमान और शब्दों से
- आचार दर्शन से

* प्रो. सुधा गोपीनाथ, कोरामंगला, बैंग्लोर, अनुवाद– प्रो. ए के राई, बीएचयू, वाराणसी

15.1 परिचय

जैन दर्शन नास्तिक दर्शनों में सबसे पुराना है तथा वेदों की शिक्षाओं का खण्डन करता है। 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है– विजयी, अर्थात जिसने अपनी इच्छाओं और भावनाओं पर विजय प्राप्त कर ली हो। इस दर्शन का प्रारम्भ उत्तर वैदिक युग में हुआ तथा वर्धमान, जिनको महावीर भी कहा जाता है, ने छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में इसे समृद्ध किया। वर्धमान अन्तिम तीर्थंकर थे। वर्धमान के पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। इस परम्परा का प्रारम्भ ऋषभदेव से माना जाता है।

वर्धमान का जन्म उत्तरी बिहार एक राजपरिवार में 540 ईसा पूर्व में हुआ था। तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने भौतिक सुख–सुविधाओं का त्याग करके कठोर तप किया। तेरह वर्ष के कठोर तप के बाद उन्हें 'जिनत्व' की प्राप्ति हुई। इस जिन या विजयी शब्द से जैन दर्शन की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार महावीर जैन परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर बने।

जैन दर्शन, बौद्ध और चार्वाक की तरह, वेदों के प्रमाण में विश्वास नहीं करता है। ये तीनों नास्तिक दर्शन इस अर्थ में भी समान हैं कि ये एक परम ईश्वर में विश्वास नहीं करते लेकिन जैन दर्शन, चार्वाक और बौद्ध दर्शन की तरह, अनात्मवादी नहीं है। यह शाश्वत सत्ताओं जैसे जीव और जड़ तत्व मे विश्वास करता है और इस कारण से यह ब्राह्मण परम्परा और बौद्ध परम्परा के मध्य सेतु का कार्य करता है।

15.2 तत्त्वमीमांसा

जैन दर्शन का विशेष गुण यह है कि यह नित्य स्वतन्त्र तत्त्वों में विश्वास करता है जिन्हें जीव और अजीव कहा जाता है। यहाँ जीव का अर्थ प्राणियों की आत्मा (जीवात्मा) से है, सर्वव्यापक आत्मा से नहीं (जैसा कि उपनिषदों में बताया गया है)। जैन दर्शन के अनुसार, जीव अनेक हैं और अनेक जड़ वस्तुओं में भी आत्मा पाई जाती है। जैन धर्म का सबसे कौतुहलपूर्ण विचार यह है कि जीव का आकार परिवर्तनशील होता है। जिस प्रकार का शरीर होता है उसी प्रकार का जीव का आकार हो जाता है। अतः इसमें संकुचन और विस्तार की क्षमता होती है। जीवों की गणना व्यवहारतः एक इन्द्रिय, द्विन्द्रिय और आगे इसी ढंग के आधार पर की जाती है। जैनों के अनुसार जीव भोक्ता तथा कर्ता है। जीव का स्वरूपधर्म अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य है, लेकिन वे ढंके होते हैं, पर नष्ट नहीं होते (जीव को बन्धन के कारण अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है)। जीवों के स्तर का निर्धारण जड़तत्त्व (पुद्गल) के साथ उनके सम्बन्धों के आधार पर होता है। जैन दर्शन में कर्म को भी जड़ का सूक्ष्म रूप माना गया है और इसकी उपस्थिति जीव के बंधन के कारणरूप में स्वीकार की गयी है।

चेतना, जैन मत के अनुसार, जीव का लक्षण (सार; स्वरूपधर्म) है। अजैविकीय शरीर में, चेतना का स्वरूप सुप्त रहता है जबकि जैविकीय शरीर में यह क्रियाशील रहता है। ज्ञान जीव का गुण है तथा जीव प्रत्यक्ष, भावना इत्यादि का अनुभव करता है। जैन आत्मा के अस्तित्व को अहंप्रत्यय के आधार पर सिद्ध करते हैं। जब हम कहते हैं कि 'मैंने किया था, मैं कर रहा हूँ और मैं करूंगा, तो इसमें अहं प्रत्ययात्मक चेतना प्रदर्शित होती है। जैन दर्शन के अनुसार सन्देह करने के लिए सन्देहकर्ता की मान्यता आवश्यक है। सन्देहकर्ता जीव या आत्मा है। पुनः जैन दर्शन कहता है कि चेतना जड़ शरीर का लक्षण नहीं हो सकती

क्योंकि जड़ में आकार और रूप होता है तथा पौद्गलिक रूप में इसमें संकल्प एवं संवेदना आदि रहते हैं। इसी प्रकार, जड़ शरीर चेतना का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि सुप्तावस्था में और मृत्यु के समय शरीर के रहने पर भी प्रत्यक्ष, स्मृति इत्यादि का अभाव होता है।

जीव के जड़ से सम्बन्ध के आधार पर जैनों के ज्ञान सम्बन्धी विचार की व्याख्या होती है। ज्ञान जीव का लक्षण नहीं बल्कि सार है। यह मात्र एक गुण नहीं है। अतः यदि मार्ग में कोई बाधा नहीं हो तो जीव किसी वस्तु का बिना किसी माध्यम के साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, सभी ज्ञान जीव में है लेकिन इसका उद्घाटन तभी होता है जब बाधक तत्त्व का लोप हो जाता है। जीव का ज्ञान अपूर्ण अथवा आंशिक होता है क्योंकि कर्म बाधा उत्पन्न करते हैं, जिससे जीव के प्रत्यक्ष करने की शक्ति में हस्तक्षेप होता है। उन्हीं के कारण प्रत्यक्ष पूर्ण ज्ञान नहीं देता है। वासना, भावना आदि इसमें बाधक तत्त्व हैं। जैन, इस प्रकार, प्रबोधन की मात्रा में अंतर को स्वीकार करते हैं। इसका निर्धारण कर्म–मलों के शिथिल से होने से होता है। जीव मुक्तावस्था के जितना ही समीप होता है उतना ही उसके कर्मबन्धन शिथिल रहते हैं। लेकिन किसी भी जीव में ज्ञान अनुपस्थित नहीं रहता है। ज्ञान के बिना जीव नहीं होता है ओर जीव के बिना ज्ञान नहीं होता है। पूर्ण मोक्ष की अवस्था में सारे बाधक तत्त्व विनष्ट हो जाते हैं। यह 'केवल–ज्ञान' की अवस्था है जहाँ व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है। यह शुद्ध ज्ञान है। यह साक्षात ज्ञान है। यह इन्द्रिय, मन इत्यादि की सहायता के बिना प्राप्त किया जाता है। अतः, जैन दर्शन के अनुसार, इन्द्रिय और मन ज्ञान में व्यावहारिक अथवा अनुभवात्मक दृष्टि से सहायक हैं, लेकिन जड़ात्मक होने के कारण 'केवल ज्ञान' में बाधक हैं।

जैनों की प्रमाण मीमांसा के अनुसार ज्ञान वस्तु को निर्मित नहीं करता है अपितु प्रकाशित करता है। चेतना क्रियाशील रहती है और इस क्रियाशीलता के फलस्वरूप यह जीव के स्वरूप और वस्तु के स्वरूप को उद्घाटित करती है। जैसे प्रकाश अपने को और वस्तु को प्रकाशित करता है ठीक उसी प्रकार ज्ञान की स्थिति है। किसी वस्तु के ज्ञान में जीव स्वयं अपने आप को जानता है। यदि जीव स्वयं को नहीं जाने तो कोई दूसरा उसे स्वयं उसका बोध नहीं करा सकता है।

चैतन्य, जो कि जीव का सार है, की दो अभिव्यक्तियाँ है– 1. दर्शन या अन्तर्बोध 2. ज्ञान। दर्शन में वस्तु का विस्तृत ब्यौरा प्राप्त नहीं होता, जबकि ज्ञान में होता है। दर्शन केवल ग्रहण है जबकि ज्ञान अवधारणात्मक ज्ञान है। अन्तर्बोध में विस्तृत जानकारी नहीं होती किन्तु ज्ञान में होती है। पूर्णता की अवस्था जिसे 'केवल ज्ञान' कहते हैं, में दर्शन और ज्ञान साथ–साथ रहते हैं। यह ज्ञान पूर्ण रूप से संदेह या अनिश्चितता से परे होता है।

जीव के अतिरिक्त जगत् की अन्य चिरस्थायी कोटि है– अजीव। जैनों के अनुसार, जगत् का विभाजन दो नित्य असृजित सहअस्तित्ववान, स्वतंत्र पदार्थों मे किया जा सकता है, जिन्हें जीव और अजीव कहा जाता है। जिसमें चेतना होती है, वह जीव है। जिसमें चेतना नहीं होती, परन्तु जिसका इन्द्रिय–प्रत्यक्ष हो सकता है, वह अजीव है। जीव और अजीव आत्म और अनात्म के समरूप नहीं हैं, बल्कि यह ब्रह्माण्ड की वस्तुओं का वस्तुपरक वर्गीकरण है। इससे जैनों की यथार्थवादी ओर सापेक्षतावादी दृष्टि का परिचय मिलता है। अजीव के अन्तर्गत् पांच तत्त्व आते हैं– पुद्गल (जड़–तत्व), धर्म (गति), अधर्म (स्थिति), आकाश और काल। इसमें काल अनस्तिकाय तथा बाकी सभी अस्तिकाय हैं। जीव से इनका प्रमुख अंतर यह है कि इनमें जीवन और चेतना का अभाव होता है।

पुद्गल जड़ तत्त्व को कहते हैं। इसमें रंग, गन्ध, स्वाद और स्पर्श रहता है। शब्द इसका गुण नहीं है अपितु पर्याय है। जड़ तत्त्व असृजित, अपृथक्करणीय और सत् है। जड़तत्व नित्य है तथा मन से स्वतन्त्र इसकी सत्ता है। पुद्गल की परिभाषा देते हुए यह कहा गया है, "जिसका पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव किया जा सके वह पुद्गल है"। द्वितीय परिभाषा में पुद्गल शब्द की व्युत्पति का सहारा लिया गया है। पुद् का अर्थ 'संयुक्त होना' और गल का अर्थ 'वियुक्त होना है'। जिसमें यह दोनों क्षमता होती है, वह पुद्गल है। यह परिभाषा जैनों के अणुवादी सिद्धांत की तरफ संकेत करती है। 'अणु' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में भी है, परन्तु वहाँ परमाणु सिद्धान्त की व्यवस्थित चर्चा नहीं की गई है। हम कह सकते हैं कि जैनों का परमाणु सिद्धान्त सबसे पुराना है। जड़ का सूक्ष्म रूप अणु अथवा परमाणु के रूप में है। सभी अणु एक ही प्रकार के होते हैं लेकिन उनके द्वारा अनेक प्रकार की वस्तुएं उत्पन्न हो जाती हैं। यहाँ तक कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सभी को अणुओं में विभाजित किया जा सकता है। जिनकी एक संरचना होती है। स्वाद, गन्ध आदि के गुणों के कारण परमाणुओं में विविधता आ जाती है और इस प्रकार जड़ जगत् भी विविध रूपों वाला हो जाता है, परन्तु गुणात्मक रूप से परमाणु एक–दूसरे से भिन्न नहीं होते हैं। इसलिए जड़ तत्त्व के दो रूप हैं– एक 'आण्विक' अथवा सरल ओर दूसरा यौगिक अथवा स्कन्ध। सारी प्रत्यक्षमूलक वस्तुएं स्कन्धात्मक हैं। छः प्रकार के स्कन्धों की गणना की गई है।

स्थूल (भद्र)– स्थूल (भद्र)– इस प्रकार के स्कन्ध में विभाजन हो सकता है लेकिन पुनः उन्हें जोड़ा नहीं जा सकता जैसे– ठोस।

स्थूल (भद्र)– इस प्रकार के स्कन्ध विभाजित होने पर पुनः जुट जाते हैं जैसे द्रव।

स्थूल (भद्र)– सूक्ष्म– इस प्रकार के स्कन्ध प्रतीत होते हैं लेकिन सूक्ष्म होते हैं। इनका न विभाजन किया जा सकता है न इनमें छिद्र किया जा सकता है। जैसे– सूर्य, तत्त्व, छाया, प्रकाश आदि। इनके सूक्ष्म कण इन्द्रियग्राह्य होते हैं।

सूक्ष्म–स्थूल– इस प्रकार के स्कन्ध सूक्ष्म प्रतीत होते हैं लेकिन स्थूल होते हैं जैसे–रंग, रूप और ध्वनि का संवेदन।

सूक्ष्म– इस प्रकार स्कन्ध अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और सामान्यतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष के परे होते हैं। यह इस सूक्ष्म रूप में जड़तत्व ही है जो कर्म को उत्पन्न करता है, जो जीव में प्रवेश करके संसार अथवा बन्धन का कारण बनता है।

सूक्ष्म–सूक्ष्म– ये सूक्ष्म स्कन्ध से भी अधिक सूक्ष्म होते हैं।

इस प्रकार जैनों के आण्विक सिद्धांत से यह स्पष्ट है कि उनका सत् विचार है– एकरूपता और परिवर्तन। जैन मतानुसार परिवर्तनों को भोगना एवं फिर भी स्थिर रहना अस्तित्व की विशेषता है। अस्तित्व का अर्थ है परिवर्तनों के मध्य स्थिर रहना। परिवर्तनशील तत्व को पर्याय कहा जाता है। पर्याय उत्पन्न होते हैं, और कम से कम एक क्षण अस्तित्वमान रहते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं। अस्तित्व आण्विक संयोग के विभिन्न पर्यायों का परिणाम है। सभी परिवर्तनों के मध्य परम् घटक अर्थात परमाणु तद्रूप (तत् रूप; जैसा है उसी रूप में) रहते हैं। इस प्रकार, परमाणुओं मे हम 'एकरूपता के तत्व' को पाते हैं, जबकि अणुओं के रूप में उनके संयोग तथा पुनः परमाणुओं के रूप में विभाग में हम 'परिवर्तन के तत्व' को पाते हैं। सत् का रूप ऐसा है कि उसमें एक स्थाई कारक है जबकि साथ ही साथ परिवर्तन भी है यह परिवर्तन भी वास्तविक है। अतः जैन दर्शन के अनुसार तत्व वास्तव में एकता में अनेकता है।

किसी भी वस्तु के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं तथा यह अनेक परिवर्तनों से गुजरती है। जैसे मिट्टी अनेक आकार ग्रहण कर सकती है। उपनिषदों के अनुसार, क्योंकि सारे परिवर्तनों के बाद भी मिट्टी स्थाई रूप से विद्यमान रहती है। अतः वही एक मात्र सत् है। आकार एवं स्थिति में परिवर्तन अभ्यास मात्र है। इनके स्वरूप को बौद्धिक रूप से नहीं समझाया जा सकता। उपनिषदों के अनुसार, अपरिवर्तनशील पदार्थ ही सत् है और परिवर्तनशील रूप इन्द्रियों के भ्रम मात्र हैं।

दूसरी ओर बौद्ध दर्शन के अनुसार, परिवर्तनशील धर्मों का ही प्रत्यक्ष हो सकता है और इसके पीछे कोई अपरिवर्तनशील तत्व नहीं होता है। बौद्ध दर्शन कहता है कि हम जो मिट्टी के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं वह कोई विशिष्ट गुण अथवा धर्म ही है और हम जो घड़े के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं वह भी कोई गुण अथवा धर्म ही है। बौद्धों के अनुसार, गुण अथवा धर्म यह आशय व्यक्त नहीं करते कि कोई द्रव्य है जिसमें वे रहते हैं। द्रव्यों का हम न तो प्रत्यक्ष कर सकते हैं और न अनुमान ही। उपनिषदों और बौद्धों के मतों के विपरीत, जैन दर्शन का मानना है कि सत् का स्वरूप नित्य और परिवर्तनशील दोनों होता है। जैनों का दावा है कि एक ही सत् में दो परस्पर–व्याघाती लक्षण होते हैं और ऐसा अनुभव–सिद्ध है। इसलिए जैनों के अनुसार, उपनिषद् और बौद्धों के मत में ऐकान्तिक सत्यता है। सभी प्रकार के अनुभव के तीन आयाम होते हैं, (1) कुछ धर्म परिवर्तनशील होते हैं, (2) कुछ नये धर्म उत्पन्न होते हैं, (3) कुछ पुराने धर्म नष्ट हो जाते हैं। जो अपरिवर्तनशील है वह द्रव्य है। यह सत्य है कि वस्तुओं के गुण परिवर्तनशील होते हैं परन्तु सभी गुण परिवर्तनशील नहीं होते हैं।

अतएव, किसी एक घड़े के निर्माण का अर्थ है कि मिट्टी का पिण्ड नष्ट हो गया एवं एक घड़े का निर्माण हो गया। मिट्टी तो स्वयं नित्य है ही। इस प्रकार, जहाँ (द्रव्य) मिट्टी का किसी आकार में नाश हुआ वहीं किसी अन्य रूप में निर्माण हुआ तथा पुनः किसी अन्य रूप (द्रव्य) में यह नित्य अथवा स्थाई रहा। इन तीन स्थाई गुणों के कारण ही परिवर्तन के बाद भी कोई वस्तु स्थिर बनी रहती है। इसी वस्तु को हम द्रव्य कहते हैं। यह वस्तु वास्तव मे अपरिवर्तनशीलता की दृष्टि से द्रव्य है तथा परिवर्तनशीलता की दृष्टि से पर्याय है। अतः तत्त्व अनैकान्तिक है वह नित्य भी है और अनित्य भी है। वह परिवर्तनशील भी है और अपरिवर्तनशील भी है।

पुद्‌गल के स्वरूप के विवेचनोपरान्त अजीव के अन्तर्गत् आने वाले काल, आकाश, धर्म और अधर्म का विवेचन आवश्यक है। काल अनन्त है लेकिन यह आरोहात्मक और अवरोहात्मक होता है। दोनों के दो बराबर भाग होते हैं जिन्हें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कहते हैं। अवसर्पिणी क्रम ह्रास का काल होता है, जिसमें सदगुणों का क्रमशः पतन होता है। उत्सर्पिणी क्रम उत्थान का काल होता है, जिसमें सद्‌गुणों का क्रमशः उत्थान होता है। जैनों के अनुसार, वर्तमान युग अवसर्पिणी का समय है। जहाँ सद्‌गुणों का क्रमशः ह्रास अथवा पतन हो रहा है। आकाश भी अनन्त है तथा इसके दो भाग हैं– लोकाकाश तथा अलोकाकाश। लोकाकाश में गति होती है तथा आलोकाकाश में गति नहीं होती है। जो कुछ भी अस्तित्ववान होता है वह लोकाकाश में ही अस्तित्ववान होता है (जड़ द्रव्य की तरह)। जगत् कोई अव्यवस्थित सृष्टि नहीं है। इसका एक नियम है। अतः इसकी गति और स्थिति का भी नियम है। धर्म गति का नियम है जबकि अधर्म स्थिति का नियम है। ये दोनों सिद्धांत अक्रियाशील, अभौतिक, अपरमाण्विक हैं। धर्म और अधर्म गति तथा स्थिति को निर्धारित करने वाले तटस्थ कारक हैं। ये गति और स्थिति उत्पन्न करने वाले बल हैं। आकाश सबको स्थान देता है। धर्म गति का सिद्धांत है। यह गति को निर्मित नहीं करता है, लेकिन जो चीजें गति कर सकती हैं, उनके चलने में सहायक होता है। इसी प्रकार अधर्म

भी वस्तुओं में स्थिति प्रदान नहीं करता है अपितु जो स्थिर हो सकते हैं, उनको स्थिति प्रदान करता है। धर्म और अधर्म मे कोई एकसमान गुण नहीं होते हैं। आनुभाविक रूप से यह माना गया कि दोनों मे कुछ प्रदेश (दिक्) रहते हैं, परन्तु पारमार्थिक रूप से यह माना जाता है कि दोनों में केवल एक–एक प्रदेश रहता है। ये जगत् की क्रमबद्ध दृष्टि के लिए उत्तरदायी हैं।

15.3 जैन प्रमाण मीमांसा

जैनों के अनुसार, ज्ञान के दो रूप हैं– प्रमाण और नय। प्रमाण में वस्तु जैसी है वैसी जानी जाती है, जबकि 'नय' के माध्यम से वस्तु का इसके संबंधों में बोध होता है। 'नय सिद्धांत' जैन तर्कशास्त्र की अपनी विशेषता है। नय दृष्टि से वस्तु के विषय में हम एकांश कथन करते हैं। एक दृष्टि से जो सत्य है दूसरी दृष्टि से यह असत्य हो सकता है। अतः ज्ञान सापेक्ष प्रतीत होता है। विशेष दृष्टियां, विशेष प्रयोजनों के फलस्वरूप होती हैं। लेकिन एक दृष्टि को अपनाने का अर्थ दूसरी दृष्टि का खण्डन नहीं है। वस्तु का स्वरूप व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में उभर कर आता है। नयों के अनेक भेद हैं। एक प्रकार के भेद में नय पर प्रकाश डाला गया है, जहाँ विभाजन इस बात पर निर्भर करता है कि हमारा जोर विशेषों पर है, नकि सामान्य पर। इसी प्रकार द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय पर प्रकाश डाला गया है। द्रव्यार्थिकनय में द्रव्य पर विचार किया जाता है, जबकि पर्यायार्थिकनय में पर्यायों पर विचार किया जाता है। इस विचारधारा का सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग स्याद्वादवाद में होता है। जैन दृष्टि का एक महत्वपूर्ण अंग स्याद्वाद या सप्तभंगी है। इसके अनुसार तत्त्व का स्वरूप वस्तुतः अनिश्चित है। जैन दर्शन इस तथ्य पर बल देता है कि जगत् को अनेक दृष्टियों (अनेकान्त) से समझा जा सकता है। तत्व का स्वरूप किसी एक पक्ष से स्पष्ट नहीं होता है। वस्तु के पूर्ण वर्णन के लिए सभी विधेयों की आवश्यकता पड़ती है जो परस्पर विरोधी भी प्रतीत होते हैं। प्रत्येक कथन सापेक्ष होता है। निरपेक्ष विधान और निरपेक्ष निषेध दोनों त्रुटिपूर्ण हैं। जैनों ने इसे एक हाथी के दृष्टान्त के माध्यम से समझाया है। दृष्टान्त में छः अन्धे हाथी के एकांश धार्मिक और दार्शनिक विवाद भी होते हैं। किन्तु जैनमत नय के सात प्रकार या भंग स्वीकार करता है।

1) स्यात् अस्तिः सापेक्षतया वस्तु है।

2) स्यात् नास्तिः सापेक्षतया वस्तु नहीं है।

3) स्यात् अस्ति च नास्ति चः सापेक्षतया वस्तु है और नहीं है।

4) स्यात् अवक्तव्यम् चः सापेक्षतया वस्तु अवक्तव्य है।

5) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् चः सापेक्षतयावस्तु है और अवक्तव्य है।

6) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् चः सापेक्षतयावस्तु नहीं है और अवक्तव्य है।

7) स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् चः सापेक्षतयावस्तु है, नहीं है और अवक्तव्य भी है।

प्रत्येक भंग एक दृष्टि को पकड़ता है। जब एक ही दृष्टि को सम्पूर्ण वस्तु का परिचायक समझ लिया जाता है तो नयाभास होता है। इसलिए जैनों के अनुसार उपनिषदों का सिद्धांत, जो नित्यता को स्वीकार करता है, और बौद्धों का सिद्धांत, जो अनित्यता को स्वीकार करता है, एकांगी है तथा नयाभास के उदाहरण हैं। जैनों के अनुसार नित्यता और अनित्यता एक की वस्तु को दो आयाम हैं। लेकिन यहाँ याद दिलाना उचित होगा कि जैनों द्वारा उपनिषदों के मत की आलोचना ठीक नहीं है, क्योंकि उपनिषद् पारमार्थिक

तत्व की चर्चा करते हैं जबकि जैन दर्शन व्यावहारिक तत्व की चर्चा करता है। अपितु, जैनों ने व्यावहारिक धरातल की तरफ जो ध्यान आकर्शित किया है वह उचित है, लेकिन वह यह समझ पाने में असमर्थ है कि सापेक्षता का यह सिद्धांत केवल एक नियत सत् के संदर्भ में ही अर्थपूर्ण हो सकता है। परंतु जैन किसी भी हालत में सापेक्षता के सिद्धांत को छोड़ने को तैयार नहीं होते हैं। सप्तभंगी विभिन्न दृष्टियों का एक यान्त्रिक संग्रह है, उनका समन्वय नहीं। जैन यह भूल जाते हैं कि विभिन्न सापेक्ष तथ्यों का संग्रह सत्य नहीं बनता है। यह 'अभेद और भेद' का सिद्धांत है लेकिन 'भेद में अभेद' का सिद्धांत नहीं है। यदि जैन तर्कशास्त्र का निर्माण व्याघात के नियम पर किया जाये, तब जैन दर्शन यह भूल जाता है कि व्याघात का नियम तादात्म्य के नियम का केवल नकारात्मक पक्ष है। लेकिन जैन केवल ज्ञान में विश्वास करते हैं, जो सम्यक् दर्शन ज्ञान है। इस ज्ञान के स्तर पर केवली सापेक्ष ज्ञान के ऊपर उठ जाता है। अब यदि इस केवल ज्ञान के स्तर पर विषय–विषयी और ज्ञान का ऐक्य हो जाता है तब स्वतः ही उनका सापेक्षवादी बहुलवाद का सिद्धांत धराशायी हो जाता है।

जैन मत पाँच प्रकार के ज्ञान को मानता है– मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल।

मतिज्ञानः यह मन और इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान है। चूँकि मन को इन्द्रिय नहीं माना गया है अतः यह साक्षात् परिचय के द्वारा ज्ञान है।

श्रुत ज्ञानः यह जैन परम्परा और आगमों के आधार पर प्राप्त ज्ञान है। यह विवरण द्वारा प्राप्त ज्ञान है।

अवधिः यह वस्तुओं का देश और काल में ज्ञान है लेकिन यह ऐसा ज्ञान है जहाँ दूरस्थ वस्तुओं का भी ज्ञान हो जाता है। परन्तु चूँकि यह दैशिक और कालिक अस्तित्व के परे नहीं है, इसलिए यह सीमित है।

मनःपर्यायः इसमें दूसरों के मन का ज्ञान हो जाता है।

केवल ज्ञानः यह पूर्णज्ञान है। यहाँ पर सभी द्रव्यों और उनके पर्यायों का ज्ञान हो जाता है। यह सर्वज्ञता की अवस्था है, जिसमें देश–काल और वस्तु का बन्धन नहीं होता है। यह मन और इन्द्रियों से स्वतन्त्र ज्ञान है। यह ज्ञान मुक्त जीवों को होता है।

इन पाँचों ज्ञानों को दो श्रेणियों मे विभक्त किया गया है– प्रत्यक्ष और परोक्ष। इसका विस्तृत वर्णन अगले खण्ड में प्रमाण शीर्षक के अन्तर्गत् किया जाएगा।

उपरोक्त पाँच प्रकार के ज्ञानों में प्रथम तीन प्रकार के ज्ञान– मति, श्रुत और अवधि दोषपूर्ण हो सकते हैं, लेकिन मनःपर्याय और केवल ज्ञान में ऐसी त्रुटि नहीं होती है। ज्ञान की प्रामाणिकता व्यावहारिक दक्षता अर्थात् शुभ को प्राप्त करने और अशुभ से बचाने में होती है। प्रामाणिक ज्ञान वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है इसलिए यह उपयोगी भी होता है। *प्रमाणमीमांसा* में हेमचन्द्र यह मानते हैं, "प्रामाणिकता या तो स्वतः होती है या परतः होती है"। जैन दर्शन स्वतः और परतः दोनों प्रकार की प्रामाणिकता की चर्चा करता है। कुछ उदाहरणों में प्रामाणिकता का निर्धारण एक संज्ञान के द्वारा स्वतः हो जाता है। इसके अन्तर्गत् हम ऐसे सभी संज्ञानों को रख सकते हैं जो आभ्यासिक अथवा आदत–रूप होते हैं, जैसे जल को देखकर ही हम समझ जाते हैं कि यह हमारी प्यास बुझाएगा। हम जल में इस तथ्य में सन्देह नहीं करते हैं। लेकिन अनेक स्थानों पर प्रामाणिकता परतः होती है। यहीं हम प्रामाणिकता के लिए–

1) उसी वस्तु के पुनः ज्ञान पर निर्भर होते हैं,

2) उसके 'सफलप्रवृत्तिजनकत्व' पर निर्भर होते हैं,

3) इस पर निर्भर होते हैं कि उस वस्तु का ज्ञान सर्वदा इसी प्रकार का होता है।

यहाँ परतः प्रामाण्यवाद है। जहाँ प्रामाण्य का निर्धारण अन्य साधनों के द्वारा होता है। जैनों के अनुसार भ्रमज्ञान से तात्पर्य वस्तु के अपने रूप से असहमति होना है। जैनों के अनुसार अयथार्थ ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट नहीं करता है। जब हम रस्सी को साँप समझते हैं तो भ्रम साँप को वहाँ देखने में होता है जहाँ वह नहीं होता है। भ्रमात्मक ज्ञान तीन प्रकार का होता है– संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय। भ्रमात्मक ज्ञान का उद्भव आलस्य अथवा असंगतता के कारण होता है। जैनों के अनुसार अयथार्थ ज्ञान व्याघात को जन्म देता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तों का मिलान कीजिए।

1. जैन दर्शन के अनुसार, चेतना क्या है?

....

....

....

....

....

2. जैनों के भ्रम सिद्धान्त पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

15.4 प्रमाण

जैन दर्शन के अनुसार, दो प्रकार का ज्ञान होता है; अपरोक्ष और परोक्ष। जैन दर्शन प्रमाण के तीन भेद स्वीकार करता है– प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। ये तीनों प्रमाण परोक्ष ज्ञान को प्राप्त करने के साधन हैं। अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियों की सीमा से बाहर का ज्ञान है। इसमें जीव का ज्ञान साक्षात ज्ञान होता है। यह अतीन्द्रिय होता है तथा यह यथार्थ ज्ञान होता है। हेमचन्द्र (*प्रमाणमीमांसा*, 1.1.15) के अनुसार "इस प्रकार के प्रत्यक्ष में आवरण का पूर्णयता लोप हो जाता है और जीव साक्षात् ज्ञान प्राप्त करता है।" चेतना आत्म का स्वरूप है

और आत्म स्वयं प्रकाश है। इस प्रकार का प्रत्यक्ष वहाँ होता है जहाँ आत्म स्वतः प्रकाशित होकर स्वतः ज्ञान प्राप्त करती है। यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। यह शुद्ध, पूर्ण तथा मन–बुद्धि से स्वतन्त्र होता है। यहाँ कर्म का बन्धन समाप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप, आत्म शुद्ध रूप में प्रकाशित होकर सम्पूर्ण सत् का साक्षात प्रत्यक्ष करता है। यह केवल ज्ञान है या सर्वज्ञता की स्थिति है। इसके अन्य दो प्रकार 'अवधि ज्ञान' एवं 'मनःपर्याय' हैं। अवधिज्ञान में वस्तु का ज्ञान होता है। अतः इसमें केवल देश–काल में उपस्थित 'रूप–आकार' वाली वस्तुओं का ही ज्ञान होता है। देष–काल से सीमित होने से यह सीमित ज्ञान है। मनःपर्याय मन के पर्यायों का ज्ञान है। यह मानवजगत् में होता है। इसमें हम दूसरे के मन की बात जान जाते हैं। यह ज्ञान सिद्ध होता है। यह अवधि से ज्यादा स्पष्ट होता है। परन्तु सभी ज्ञानों का सर्वोच्च शिखर 'केवलज्ञान' है।

15.5 सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष

इस प्रकार का प्रत्यक्ष मन और इन्द्रिय द्वारा सीमित होता है। इसलिए यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह पाँच इन्द्रियों एवं मन में की सहायता से होता है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों स्पर्श, स्वाद, गन्ध, दर्शन और सुनने की हैं। इनके दो रूप हैं, अनिन्द्रिय और सूक्ष्म इन्द्रिय या अन्तःकरण। अन्तःकरण भी दो प्रकार का होता है– भौतिक और मानसिक। भौतिक जड़वस्तु की ओर संकेत करता है तथा मानसिक चेतन क्रियाओं की ओर संकेत करता है। यह प्रत्यक्ष चार प्रकार होता है: अवग्रह, ईहा (परिकल्पना), अवाय, धारणा।

अवग्रह (संवेदन) में वस्तु का निर्विकल्पक (इन्द्रिय–विषय सम्पर्क से जनित प्रथम अनिश्चित ज्ञान) ज्ञान होता है। ईहा में वस्तु का सविकल्पक (इन्द्रिय–विषय सम्पर्क से जनित नाम रूप सहित ज्ञान) ज्ञान होता है। अवाय में हम निश्चित ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसमें हम यह कह सकते हैं कि हमने क्या ज्ञात किया, और धारणा में हम ज्ञान को स्मृति में समाहित करके लम्बी अवधि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह पूर्व अनुभव का बचा हुआ नवीनतम मानसिक संस्कार होता है।

ज्ञान के अन्य प्रमाण अनुमान ओर आगम भी इस परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत् आते हैं। जैनों के अनुसार अनुस्मरण, प्रत्यभिज्ञा और आगमन भी परोक्ष ज्ञान हैं। इन श्रेणियों का ज्ञान प्रत्यक्ष से कम स्पष्ट ज्ञान होता है।

अनुमान में हम साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं। साध्य यथार्थ होता है जिसका ज्ञान साधन के द्वारा होता है। साध्य का ही अनुमान किया जाता है। यह दिखाई नहीं पड़ता है इसलिए अनुमान किया जाता है। साधन अनुमानित साध्य को इंगित करता है। निम्नांकित उदाहरण में पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धूम है। यहाँ साधन धूम है तथा साध्य अग्नि है अर्थात् इसमें धूम (साधन) के आधार पर अदृश्य अग्नि (साध्य) का अनुमान किया जाता है। ऐसा इसलिए संभव होता है क्योंकि साधन और साध्य के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध होता है। व्याप्ति अव्यभिचारी सम्बन्ध है।

अनुमान दो प्रकार का होता है, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थ अनुमान अपने स्वयं के ज्ञान के लिए होता जबकि परार्थानुमान का लक्ष्य दूसरों को ज्ञान प्रदान करना होता है। प्रत्येक प्रकार के अनुमान का प्राण व्याप्ति होती है। व्याप्ति अनेक प्रकार की होती है। जैसे– तादात्म्य, कारण–कार्य तथा समानाधिकरण्य। इन्हें हम निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। जब हम कोई शब्द सुनते हैं, तो उसके अर्थ का अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि शब्द और

उसके द्वारा इंगित वस्तु में तादात्म्य सम्बन्ध है। कारण–कार्य संबंध को निम्नांकित उदाहरण से समझ सकते हैं; काले बादल से हम वर्षा का अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार, हम धूम से अग्नि का अनुमान कर लेते हैं, क्योंकि यहां बादल–वर्षा, धूम–अग्नि दोनों में कारण–कार्य का सम्बन्ध होता है। समानाधिकरण्य का उदाहरण यह है कि स्वाद से रंग और रंग से स्वाद का अनुमान। जबकि स्वाद और रंग एक ही फल में होता है।

15.6 अनुमान

प्रमाण मीमांसा (2.1.1) में यह कहा गया है कि इस प्रकार के अनुमान में साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान हेतु (साधन) से साध्य के अनिवार्य सम्बन्ध के आधार पर होता है। दूसरे शब्दों, अनुमान के लिए कम से कम मध्यपद और मुख्यपद के मध्य व्याप्ति का होना अनिवार्य है। साधन (धूम) मध्यपद होता है एवं इसी का प्रत्यक्ष होता है तथा मुख्य पद साध्य (अग्नि) होता है एवं इसी के व्यक्ति सम्बन्ध के आधार पर अनुमान किया जाता है। उपरोक्त उदाहरण में धून मध्य पद है तथा अग्नि मुख्य पद है। इस प्रकार धून के पर्वत पर प्रत्यक्ष से अग्नि का पर्वत पर अनुमान होता है।

15.7 आगम (श्रुत ज्ञान)

यह ज्ञान ऐसे व्यक्ति के शब्द पर आधारित होता है जो यथार्थ वक्ता होता है। इसे शब्द प्रमाण भी कहा जाता है। यह व्यक्ति जिसे सम्यक् ज्ञान होता है और वह सदैव सत्य निर्णय या कथन कहता है, आप्त पुरूष या विश्वसनीय पुरूष कहलाता है। आप्त पुरूष दो प्रकार के होते हैं– लौकिक और अलौकिक। लौकिक सामान्य आप्त से सम्बन्धित है। जबकि अलौकिक सर्वज्ञ से सम्बन्धित है।

15.8 जैन आचार दर्शन

जैनों की प्रमुख विशेषता उनका आचार दर्शन है, जैसा कि जिन शब्द से स्पष्ट भी है। जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य भावनाओं और इच्छाओं पर पूर्ण नियन्त्रण करना है। इनकी साधना में शारीरिक तप एक महत्वपूर्ण अंग है। यह गृहस्थ और सन्यासी दोनों के लिए कठोर साधना का विधान करता है। जैनों ने सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार दोनों पर बल दिया है। नैतिकता मानव को नये कर्मों से हटाने में और मानव के चरित्र का सुधार करने में प्रमुख भूमिका निभाती है। इसलिए जैनों ने अपने नीतिशास्त्र में त्रिरत्नों पर बल दियाय जो इस प्रकार हैं– सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र।

इसमें सबसे पहले सम्यक् दर्शन पर बल दिया है, क्योंकि सम्यक् किया भी सम्यक् दर्शन के अभाव में विपरीत फल दे सकती है। सम्यक् दर्शन जैन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धांतों पर अटूट श्रद्धा है। सम्यक् ज्ञान जैन धर्म एवं दर्शन का यथार्थ ज्ञान है। सम्यक् चारित्र उस ज्ञान का व्यवहार में आचरण है। सम्यक् आचरण से ही हम कर्मबन्धन से मुक्त हो सकते हैं, इसलिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके लिए जैनों ने पाँच व्रत का विधान किया है। श्रमणों के लिए (अधिक कड़े होने के कारण) ये पाँचों महाव्रत कहलाते हैं तथा गृहस्थों के लिए (कुछ सीमा तक उदार होने के कारण) ये पाँचों अणुव्रत कहलाते हैं। ये निम्नांकित हैं–

अहिंसा:

यह पाँचों महाव्रतों में से सबसे प्रमुख व्रत है। इसका उद्देश्य किसी भी जीवित प्राणी को कोई भी कष्ट या हिंसा नहीं देना है। इसमें व्यक्ति विचार, शब्द और कर्म में अहिंसा का पालन करते हैं। इसमें मनुष्य न केवल दूसरों को कष्ट देने से बचते हैं, बल्कि दूसरों को कष्ट से निकालने में भी प्रयासरत रहते हैं। कोई व्यक्ति इस व्रत के पालन में तभी सफल हो सकता हैं, जब वह अंहकार, ममता, मोह, घृणा को छोड़ देता है।

सत्य:

यह दूसरा महाव्रत है। यहाँ पर व्यक्ति निर्भय होकर तथा क्रोध से रहित सत्य वचन बोलते हैं। यह वाणी का संयम है।

अस्तेय:

यहाँ पर साधक चोरी न करने का व्रत लेते हैं। किसी दूसरे की वस्तु को लेना चोरी है। घूस लेना, गलत ढंग से पैसा बनाना, बिना अनुमति के सामान को इधर से उधर ले जाना ये सभी अस्तेय के उल्लघंन के लक्षण हैं।

ब्रह्मचर्य:

ब्रह्मचर्य से तात्पर्य सभी प्रकार के विषय भोग (वासना) की तीव्र लालसा पर, विशेष रूप से काम वासना पर, नियन्त्रण एवं किसी भी प्रकार के स्त्री सम्बन्ध से परहेज करने से है। ब्रह्मचर्य मे वाणी, क्रिया, भावना, तीनों का संयम किया जाता है।

अपरिग्रह:

यह व्रत परिग्रह (बहुमुल्य भौतिक वस्तुओं का संग्रह) को हटाता है। श्रमण के पास किसी वस्तु का परिग्रह नहीं होना चाहिए। गृहस्थ के लिए थोड़ी छूट दी गयी है। इसका प्रधान उद्देश्य बाह्य वस्तुओं से राग को कम करना है।

गृहस्थों के लिए अन्तिम दो व्रतों में सुविधा दी गयी है। गृहस्थ को स्वयं अपने वैवाहिक जीवन से सन्तुष्ट होना चाहिए तथा आवश्यकता से अधिक परिग्रह नहीं करना चाहिए।

जीवन का उद्देश्य कर्म बन्धन से मुक्त होना है। कर्म बन्धन को सभी भारतीय दार्शनिक मानते हैं। लेकिन जैन दर्शन में उन्हें जड़ात्मक कण के रूप में देखा गया है जिनके कण आत्मा का बन्धन होता है। जीवों में स्तर का भेद है। यह उनके आण्विक कर्म सम्बन्ध के आधार पर होता है। जैन–धर्म के अनुसार कर्म जड़ात्मक है और जीव को नीचे की तरफ आकर्षित करते हैं। यह जीव से उसी प्रकार सम्बन्धित हो जाते हैं जैसे ताप लोहे से, जल दूध से होता है और जीव को बन्धन में ढकेल देते हैं। यह जीव को कर्म और राग के अनुसार विभिन्न देश और काल में बाँधे रहते हैं। जैन धर्म यह मानता है कि इस कर्म बन्धन को आत्मानुशासन से पूर्णतः तोड़ा जा सकता है। इसके लिए ये नौ तत्त्वों (पदार्थ) का विधान करते हैं; जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव और अजीव क्रमशः चेतन और जड़ के ओर संकेत करते हैं। पुण्य और पाप क्रमशः कल्याणमय कर्म और अकल्याणकारी कर्म की ओर संकेत करते हैं। आस्रव और बन्ध जीव को बांधते हैं। यथार्थ तत्त्वों का अज्ञान और राग, कर्म–बन्धनों को जीव की ओर आकर्शित करना आस्रव है तथा जीव की इनके साथ बंध जाने की अवस्था बन्धन है। इस प्रकार से

इसका निरोध भी दो चरणों में होता है। सम्यक् रूप से तत्त्वों के ज्ञान के कारण कर्मों का जीव की तरफ आना रुकने लगता हैं, जिसे संवर कहते हैं और उनका बिल्कुल लोप हो जाना, निर्जरा कहलाता है। इसमें तप की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

इसके बाद जीव का कार्मिक बन्धन छूट जाता है और वह मुक्त हो जाता है तथा अपने यथार्थ स्थान लोकाकाश के ऊपर सर्वज्ञ और शान्तमय अवस्था में रहता है। ज्ञान प्राप्ति और मोक्ष दोनों के मध्य की अवस्था अर्हत् (अरिहन्त) की अवस्था कहलाती है। इसमें जीव नये बन्धनों से मुक्त रहता है। पूर्ण मोक्षावस्था सिद्धावस्था कहलाती है। जहाँ जीव अशरीरी रूप में लोकाकाश के शिखर पर वर्तमान रहता है। अर्हत् सर्वज्ञ होता है लेकिन शारीरिक बन्धन से उसका वियोग नहीं रहता और वह निर्वाण की प्रतीक्षा में होता है।

15.9 सारांश

जैन मतावलम्बी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते हैं। वे विश्वास करते हैं कि कर्म का नियम ईश्वर निरपेक्ष रूप से कार्य करता है। अर्हत् शारीरिक अवस्था मे ईश्वर है लेकिन वह किसी को वरदान या श्राप नहीं दे सकता। वह उनके लिए आदर्श है जो मुक्त होना चाहते हैं। प्रत्येक मुक्त जीव दैवीय है। उसे केवलज्ञान या सर्वज्ञता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। कुछ अर्हत् तीर्थंकर वे अर्हत् है जो जैन मत की शिक्षा का प्रचार–प्रसार करते हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. जैन दर्शन के सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष पर टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

2. त्रिरत्न की अवधारणा पर टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

15.10 कुंजी शब्द

ज्ञानमीमांसीय यथार्थवाद : ज्ञान मीमांसीय यथार्थवाद यथार्थ वस्तु का मन से स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करता है। यह ज्ञानमीमांसीय विज्ञानवाद का विरोध करता है।

सापेक्षतावाद : इस सिद्धांत के अनुसार हमारे अनुभव या संस्कृति के अनेक तत्व सापेक्ष या अन्य दूसरे तत्त्वों पर निर्भर होते हैं।

15.11 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

गोपालन, ए. *आउट लाईन ऑफ जैनिज्म.* न्यू देल्हीः विले इस्टर्न प्रा. लि., 1903.

जैनी, जे. एन. *द हर्ट ऑफ जैनिज्म ए रिव्यू.* ओवल रीः आत्मानन्द जैन ट्रस्ट सोसाइटी, 1925.

जैनी, जे.एल. *आउट लाईन ऑफ जैनिज्म.* इग्लैण्डः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1940.

नाहर, एन.सी. तथा घोष. के. सी. *एन एनसाइक्लोपीडिया ऑफ जैनिज्म.* न्यू देल्हीः श्री सतगुरु पब्लिकेशन, 1988.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

सूरी, हरिभद्र. *षड्दर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

15.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. चेतना जीव का सार है। इसके दो रूप हैं– (अ) दर्शन या अन्तर्बोध (ब) ज्ञान। दर्शन या अन्तर्बोध सन्देहास्पद ज्ञान की अवस्था है, जबकि ज्ञान सम्प्रत्ययात्मक ज्ञान है।

2. जैनों के अनुसार, भ्रामक ज्ञान का अर्थ वस्तु के साथ विसंवादी होना है यह वस्तु को इस प्रकार दर्शाता है जैसी वह नहीं है। रज्जू को सर्प समझने में हमारा दोष यह है कि हम सर्प को वहाँ देखते हैं, जहाँ वह नहीं है। भ्रम के तीन प्रकार हैं, (अ) संशय (ब) विपर्यय (स) अनध्यवसाय भ्रम हमारी लापरवाही के कारण होता है। भ्रमात्मक ज्ञान व्याघात को जन्म देता है।

बोध प्रश्न 2

1. सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष चार प्रकार का होता है।

   अ) अवग्रह (संवेदन)

   ब) ईहा (परिकल्पना)

स) अवाय (निश्चित ज्ञान)

द) धारणा

अ) अवग्रह किसी वस्तु का उस समय का निर्विकल्पक ज्ञान है जब इन्द्रियों का वस्तु से सम्पर्क होता है।

ब) ईहा में, संवेदनाओं के उपर विचार किया जाता है और विषय का परिकल्पनात्मक ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

स) सविकल्पक ज्ञान अवाय में होता है। जहाँ हम वस्तु के विषय में निश्चित ज्ञान प्राप्त करने में सफल रहते हैं।

द) धारणा स्मृति की वह स्थिति है जहां हम उपरोक्त तीन स्तरों के पश्चात प्राप्त ज्ञान का स्मरण कर लेते हैं। यह पूर्ण कालिक अनुभूत ज्ञान की तात्कालिक स्मृति की स्थिति है।

2. जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य भावनाओं और इच्छाओं का नियन्त्रण करना है उनके अनुसार जीवन के तीन मुख्य सिद्धांत हैं–

अ) सम्यक् श्रद्धा/दर्शन

ब) सम्यक् ज्ञान

स) सम्यक् चारित्र

इन तीनों में से प्रथम स्थान श्रद्धा का है जिसे सम्यक् दर्शन कहा गया है। श्रद्धा के बिना किसी कर्म का कोई मूल्य नहीं है। इसमें हम जैन आगमों पर संशय रहित श्रद्धा रखते हैं जो हमारे आध्यात्मिक उत्थान के लिए आवश्यक है। सम्यक् ज्ञान में जैन धर्म और दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। सम्यक् आचार ज्ञान के अनुसार आचरण से सम्बन्ध रखता है। उचित आचरण के बिना जीवन का लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त नहीं किया जा सकता।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 16 बौद्ध दर्शन–I[16]

रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 परिचय

16.2 बौद्ध दर्शन का तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण

16.3 प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त

16.4 बौद्ध दर्शन की नैतिक शिक्षाएं

16.5 निर्वाण (पालि भाषा में, निब्बान)

16.6 कर्म

16.7 सारांश

16.8 कुंजी शब्द

16.9 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन को पालि बौद्ध दर्शन अथवा स्थविरवाद कहते हैं। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन को बाद में विकसित बौद्ध सम्प्रदायों से भिन्न समझना चाहिए क्योंकि उनका उद्‌भव बुद्ध की शिक्षा के बहुत बाद में हुआ था। बौद्ध मत के संस्थापक सिद्धार्थ थे जो गौतम गोत्र से सम्बन्धित परिवार से थे। बोधि प्राप्त करने के बाद उन्हें बुद्ध अर्थात 'जाग्रत' कहा गया। इस इकाई में निम्नलिखित बातों का ज्ञान प्राप्त होगा:

- बौद्ध दर्शन का तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण
- प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत
- बौद्ध दर्शन का नैतिक विचार
- निर्वाण
- कर्म

16.1 परिचय

बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में हुआ था। यह काल आध्यात्मिक बेचैनी का काल था। समाज वास्तविक दर्शन से दूर था। परम्परा अत्यंत जटिल हो गयी थी। यज्ञों के

[16] प्रो. सुधा गोपीनाथ, कोरामंगला, बैंग्लोर, अनुवाद– प्रो. ए के राई, बीएचयू, वाराणसी

सम्पादन में नियमों को अधिक ध्यान मे रखा जाता था लेकिन उनके प्रयोजन पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था। राजाओं के द्वारा पुरोहितों को संरक्षण देने की परम्परा ने उन्हें लालची बना दिया था। ऐसे काल में श्रद्धा को पुनः व्यवस्थित करने की आवश्यकता थी। भगवान बुद्ध का अवतरण ऐसे ही समय में हुआ और उन्होंने संसार के कल्याण के लिए एक अत्यंत व्यावहारिक और वैज्ञानिक दर्शन का उपदेष दिया।

जब सिद्धार्थ ने यह जाना कि जगत् दुःख से परिपूर्ण है तो उनका मन इसके निदान के लिए छटपटाने लगा। उन्होंने दुःख के व्यक्तिगत उदाहरणों में एक सार्वभौम समस्या का दर्शन किया। इन्द्रिय सुख की निःसारता के कारण उन्होंने राजभवन के सुख का परित्याग कर दिया और एक सामान्य पथिक की भाँति सत्य की खोज में निकल पड़े। क्योंकि उस समय सत्यान्वेषकों का यही जीवन था। उन्होंने 29 वर्ष की अवस्था में गृहत्याग किया और उस समय के प्रसिद्ध चिन्तकों का शिष्यत्व ग्रहण किया। लेकिन उनके विचारों से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने शारीरिक तप का भी आश्रय लिया। उन्होंने पांच भिक्षुओं के साथ बहुत ही कठोर शारीरिक तप किया। इससे भी उनको सन्तोष नहीं हुआ। तब उन्होंने कम कठोरता वाले शारीरिक तप का आश्रय लिया। इस प्रक्रिया में उन्होंने तृष्णा, राग और द्वेष पर विजय पायी। उन्हें अस्तित्व के रहस्यों के विषय में, व्यक्ति, आत्मा और सम्पूर्ण जगत् के विषय में दिव्य ज्ञान हुआ। बोधि वृक्ष के नीचे उन्हे ज्ञान की नयी किरण का साक्षात्कार हुआ और वह सिद्धार्थ से बुद्ध बन गए। किवदन्तियां बताती हैं कि जब वह बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे तो मार (बुराई का देवता) ने उन्हें अनेक प्रलोभन दिए और सत्य से हटाने के अनेक प्रयास किये लेकिन वह बुद्ध को मार्ग से विचलित नहीं कर सका। इस प्रकार बुद्ध जिन, तथागत और वीर बन गए। बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करने के लिए सामान्य जनों के बीच गये जिससे वे पाप से मुक्त हो सकें। उन्होंने समस्याग्रस्त जगत् के लिए चार आर्य सत्यों और आष्टांगिक मार्ग का उपदेश वहीं दिया। उनके मुखमण्डल की शांति तथा स्पष्टता लोगों को आकर्षित करती थी। उनके प्रथम शिष्य वही पाँच भिक्षु बने थे, जो उन्हें पथ भ्रष्ट समझकर छोड़ गये थे।

बुद्ध ने किसी पुस्तक की रचना नहीं की किन्तु उनकी मृत्यु के बहुत वर्षों के बाद उनकी शिक्षाओं का संकलन किया गया इसलिए उनकी शिक्षाओं में कुछ अस्पष्टता है। लेकिन बौद्धों का विशाल साहित्य है। इन पवित्र ग्रंथों की अनेको व्याख्याएं पालि, संस्कृत और प्राकृत भाषा में मिलती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना संभव नहीं है कि बुद्ध का निश्चित मत क्या है? तथापि कुछ प्राचीन ग्रंथों को प्रारम्भिक बौद्ध मत के आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। ये ग्रंथ पालि भाषा, जो संस्कृत भाषा की एक बोली या उससे भिन्न भाषा हो सकती है, में लिखे गये हैं। इस सद्साहित्य को त्रिपिटिक (डलिया, टोकरी) कहते हैं। ये निम्न हैं:

सुत्त पिटकः इसमें बुद्ध के कथन हैं।

विनय पिटकः इसमें भिक्षु संघ के लिए नियम हैं।

अभिधम्मपिटकः इसमें दार्शनिक समस्याओं पर विचार है।

ये पिटक सम्वाद के रूप में हैं और इनमें आधुनिक अर्थों में कोई क्रमबद्ध दार्शनिक विचार नहीं हैं। इनमें केवल रूपक तथा उपमाएं हैं जिनके कारण भी सन्देश में कुछ अस्पष्टता है। इन तीनों में *सुत्तपिटक* का ज्यादा महत्व है क्योंकि ये बुद्ध के वचन हैं। इनको पाँच भागों में विभाजित किया गया है:

- दीघ निकाय
- मज्झिम निकाय
- संयुक्त निकाय
- अंगुत्तर निकाय
- खुद्दक निकाय।

विनय पिटक में भिक्षु–भिक्षुणियों के आचरण के नियम हैं। अभिधम्म पिटक में सात ग्रंथ हैं जो बौद्ध धर्म दर्शन से सम्बन्धित हैं।

तथापि, पालि में अन्य और भी बहुत से ग्रंथ है परन्तु उन्हें प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ का सम्मान प्राप्त नहीं है। इसमें से त्रिपिटकों पर कुछ टीकाएँ हैं। ऐसी विश्वास किया जाता है कि इनमें से बहुत सी टीकाएं बुद्धघोष के द्वारा ईसा की पांचवी शताब्दी में शिलांग मे संकलित की गयी थीं। बाद में जातक कथाओं को गद्य के रूप में संकलित किया गया जो एक सुन्दर रचना है। बुद्धघोष ने *विशुद्धिमग्ग* की रचना की, जिसका अर्थ है– 'विशुद्धि का मार्ग'। पालि का एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *मिलिन्द–पन्हो* (मिलिन्द–प्रश्न) है जिसमें नागसेन और ग्रीक राजा मिनाण्डर का संवाद है। अशोक (273–232 ई.पू.) के शिलालेख भी बौद्ध परम्परा के बारे में हमें ज्ञान देने में सहायक हैं।

यद्यपि बौद्ध परम्परा वैदिक परम्परा से भिन्न रही है फिर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने उपनिषदों में छिपी हुई दार्शनिक धाराओं को ही निष्कर्ष तक पहुँचाया। उदाहरण के लिए, उपनिषद् में आत्मा को निषेधात्मक दृष्टि से वर्णित किया गया और भगवान बुद्ध ने आत्मा की संकल्पना का पूर्णतः निषेध कर दिया। कर्म का सिद्धांत भी बौद्ध दर्शन को उपनिषदों से जोड़ने में सहायक है।

बौद्ध दर्शन प्रथम दृष्टि में निराशावादी प्रतीत होता है लेकिन ऐसा मानना अनुचित है। सारनाथ के उपदेश को यदि हम अपना पथ प्रदर्शक मानें तो बुद्धोपदेश का सार यह है कि जिस प्रकार हेय (दुःख) और हेय का हेतु (कारण) है, उसी प्रकार उसका निदान (हान) और उसके निदान के उपाय (हानोपाय) हैं। यह औषधि विज्ञान की तरह है। यदि रोग है तो रोग का कारण है। यदि रोग के कारणों का अच्छी तरह पता है, तो उसके निदान में आसानी होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि बुद्ध ने यह अवश्य कहा है कि सब कुछ दुःखमय है, लेकिन यहीं उनकी शिक्षा का अन्त नहीं हो जाता है। उनकी शिक्षा निराशावादी नहीं है। दुःख सत्य है, लेकिन उससे निकलने का रास्ता भी है। मानव इसी जन्म में शान्ति पा सकता है। इसलिए बौद्ध दर्शन आशावादी है, निराशावादी नहीं। द्वितीयतः बौद्ध दर्शन वैज्ञानिक है। बौद्ध काल में वैचारिक अराजकता दिखाई देती है। उस समय यज्ञ करने कराने पर बल था। लोग अन्धविश्वासी ज्यादा थे। उनमें वैज्ञानिक सोच का अभाव था। बुद्ध ने इसके विरोध में अपना मार्ग प्रशस्त किया और वैज्ञानिकता का रास्ता अपनाया। इसलिए उन्होंने वैदिक परम्परा का विरोध किया। वह किसी अतिप्राकृतिक सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भगवान बुद्ध का दर्शन प्रत्यक्ष और बुद्धि पर आधारित है। बौद्ध दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह व्यावहारिक है। बुद्ध ने वही उपदेश दिया जो सांसारिक बन्धन से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक था। उनका मानना था कि बन्धन और दोषों से मुक्ति पाने के लिए तत्त्वमीमांसीय सूक्ष्मता की अधिक आवश्यकता नहीं है। वे बहुत व्यावहारिक थे। उन्होंने घोषणा की कि "दर्शन से किसी की शुद्धि नहीं होती, शान्ति से होती है"। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन में तत्त्वमीमांसा का अधिक

स्थान नहीं है। यहाँ हम कह सकते हैं कि यद्यपि बुद्ध का उद्देश्य तत्त्वमीमांसा की प्रतिष्ठा करना नहीं था फिर भी उनकी शिक्षाओं में तत्वमीमांसा के विचार दिखाई देते हैं।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. सिद्धार्थ की सत्य की खोज की यात्रा पर टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2. क्या बौद्ध दर्शन में औपनिषदिक (उपनिषद् की) धारा विद्यमान है?

....

....

....

....

....

16.2 बौद्ध दर्शन का तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन चेतना और जड़ में भेद करता है, लेकिन न तो वह नित्य आत्मा को स्वीकार करता है, न ही वह जड़ तत्त्व (जगत्) को अपरिवर्तनशील मानता है। 'सर्वम् अनित्यं' यह बुद्ध का उद्‌घोष था। बुद्ध ने स्थापित किया कि कुछ भी नित्य नहीं है। उनकी उद्‌घोषणा है कि प्रत्येक चीज अनात्म है। अनुभव के किसी भी क्षण में हमें ठण्डा, गरम, प्रकाश, या छाया, प्रेम अथवा घृणा, दुःख या सुख की अनुभूति होती है। परन्तु संवेदन स्वयं अनित्य होते हैं। इनका बोध करने वाली कोई नित्य आत्मा भी नहीं होती है जैसा कि हम विश्वास करते हैं। उनके लिए संवेदन और विचार से संयुक्त भौतिक शरीर ही आत्मा है। उन्होंने आत्म को संघात माना। आत्म एक मनो–भौतिक सत्ता है जो नाम–रूप के माध्यम से जानी जाती है। नाम मनोवैज्ञानिक घटकों का निरूपण करता है तथा रूप उसके भौतिक शरीर का। आत्म पाँच स्कन्धों से निर्मित है–

वेदना

संज्ञा

संस्कार नाम (आत्म)

विज्ञान

रूप–भौतिक शरीर

इस प्रकार बौद्ध धर्म आत्म को नामरूपात्मक मानता है। बुद्ध के अनुसार धर्म ही धर्मी है। अतः किसी द्रव्यात्मक धर्मी की सत्ता नहीं है। इसलिए उन्होंने भौतिक द्रव्य के रूप में जड़ पदार्थ और आध्यात्मिक द्रव्य के रूप में आत्मा दोनों का खण्डन किया। दोनों संघातमय हैं। इसे बुद्ध का 'नैरात्म्यवाद' कहते हैं।

नैरात्म्यवाद से सम्बन्धित बौद्धों का एक और सिद्धांत क्षणिकवाद है। वस्तु क्षण–क्षण में परिवर्तित होती है। सब कुछ अनित्य है, सन्तानमय है। भाषा के कारण स्थायित्व का बोध होता है। इसी के कारण परिवर्तनशील वस्तुओं को हम नाम–रूप देकर अपरिवर्तनशील समझते हैं। बौद्ध मत के अनुसार जब हम कहते हैं, ''यह सोचता है'' या ''यह सफेद है'' तो 'यह' का अर्थ मात्र वही है जो ''(यह) वर्षा हो रही है'' में है। समस्त व्यापार क्रिया मात्र हैं। बौद्ध मत में इसको दिखाने के लिए अनेक उदाहरण हैं। *मिलिन्द–पन्हो* में रथ की उपमा से नैरात्म्यवाद का प्रदर्शन किया गया है। नागसेन ने ग्रीक राजा मिनाण्डर को नैरात्म्यवाद का विचार समझाने का प्रयास किया लेकिन राजा उनके मत से सहमत नहीं हुये। राजा को समझने के लिए नागसेन ने राजा से प्रश्न किया– महाराज! आप पैदल आये हैं कि रथ से आये हैं। राजा ने कहा कि वह रथ से आया है और वह सदा रथ से ही चलता है। तब नागसेन ने रथ को परिभाषित करने को कहा। उन्होंने पूछा कि रथ क्या कील है? क्या चक्का है? क्या धुरी है? इस प्रश्न के उत्तर में राजा ने कहा कि रथ इनमें से कुछ भी नहीं है। तब नागसेन ने कहा कि रथ इन वस्तुओं के संघात के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार रथ से संकेतित किसी अन्तर्वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार किसी आत्मा का अस्तित्व भी नहीं है। यह सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के एक अन्य प्रमुख सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद की तरफ संकेत करता है।

16.3 प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का मूल मन्त्र है अस्मिन् (कारणे) सति इदं (कार्य) भवति अर्थात कारण के होने पर कार्य होता है तथा अस्मिन् सति इदं न भवतिय कारण के नहीं होने पर कार्य नहीं होता है। इस सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं जिसका मुख्य अभिप्राय क्षणिकवाद में परिवर्तन को प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से समझाना है। निरन्तरता का आधार कारणता है। मानसिक जगत् और भौतिक जगत् दोनों में प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम व्याप्त है। यह नियम पर्याप्त कारणों पर बल देता है। बौद्ध दर्शन न भाव में विश्वास करता है न अभाव में, वह परिवर्तन में विश्वास करता है। अतः यह यथार्थ का एक गतिमान चित्र प्रस्तुत करता है। बौद्ध दर्शन मे दो उपमाएं दी गयी हैं– एक बहते हुए पानी की तथा दूसरी जलती हुए लौ की। जैसे इन दोनों उदाहरणों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है लेकिन निरन्तरता भी बनी रहती है, वही स्थिति भौतिक जगत् और मानसिक जगत् की भी है। दोनों सन्तानमय हैं। दोनों कारण–कार्य के नियम से उत्पन्न धारा या श्रृंखला हैं, जहाँ एक घटना के अनन्तर दूसरी घटना आती है। नित्यता काल्पनिक है। बुद्ध के समय में दो परस्पर विरोधी मत थे। एक मानता था सब कुछ भावात्मक है अर्थात् सबकुछ भाव है। दूसरा मानता था सब कुछ अभाव है। इसके विरोध में बुद्ध ने यह प्रतिपादित किया कि सब कुछ परिवर्तनशील और सन्तानमय है। सभी वस्तुओं का जन्म होता है, उनकी वृद्धि होती है, उनका क्षरण होता है तथा उनका विनाश हो जाता है। बौद्ध दर्शन ने इस बात पर बल दिया है कि सब कुछ अनित्य है, परिवर्तनशील है, लेकिन परिवर्तन का आश्रय कोई द्रव्य नहीं है। तब प्रश्न होता है कि श्रृंखला के किन्हीं दो परिवर्तनशील बिन्दुओं के मध्य क्या सम्बन्ध है? ये दोनों किस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। बुद्ध के समय में इस सम्बन्ध में दो मत थे–

शाश्वतवाद और उच्छेदवाद। इनके विरोधस्वरूप भगवान बुद्ध ने एक मध्यवर्ती सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। उन्होंने संयोगात्मकता (उच्छेदवाद) को नकारते हुऐ वस्तुओं में तार्किक एकरूपता को स्वीकार किया। इसी के साथ उन्होंने किसी अप्राकृतिक सत्ता (ईश्वर) को इस तार्किकरूपता के कारण के रूप में अस्वीकार कर दिया। शाश्वतवाद का मूल परासत्ता में विश्वास करना था, लेकिन बुद्ध के अनुसार कारणात्मक नियम का आधार कारण की आन्तरिक शक्ति नहीं है, अपितु अनेक बाह्य वस्तुओं के संघात से इसका संबंध है। परिवर्तन प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अर्थात् कुछ शर्तों के पूर्ण होने पर ही कार्य परम्परा का नाश हो जाता है। जैसे–लौ का प्रकाश मिलने के लिए तेल, बत्ती और दीपक के संघात को एक विशेष क्रम में रखना पड़ता है। दीपक की लौ तभी मिलती है, जब दीपक कार्य करना बन्द कर देता है इसी प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम सार्वभौम है। इसमें किसी अपवाद का कोई स्थान नहीं, परन्तु इस नियम का कार्यान्वयन भी कुछ शर्तों पर निर्भर है। इसीलिए इसे प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है कि सापेक्ष रूप से उत्पन्न होना। अर्थात उत्पत्ति किसी न किसी प्रकार की शर्तों के पूर्ण होने पर ही संभव होती है। इसका विपरीत रूप भी मान्य है कि कारण न होने पर कार्य नहीं होता हैय 'अस्मिन् सति इदं न भवति'।

बौद्ध मनोविज्ञान, जिसके आधार पर ज्ञान की व्याख्या की जाती है, प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, नामरूप पाँच अवयव हैं, जो संघात को बनाते हैं और एक दूसरे पर आश्रित होते हुए उत्पन्न होते हैं। *संयुक्त निकाय* में यह कहा गया है, ''ये चारों महाभूत (अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी के तत्व) हेतु और पच्चय (कारण) के रूप में कार्य करके रूप स्कन्ध को जन्म देते हैं। स्पर्श वेदना संज्ञा के लिए हेतु और संस्कार (संखारक्कन्ध) का पच्चय (कारण) है। नाम और रूप दोनों विज्ञान स्कन्ध के लिए हेतु और पच्चय का कार्य करते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन का मूल स्तम्भ है। यह सभी बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में स्वीकृत है। स्वभाववाद की तरह इसमें नियतिवाद नहीं है। इसमें मानव प्रयास के लिए स्थान है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ के मन में उदित हुआ, जिसके कारण वे बुद्ध कहलाए। 'अस्मिन् सति इदं भवति' यह मूलमन्त्र है। 'अस्मिन् न सति इदं न भवति' यह भी उसका दूसरा रूप है। इसी प्रतीत्यसमुत्पाद में हम मानव दुःख के उच्छेद की आशा पाते हैं। भगवान बुद्ध की व्यवहारिक शिक्षा पर आने के पूर्व हम उनके दार्शनिक सिद्धान्त पर लगाये गये कुछ मुख्य आक्षेपों पर विचार करेंगे।

क्षणिकवाद पर प्रधान आक्षेप यह है कि इस प्रकार का सिद्धान्त स्मृति की व्याख्या कैसे करेगा? यदि सभी वस्तुएं निरन्तर परिवर्तनशील हैं तो किसी वस्तु की पहचान या प्रत्यभिज्ञा कैसे सम्भव है? इसके (प्रत्यभिज्ञा) उत्तर में, बौद्ध मत यह कहता है कि वस्तुएँ दो क्षणों में समान होती हैं, परन्तु वे एक ही नहीं होती हैं। हम समानता को एकता के रूप में भ्रम के कारण स्वीकार करते हैं। स्मृति की व्याख्या के लिए बौद्धों का यह कहना है कि प्रत्येक क्षण पूर्व के क्षण से संस्कार लेता है तथा पश्चात् क्षण को वह संस्कार दे देता है अर्थात् प्रत्येक पश्चगामी क्षण अपने पूर्वगामी क्षण की सभी सम्भावनाओं को अपने में समाहित किए रहता है और इस प्रकार जहाँ वातावरण अनुकूल होता है वहाँ सन्तान का उदय हो जाता है अतः मानव आत्ममय न होकर सन्तानमय है। आत्मा केवल संघात नहीं है अपितु पुनर्संघातित वस्तु भी है। इसी के आधार पर बौद्ध दर्शन नैतिक उत्तरदायित्व की भी व्याख्या करता है। बौद्ध दर्शन के सुत्तों तथा जातक कथाओं से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि किसी पापी को

उसके कर्मों का फल मिलेगा। बौद्ध दर्शन द्रव्य एकता का खण्डन करता है, लेकिन उसके स्थान पर निरन्तरता को मानता है। यदि हम दो श्रृंखलओं को इस प्रकार प्रदर्शित करें अ1, अ2, अ3,... और ब1, ब2, ब3,... यद्यपि ये दोनों श्रेणियाँ एक–दूसरे से भिन्न हैं और प्रत्येक श्रेणी के सदस्य भी एक–दूसरे से भिन्न है, लेकिन एक श्रेणी के सदस्यों में सन्तानगत धर्म समान हैं। यही समान धर्म उसे दूसरी श्रेणी से पृथक करते हैं। अतः बौद्ध मत 'एक प्रवाहित आत्मा' को स्वीकारता है। बहुत सारे विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि बौद्ध दर्शन में इस प्रकार से प्रच्छन्न रूप से आत्मा को स्वीकार कर लिया गया है। यह आत्म क्षणिक संवेदनाओं से ऊपर है, क्योंकि श्रृंखला कभी भी स्वयं अपनी प्रत्यभिज्ञा नहीं कर सकती। कुछ अन्य का कहना है कि बुद्ध ने आत्मा का खण्डन नहीं किया था लेकिन उनके परवर्ती अनुयायियों ने आत्मा का खण्डन किया। यद्यपि यह विवादास्पद बिन्दु है, लेकिन यह बिल्कुल सिद्ध है कि बौद्ध दर्शन में नैरात्म्यवाद और क्षणिकवाद का प्रमुत्व है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन चार भूतों की चर्चा करता है– पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु। बौद्ध आकाश के प्रत्यय में विश्वास नहीं करते। लेकिन हमें यह समझना चाहिए कि ये धर्मभूत केवल धर्मों जैसे कठोरता, द्रवता, ताप तथा दबाव आदि का संकेत मात्र करते हैं। ये धर्मी का संकेत नहीं करते हैं। सम्पूर्ण जड़ जगत् तथा शारीरिक संघात इन्हीं से निर्मित हैं। मनोवैज्ञानिक चित्त को बौद्ध मत में धर्म धातु कहा गया है। ये धर्म धातु मनोवैज्ञानिक भावों के उदय के कारण हैं। इसके दो आयाम हैं– व्यावहारिक आयाम तथा पारमार्थिक आयाम या तथता।

बौद्ध दर्शन का कारणमूलक सिद्धान्त व्यवहार पर ही लागू होता है और इसी के आधार पर पारमार्थिक आयाम का बोध हो जाता है। धर्म धातु प्रथम अर्थ में व्यावहारिक अस्तित्ववाले तत्वों को संकेत करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद यह बताता है कि सभी सत्ताएं परस्पर सापेक्ष हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर हैं, जड़ और मन भी एक–दूसरे पर निर्भर हैं। धर्म धातुजगत् की दृष्टि से परिवर्तनशील संसार का संकेत करता है, जिसमें जन्म–मृत्यु और जरा आदि होते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्षता का सिद्धान्त है। कोई भी प्राणी इसका उल्लंघन नहीं करता है। अतः इस अर्थ में केवल प्रज्ञायान बुद्ध ही धर्म धातु के ऊपर हैं। तथता के अर्थ में धर्म धातु निर्वाण है। यह निर्वाण की अवस्था है, जो बन्धन और परिवर्तन से ऊपर है।

16.4 बौद्ध दर्शन की नैतिक शिक्षाएं

बौद्ध दर्शन की नैतिक शिक्षाएँ उसकी सैद्धान्तिक शिक्षाओं से संगति रखती हैं। यदि सभी वस्तुएं अनित्य हैं, तो उनका संग्रह अपने लिए या दूसरे के लिए अर्थहीन है। उनकी इच्छा भी भ्रमात्मक है। हमें अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। उनकी तृष्णा हमें स्वयं अस्तित्व की तृष्णा प्रदान करती हैं। यदि कोई आत्मा नहीं है, तो हमें इस तृष्णा से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। आत्म निषेध से आत्मा के लिए प्राप्त की जाने वाली वस्तुओं की तृष्णाएं स्वय समाप्त हो जाती हैं और इनके साथ ही प्रेम और घृणा के बीज भी नष्ट हो जाते हैं। आत्मा में विश्वास भ्रामक है। ऐसा विश्वास अविद्या के कारण ही है, जो दोषपूर्ण है। उपनिषदों की तरह यहाँ भी अशुभ को अविद्या से उत्पन्न बताया गया है और उससे छुटकारा सम्यक् ज्ञान से ही हो सकता है। लेकिन दोनों दर्शनों मे अविद्या का अर्थ भिन्न–भिन्न है। उपनिषदों में अविद्या तात्विक एकता के अज्ञान को दर्शाती है, लेकिन बौद्ध दर्शन में यह अपने खोखलेपन को जानने में असमर्थता को दर्शाती है। बौद्ध दर्शन में सम्यक् ज्ञान चार आर्यसत्यों का ज्ञान है। ये हैः

- दुःख: संसार में दुःख व्याप्त है।
- दुःख–समुदय: दुःख का कारण है।
- दुःख–निरोध: दुःख का निदान है।
- दुःख–निरोध–प्रतिपदा–गामिनी: दुःख निदान का मार्ग है।

भगवान बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्यों का अज्ञान ही दुःख और जन्म–मृत्यु के चक्कर में डालता है। बुद्ध ने दुःख को रोग के रूप में लिया और इससे छुटकारा पाने के लिए वैद्य की तरह वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया। जब उन्होंने इसके यथार्थ कारण को जान लिया तब उन्होंने निदान का निरूपण किया। बिना भली प्रकार विश्लेषण किये किसी रोग से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इसलिए भगवान बुद्ध ने दुःख–समुदय के ज्ञान के पश्चात् ही इसके निदान का उपदेश दिया। इसलिए भगवान् बुद्ध को कुशल चिकित्सक भी कहा जाता है। प्रथम तीन आर्य सत्य भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के सैद्धान्तिक आयाम को प्रदर्शित करते हैं जबकि चतुर्थ आर्य सत्य उनके व्यावहारिक नैतिक आयाम को प्रदर्शित करता है।

प्रथम आर्यसत्य यह घोषणा करता है कि सब कुछ दुःखमय है। बौद्ध ग्रन्थ बारम्बार कहते हैं कि जन्म दुःखमय है। विनाश दुःखमय है। अशुभ के साथ संयोग दुःखमय है। शुभ के साथ वियोग दुःखमय है। तृष्णा का पूर्ण न होना दुःखमय है। संक्षेप में पाँच स्कन्ध (रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार) जो राग के कारण संकलित होते हैं, दुःखमय हैं।

द्वितीय आर्यसत्य दुःख के कारण का निरूपण करता है, क्योंकि कोई भी घटना अकारण नहीं होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद का सूत्र 'अस्मिन् सति इदं भवति' इसी को प्रदर्शित करता है। बुद्ध के अनुसार इस कारण का मूल अविद्या है। बुद्ध ने उस क्रम का निरूपण किया जिसके माध्यम से अविद्या अशुभ को जन्म देती है। इसे द्वादश–निदान कहते हैं जो इस प्रकार हैं–

अविद्या

संस्कार

विज्ञान

नामरूप

षडायतन (पांच इन्द्रिय एवं मन अपने विषयों सहित)

स्पर्श (इन्द्रिय–विषय सम्पर्क)

वेदना

तृष्णा

उपादान

भव

जाति (जन्म–पुनर्जन्म)

जरा–मरण

यह क्रम केवल इस जन्म से ही सम्बन्धित नहीं है अपितु पूर्व और अग्रिम जन्म से भी सम्बन्धित है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि दुःख के मूल कारण अविद्या से इच्छा और इच्छा से क्रिया का जन्म होता है, जिससे पुनर्जन्म और नयी इच्छा की संभावना प्रबल हो जाती है। इसे संसार–चक्र या भवचक्र कहा जाता है।

तृतीय आर्यसत्य दुःख निरोध की चर्चा करता है। अस्तित्व की श्रृंखला को तोड़ने का अर्थ है भव–निरोध। द्वादश निदान के प्रत्येक सदस्य के उत्पन्न होने के पीछे कोई न कोई कारण होता है। यदि कारण सामग्री हटा दी जाए जो कार्य भी हट जाता है। जब इच्छाओं का विनाश होता है तो लोभ, घृणा ओर मोह के भी बीज नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार हम द्व ादश–निदान की श्रृंखला को भंग कर सकते हैं। निर्वाण का उद्देश्य सभी प्रकार के दुःखों का निरोध और जन्म–मृत्यु के चक्कर से छुटकारा पाना है। बौद्ध कारण सिद्धान्त द्वादश निदान के रूप मे घटना चक्र के उत्पन्न के उन कारणों का निरूपण करता है, जो दुःख को जन्म देते हैं, लेकिन इस क्रम को अनिवार्य रूप से बने रहना जरूरी नहीं है। इस श्रृंखला का प्रारम्भ है लेकिन इसका अन्त भी किया जा सकता है।

चतुर्थ आर्य सत्य उस मार्ग की चर्चा करता है जिसके माध्यम से हम निर्वाण तक पहुँच सकते हैं और दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं। संसार से छुटकारा दिलाने वाला और मनुष्य को मुक्ति दिलाने वाला आष्टांगिक मार्ग यह है:–

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि।

संक्षेप में, चार आर्य सत्यों का सम्यक् ज्ञान अथवा प्रज्ञा समस्त साधना का आधार है। प्रज्ञा केवल बौद्धिक विश्वास नहीं है, अपितु साक्षात् अनुभूति है। बुद्ध ने कहा है कि निर्वाण स्वश्रम का फल है। इसकी प्राप्ति शील और समाधि से होती है। शील का अर्थ है सम्यक् आचार जिसके अन्तर्गत् सत्य, संतोष और अहिंसा जैसे सद्गुण आते हैं। समाधि ध्यान है जिसके माध्यम से मन शान्त होकर तत्त्व का स्पष्ट और पूर्ण साक्षात्कार करता है।

सम्यक् आजीव जनों के लिए पृथक बताया गया है। अतः यह श्रमणों के आचार से पृथक् है लेकिन दोनों के लिए यह बहुत कठोर नहीं है बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपना कर स्वार्थ सुख और स्व के लिए कठोर तप दोनों के परित्याग करने पर बल दिया है। अधिक भौतिक सुखों में रमना आर्यों के लिए श्रेयस्कर नहीं है। अधिक तप से मन अशान्त होता है। पूर्ण मार्ग दोनों के मध्य में है। यह मध्यमा प्रतिपदा चक्षु प्रदान करने वाली, मन को शान्ति देने वाली, बुद्धि को ज्ञान देने वाली तथा मानव को निर्वाण देने वाली है।

16.5 निर्वाण

समस्त साधना का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण चरम लक्ष्य है और जिसने उसको उपलब्ध कर लिया है, वह अर्हत् है। बौद्धों के लिए निर्वाण वही है, जो हिन्दुओं के लिए मोक्ष है, चीन के रहस्यवादियों के लिए ताओ है, सूफियों के लिए फना है, और क्राइस्ट के अनुयायियों के लिए नित्य जीवन है। निर्वाण का मूल अर्थ है 'बुझ जाना।' यह राग दोष और मोह रूपी अग्नि का शान्त होना है। जहाँ यह शान्त होता है, वहाँ पूर्ण शान्ति की प्राप्ति होती है। शरीर के विनाश के पश्चात् परिनिर्वाण की प्राप्ति होती है। अतः निर्वाण मरने की बाद की अवस्था नहीं है अपितु रागों के क्षय से इस जीवन में प्राप्त होने वाली

अवस्था है। अर्हत्, शरीर और मन के नाश के बाद, परि–निर्वाण की अवस्था को प्राप्त करता है। अतः निर्वाण के दो आयाम हैं जिसे दो शब्दों 'बुझना' और 'शान्त होना' से कहा जा सकता है। एक निषेधात्मक पहलू को दर्शाता है तथा दूसरा भावात्मक पहलू को। इसे केवल वैचारिक माध्यम से नहीं जाना जा सकता है। अपितु यह स्व के अनुभव का विषय है। इसलिए बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा है– 'आत्मदीपो भव'।

16.6 कर्म

बौद्ध दर्शन पर कोई भी चर्चा अन्तिम रूप से कर्म की चर्चा किए बिना सम्पन्न नहीं हो सकती। यह बौद्ध दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। बौद्धों ने मानव अस्तित्व को धर्मों के संघात के रूप मे देखा है। जिसमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है। अतः आत्मा को अस्वीकार करने से बौद्ध दर्शन का पुनर्जन्म का सिद्धान्त असंगत प्रतीत होता है। डायसन ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि उपनिषदों की तरह बौद्धों के लिए एक ऐसी नित्य आत्मा को मानना आवश्यक है जो व्यक्तिगत रूप से क्रमों का फल भोगती हो तथा जन्मान्तर में रहती हो। इसके निषेध के कारण तथा पुनर्जन्म को मानने के कारण बौद्धों का मत व्याघाती प्रतीत होता है। लेकिन वास्तव में यह सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के लिए कोई तार्किक कठिनाई पैदा नहीं करता है। यदि कर्ता के बिना क्रिया हो सकती है, तो आत्मा के बिना पुनर्जन्म भी हो सकता है।

कर्म का अर्थ एकाकी क्रिया है। यह कहने में कोई दोष नहीं है कि कर्म अनित्य है अतः उनको धारण करने वाला भी अनित्य है। लेकिन यह कैसे कहा जा सकता है कि कर्मों को धारण करने वाला (अनित्य तत्व) पुनर्जन्म लेता है, क्योंकि जब व्यक्ति मरता है तो उसका कर्त्तापन उसी समय नष्ट हो जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार यद्यपि कोई व्यक्ति विशेष पुनर्जन्म नहीं ले सकता, लेकिन एक दूसरा उसी के स्वभाव वाला जन्म ले सकता है, ठीक उसी प्रकार से जैसे एक जलते हुए दीपक से एक दूसरे दीपक को जलाकर उसके प्रकाश और ताप का संचारण किया जा सकता है। पुनः, बौद्ध मत के अनुसार प्रत्येक क्षण में हम पुनर्जन्म लेते हैं केवल जीवन के अन्तिम काल के बाद ही पुनर्जन्म नहीं होता है। इस सन्दर्भ में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। ये दो बातें हैं कि कर्म शब्द कर्म को भी संकेत करता है तथा कर्म से उत्पन्न प्रभाव को भी। जिससे कर्ता का स्वरूप बदल जाता है। बौद्ध दर्शन यह मानता है कि पुनर्जन्म के बाद भी सन्तान की परम्परा कायम रहती है। कर्म का अर्थ पूर्वजों से प्राप्त गुण नहीं हैं अपितु पूर्व जन्म से प्राप्त सन्तान की धारा से उत्पन्न कर्म हैं।

संयुक्त निकाय के (3.1.4) में कहा गया है कि "कोई भी जो अपने से प्रेम करता है, उसे बुरी आदतों से दूर रहना चाहिए क्योंकि सुख बुरी आदतों में नहीं पाया जाता।" अतः बुद्ध यह घोषणा करते हैं कि इस जन्म के पुण्य अगले जन्म में अपना प्रभाव दिखाते हैं। *मिलिन्दपन्हो* में यह कहा गया है कि जगत् में असमानता का मूल कर्म है।

बौद्धों ने फलात्मक कर्म और निस्फलात्मक कर्म में भेद किया है। जब कर्म लालच, घृणा और द्वेष से परिचालित होकर किये जाते हैं, तो वे अपने फलों को इस जन्म में या अगले जन्म में देते हैं लेकिन जो कर्म लालच, घृणा और द्वेष से परिचालित नहीं होते, वे अगले जन्म में इस प्रकर के फल नहीं देते हैं।

बुद्ध यह स्पष्ट करते है कि एक ही कर्म दो व्यक्तियों द्वारा किये जाने पर मनोभावों, में भेद होने से पृथक्–पृथक् दण्ड और पुरस्कार या फल दे सकता है। *अंगुत्तर निकाय* में स्पष्ट किया गया है कि एक ही कर्म दो व्यक्तियों द्वारा समान रूप से करने पर भी जो दुष्ट हैं अर्थात् जो प्रज्ञा–शील–समाधि में प्रवीण नहीं है तथा जो बुराइयों से घिरा है, वह इनका फल इस जन्म में भी ओर नर्क में भी भोगेगा। इसके विपरीत, प्रबुद्ध, जो अपने आचार–विचार में जाग्रत् है, उसे यहाँ भी निर्मूल कर सकता है। नर्क का अर्थ यहाँ दण्ड की कठोरता है। बुद्ध ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा कि एक ही नमक का रोड़ा यदि एक ग्लास पानी में डाला जाय तो उसका स्वाद नमकीन होगा लेकिन गंगा में डालने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

जरा–मरण के चक्र को भवचक्र कहते हैं। यह तब तक चलता रहेगा जब तक इसके प्रति व्यक्ति की तृष्णा रहेगी। इसके परे जाकर निर्वाण की प्राप्ति चार आर्य सत्यों के ज्ञान से हो सकती है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. भगवान बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्य क्या हैं?

....

....

....

....

....

2. भगवान बुद्ध के अनुसार निर्वाण क्या है?

....

....

....

....

....

16.7 सारांश

उपरोक्त विवेचन में हमने देखा कि बुद्ध के अनुसार आत्मा प्रवाहमान, सन्तान युक्त है। अतः आत्मा को न मानते हुए भी पुनर्जन्म को या कर्म सिद्धान्त को मानना दोष पूर्ण नहीं है। इसका अर्थ मात्र इतना है कि जो कुछ भी घटता है उसका संग्रह संस्कार रूप में कहीं न कहीं होता रहता है और उसे ही कर्त्ता कहा जाता है। बुद्ध ने इस इस समस्त सिद्धान्त को

बौद्धिकता प्रदान की तथा जड़वादी और अध्यात्मवादी आवरण से मुक्त किया। अतः बौद्ध दर्शन में कर्म सिद्धान्त नैतिकता के क्षेत्र में स्व–परिचालित होने वाला एक सिद्धान्त है।

16.8 कुंजी शब्द

जातक कथा : जातक कथाओं का सम्बन्ध बुद्ध के अनेक जन्मों से है। थेरवाद में इसका विस्तृत साहित्य है। ये *सब खुद्दक निकाय के* अन्तर्गत् आती हैं, जो *सुत्त पिटक* का भाग हैं। जातक का अर्थ इस ग्रन्थ पर टीका से ही है।

16.9 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

ग्रीम, जी. *द डॉक्ट्रिन ऑफ बुद्धा.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1965.

जान्सन. अर्ली. *बुद्धिस्ट थ्योरी ऑफ नालेज.* लन्दनः जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि., 1971.

डेविस, रीस. *ए मैनुअल आफ बुद्धिज्म.* लन्दनः मिथयुन, 1934.

प्रसाद, एच एस. द सेन्ट्रलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज्म. देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2007.

मूर्ति, टी.आर.वी. द *सेन्ट्रल फिलोसॉफी आफ बुद्धिज्म.* लन्दनः जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि, 1929.

वारेन, एच.सी. *बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1987.

राधाकृष्णन्, एस. (ट्रांस.) *धम्मपद.* लन्दनः ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1956.

शेरवात्स्की. *द सेन्ट्रल कन्सेप्सन ऑफ बुद्धिज्म.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1974.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

सूरी, हरिभद्र. *षडदर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसीः चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. जब सिद्धार्थ ने आँखे खोली तो जगत् को दुःख से भरा हुआ पाया और इसका हल पाने के लिए वो बेचैन हो गये। उनके लिए व्यक्तिगत जीवन में पायी जाने वाली (दुःख, बीमारी, वृद्धावस्था आदि) यह समस्या एक सार्वभौम समस्या का उदाहरण है। जब उन्होंने जाना कि इन्द्रिय सुख अर्थहीन है, निःसार है, तो उन्होंने राज्यभोग के सुखों को परित्याग कर उस समय की परिपाटी के अनुसार सत्य के अन्वेशण के लिए जंगल का आश्रय लिया।

2. यद्यपि बौद्ध दर्शन एक नास्तिक दर्शन है तथा औपनिषदिक दर्शन से भिन्न है, फिर भी यह मत कुछ औपनिषदिक धाराओं को परिपक्व करता हुआ दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए, उपनिषदों में वैयक्तिक ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है और बुद्ध ने पूरी तरह से ईश्वर के प्रत्यय को ही नकार दिया। उपनिषदों में आत्मा का नेति–नेति करके वर्णन किया गया है और भगवान बुद्ध ने इसका पूर्णरूप से परित्याग कर दिया। कर्म सिद्धान्त में विश्वास पुनः बौद्ध दर्शन पर उपनिषदों के प्रभाव को परिलक्षित करता है।

बोध प्रश्न 2

1. बौद्ध दर्शन में विद्या का अर्थ चार आर्य सत्यों का ज्ञान है, जो इस प्रकार है–

   दुःख

   दुःख–समुदाय

   दुःख–निरोध

   दुःख–निरोध–प्रतिपदा–गामिनी

2. निर्वाण का अर्थ है, 'बुझ जाना' या 'शान्त हो जाना'। यह राग, द्वेष और मोह की अग्नि का शान्त हो जाना है। बुझने की अवस्था और शान्ति प्राप्त करने की अवस्था एक ही सिक्के के दो पहलू है। शरीर के नष्ट होने के बाद जब यह अवस्था प्राप्त होती है तो उस परिनिर्वाण कहते हैं, लेकिन शरीर के रहते हुए भी यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है। इस अवस्था में हमारे राग और द्वेष नष्ट हो जाते है तथा चित्त शान्त हो जाता है। इस अवस्था में जीव को अर्हत् कहते है। बुझना और शान्त होना निर्वाण के निषेधात्मक और भावात्मक पहलू को दर्शाते हैं, जिसका बोध स्वानुभव गम्य है। इसलिए, भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा कि "यह सत्य के ज्ञान के लिए स्वयं आगे आये अर्थात् आत्म दीपो भव।"

इकाई 17 बौद्ध दर्शन–II[17]

रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 परिचय

17.2 वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

17.3 योगाचार सम्प्रदाय

17.4 माध्यमिक सम्प्रदाय

17.5 बौद्ध सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि

17.6 माध्यमिक का शून्यवाद

17.7 सारांश

17.8 कुंजी शब्द

17.9 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

17.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध दर्शन व्यावहारिक है एवं आचार को प्रमुखता देता है। इनके दर्शन का प्रमुख लक्ष्य दुःख निरोध है। इसलिए इस दर्शन में तत्त्वमीमांसीय ऊहा–पोह के लिए स्थान कम है। लेकिन भगवान बुद्ध के उपदेशों में उनके अनुयायियों की दृष्टि से अनेक अस्पष्टता विद्यमान थी। जिसके कारण उनकी अनेक व्याख्याएं हुईं। इससे बौद्ध परम्परा में अनेक सम्प्रदायों का उदय हुआ। विद्वानों के अनुसार किसी समय अकेले भारत में अट्ठारह बौद्ध सम्प्रदाय थे। लेकिन सुविधा के लिए इन संप्रदायों का वर्गीकरण मुख्यतः दो भागों– हीनयान और महायान में किया जाता है। इस इकाई में आप निम्नांकित तथ्यों से अवगत होंगे–

- वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय
- बौद्ध दर्शन का योगाचार सम्प्रदाय
- माध्यमिक सम्प्रदाय
- बौद्ध सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि
- माध्यमिक का शून्यवाद

[17] प्रो. सुधा गोपीनाथ, कोरामंगला, बैंग्लोर, अनुवाद– प्रो. ए के राई, बीएचयू, वाराणसी

17.1 परिचय

बोधि प्राप्ति के पश्चात् भगवान बुद्ध ने सर्वप्रथम अपने पाँच शिष्यों को सारनाथ में अपने साक्षात्कृत सत्य का उपदेश दिया। जिसे धर्म–चक्र प्रवर्तन की संज्ञा दी गयी। धीरे–धीरे शिष्यों की संख्या बढ़ती चली गयी और एक ऐसी संगत उत्पन्न हो गयी जो इस धर्म के प्रचार के लिए कटिबद्ध थी। कालान्तर में बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार हुआ और विश्व में एक नये धर्म का अभ्युदय हुआ। जब बुद्ध ने अपने पिता के राज्य में प्रवेश किया, तो उनके परिवार के लोग भी उनके शिष्य हो गए। अपने प्रिय शिष्य आनन्द को उन्होंने अन्तिम उपदेश दिया और 80 वर्ष की अवस्था में उनका निर्वाण हुआ।

बौद्ध दर्शन के प्रारम्भिक काल में ही इसके विभिन्न दार्शनिक समुदायों में विवाद उत्पन्न हो गया। बुद्ध के पश्चात् दो बौद्ध संगीतियां हुई। प्रथम संगीति बुद्ध के देहान्त के तुरन्त बाद और दूसरी संगीति देहान्त के सौ वर्ष पश्चात् हुई। द्वितीय संगीति में बड़ा विवाद हुआ और महासांघिकों ने संघ की क्रिया शैली तथा कुछ निश्चित सैद्धान्तिक मतभेदों के चलते अपना सम्प्रदाय पृथक कर लिया। वे स्वयं को बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति समर्पित बताते थे एवं इसलिए उन्होंने अपने दार्शनिक सम्प्रदाय को थेरवाद (महायान) 'बड़ों का सिद्धान्त' कहा। शाब्दिक अर्थ में महायान अर्थ 'बड़ायान' है और हीनयान का अर्थ 'छोटायान' है। स्पष्ट है कि हीनयान का प्रयोग महायानियों ने उनको नीचा दिखाने के लिए किया होगा।

बौद्ध दर्शन के मुख्य सिद्धान्त तत्त्वमीमांसीय और धर्मशास्त्रीय न होकर मनोवैज्ञानिक हैं। लेकिन बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अनुयायी सूक्ष्म तत्त्वमीमांसीय तर्कों में उलझ कर रह गए। भगवान बुद्ध को प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान हुआ था जिसका मूल चार आर्य सत्यों में निहित था। थेरवाद या हीनयानी बौद्धों का कहना है कि वे ही बुद्ध के असली समर्थक हैं और वे ही उनकी शिक्षाओं के प्रति समर्पित हैं। लेकिन महायानियों का कहना है कि भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के वास्तविक रहस्य को महायान प्रदर्शित करता है। महायान बौद्धों का कहना है कि यह जो सम्प्रदायगत भेद दिखाई पड़ता है, उसका कारण यह है कि हीनयान द्वारा स्वीकृत उपदेश उन निम्न कोटि के साधकों के लिए दिया गया था जो बौद्ध मत की यथार्थ और उच्च शिक्षाओं को धारण करने में असमर्थ थे। सत्य कुछ भी हो लेकिन हीनयान और महायान दोनों की शिक्षाएं प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से भिन्न हैं। तथापि यह भी सत्य है कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में ही विभिन्न सम्प्रदायों के बीज निहित हैं। जिसने इन सम्प्रदायों को अलग–अलग दिशा में सोचने को प्रेरित किया। विद्वानों के अनुसार बौद्ध दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदाय हैं; योगाचार, माध्यमिक, वैभाषिक और सौतान्त्रिक। योगाचार और माध्यमिक महायान के सम्प्रदाय हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक यथार्थवादी या सर्वास्तिवादी हैं, विश्व की देश और काल में उपस्थित स्वसत्ता है, ऐसा विश्वास रखते हैं। जबकि योगाचार विज्ञानवादी हैं और माध्यमिक शून्यवादी हैं।

बौद्ध दर्शन के उत्तर कालीन सम्प्रदायों के विषय में साहित्य ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी में सामने आया। लेकिन उनमें से कुछ संस्कृत ग्रंथ नष्ट हो गये हैं। वैभाषिक सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति हैं। दिङ्नाग का काल विद्वानों के अनुसार 500 ई. है। दिङ्नाग का प्रमुख ग्रन्थ *प्रमाणसमुच्चय* है। धर्मकीर्ति का प्रमुख ग्रन्थ *न्यायबिन्दु* है। कुमारलाभ को सौत्रान्तिक का प्रवर्तक कहा जाता है। योगाचार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य असंग और वसुबन्धु हैं। ये दोनों भाई थे तथा संभवतः तीसरी शताब्दी में थे। ऐसा कहा जाता है कि वसुबन्धु प्रारम्भ में यथार्थवादी अर्थात् सौत्रान्तिक थे, लेकिन अपने भाई असंग के प्रभाव के कारण बाद में विज्ञानवादी बन गये।

वसुबन्धु का *अभिधर्मकोश* विज्ञानवाद सम्प्रदाय का एक प्रमुख ग्रन्थ है। इन्होंने इस पर टीका भी लिखी है। इसमें तत्वमीमांसा, मनोविज्ञान, खगोल विज्ञान, मुक्ति का सिद्धान्त, आचारों की चर्चा तथा और भी अन्य सिद्धान्त हैं जिनको अधिकांश बौद्ध मत स्वीकार करते हैं। योगाचार सम्प्रदाय का अन्य ग्रन्थ *लंकावतारसूत्र* है। नाम से स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध लंका से है तथा ऐसा विश्वास किया जाता है कि भगवान बुद्ध ने इसका उपदेश लंका के राजा रावण को दिया था। माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य नागार्जुन हैं। वह एक महान चिन्तक थे तथा कुछ विद्वान यह भी विश्वास करते हैं कि वह अश्वघोष के शिष्य थे, जिनका काल ईसा के बाद 100वीं शताब्दी का है। अश्वघोष एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक, कवि और नाटककार थे। उनके प्रमुख ग्रन्थों *बुद्धचरित, सौन्दरानन्द* तथा नाटक *सारिपुत्रप्रकरण* के द्वारा बुद्ध की शिक्षाओं का और उनके जीवन का चित्रण प्राप्त होता है। नागार्जुन का ग्रन्थ मूल *माध्यमिक–कारिका* एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर चन्द्रकीर्ति ने टीका लिखी। आर्यदेव का *सत् शास्त्र* या *चतुःशतक* इस सम्प्रदाय का एक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आर्यदेव नागार्जुन के शिष्य थे।

17.2 वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से हीनयान को सर्वास्तिवाद कहा जाता है। सर्वास्तिवाद का मानना है कि चित्त को विषय का ज्ञान होता है। ज्ञान में वस्तु प्रकाशित होती है, निर्मित नहीं। वस्तु हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। हीनयानी चिन्तक या सर्वास्तिवादी यह विश्वास करते हैं कि वस्तुएं क्षणिक होते हुए भी बाह्यार्थ के रूप में अपना अस्तित्व रखती हैं। लेकिन वैभाषिकों का यथार्थवाद सौत्रान्तिकों से भिन्न है। वैभाषिक यह विश्वास करते हैं कि वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है जबकि सौत्रान्तिक यह मानते हैं कि उनका साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष के समय उनका आस्तित्व क्षणिक होने के कारण वर्तमान नहीं रहता है। साक्षात् बोध होने में वस्तु का अस्तित्व दो क्षण के लिए मानना पड़ेगा। प्रथम क्षण जब वस्तु ज्ञाता के मन को संवेदित करती है और दूसरा क्षण वह है जब वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। अतः साक्षात् बोध केवल सन्तान के उत्तरवर्ती सदस्य का होता है, वस्तु का नहीं। लेकिन सन्तान के सभी सदस्य नष्ट होने के पूर्व अपना संस्कार प्रत्यक्षकर्ता के मन पर छोड़ देते हैं और इस संस्कार (आकार) से ही हम यथार्थ वस्तु के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। अतः तथाकथित प्रत्यक्ष वास्तव में भूतकाल का निर्देश करता है और वास्तव में यह अनुमान है। बाह्यवस्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष वस्तुओं की प्रतिलिपि अथवा प्रतिबिम्ब हैं। इस प्रकार सौत्रान्तिक सिद्धान्त प्रत्यक्ष के प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त को मानता है। लेकिन वे यथार्थवादी इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वे बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को मानते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं अस्तित्व नहीं होगा तो सबकुछ भ्रमात्मक हो जाएगा।

सौत्रान्तिकों के विपरीत, वैभाषिक यह मानते हैं कि वस्तुओं का साक्षात् बोध होता है। वे कहते हैं कि सौत्रान्तिकों की स्थिति अनुभव के विपरीत है। प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुभव नहीं हो सकता। लेकिन यह आक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सौत्रान्तिकों के अनुसार वस्तु का अस्तित्व अनुमान का विषय नहीं है किन्तु उनका ज्ञान अनुमेय है। वे केवल ज्ञान की प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं। वास्तव में, वैभाषिक और सौत्रान्तिक में बहुत कम अन्तर है। दोनों सम्प्रदाय यह विश्वास करते हैं कि स्वलक्षण (विशेष) ही यथार्थ है और सामान्य लक्षण (सामान्य) कल्पना है। सामान्य के विषय में दोनों नामवादी है। वे सामान्य के वास्तविक रूप को नहीं मानते हैं। बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष के विषय में 'प्रमाण' शीर्षक के अन्तर्गत् विचार किया जाएगा।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. बुद्ध के मौन पर टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

2. बौद्धों के विभिन्न सम्प्रदायों के नाम बताइये?

....

....

....

....

....

17.3 योगाचार सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का एक दूसरा नाम विज्ञानवाद है। जैसा कि नाम से ही ध्वनित होता है, यह सम्प्रदाय आत्मनिष्ठ विज्ञानवादी है। ऐसा कहा जा सकता है कि विज्ञानवाद सौत्रान्तिकों के प्रतिबिम्बवादी सिद्धान्त का प्रतिफल है। अनुभव के तीन प्रमुख घटकों अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में से विज्ञानवादियों के लिए मात्र ज्ञान यथार्थ है। न ज्ञाता है, न ज्ञेय है अपितु केवल विज्ञानों का प्रवाह है। किसी विशेष समय में ज्ञान का स्वरूप वस्तु के द्वारा निर्धारित न होकर अतीत संस्कारों के द्वारा निर्धारित होता है; अर्थात् वेदना आन्तरिक है (बाह्य) नहीं। चैतन्य को छोड़कर किसी भी वस्तु का अनुभव नहीं होता है, इसलिए चित्त और वस्तु एक ही हैं। क्षणिकवाद के आधार पर योगाचार द्रव्यों का खण्डन करता है और वस्तुओं को क्षणिक प्रवाह भर मानता है। चूंकि क्षणिक रूप में वस्तुएं अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकतीं, अतः विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यवस्तु को मानना सम्भव नहीं है। अतः बाह्य जगत् केवल ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से ही नहीं अपितु सत्तामीमांसीय दृष्टि से भी चेतना सापेक्ष है। स्वप्न के उदाहरण से योगाचार यह सिद्ध करता है कि वस्तु के बिना भी वस्तुबोध होता है। ज्ञान का स्वयं संवेदन होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की एकता होती है। जिन्हें हम वस्तुएं कहते हैं, वे विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार से प्रतिभासित होती हैं और एक ही व्यक्ति को विभिन्न काल में भिन्न–भिन्न रूप से प्रतिभासित होती है। ऐसा इसलिए संभव होता है क्योंकि वस्तुओं का बाह्य अस्तित्व है ही नहीं। किन्तु योगाचार द्वारा प्रस्तुत तर्क आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद की सिद्धि के लिए बहुत प्रबल नहीं दिखाई पड़ता है, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय का सन्निकर्ष आत्मनिष्ठ पहलु रखते हुए भी बाह्य वस्तु का संकेत कर सकता है।

विज्ञानवाद के सिद्धान्त को संक्षेप में निम्नांकित प्रकार से प्रकट किया जा सकता है:

ज्ञान में जिसकी प्रतीति होती है उसका कोई बाह्य प्रतिनिधि नहीं होता है और जो बाह्य है उसकी ज्ञान में प्रतीति नहीं होती।

ज्ञान के द्वैतवादी सिद्धान्त में प्रतिभिज्ञा अर्थात् ज्ञान और वस्तु में जो सारूप्यता है उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। अज्ञात वस्तु की अबोधगम्यता यथार्थवादी परिकल्पना को संदेहास्पद बना देती है।

भ्रम या स्वप्न में आने वाली वस्तुएं, मृगमरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि से यह सिद्ध है कि बाह्य वस्तुओं के अभाव में चेतना स्वयं अपना विषय निर्माण कर लेती है। हम अनुभव के सभी तथ्यों की व्याख्या इस आधार पर कर सकते हैं कि चेतना में कर्म के कारण अतीत वासनाएं (भूतकालीन कर्मों का प्रभाव) रहती हैं और यही चेतना के विषय के उदय का कारण होती हैं।

जिस प्रकार स्मृति में अनेक संग्रह होते हैं लेकिन स्मरण करने पर कुछ का ही स्मरण होता है, उसी प्रकार हमारी चेतना में स्थित असंख्य संस्कारों में से केवल कुछ ही किसी विशेष समय और परिस्थितियों में प्रकट हो पाते हैं तथा आन्तरिक एवं बाह्य वस्तु के रूप में प्रतीत होते हैं। योगाचार इस दृष्टि से चेतना को आलय विज्ञान कहता है क्योंकि इसमें अतीत वासनाएं और संस्कार संगृहीत रहते हैं। संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि योगाचार के अनुसार चेतना कोई अपरिवर्तनशील द्रव्य नहीं है, अपितु सतत् प्रवाहमान संस्कारों की धारा है। जब तक कोई बन्धन में है, संस्कार, विचार, इच्छा की धारा उसके चित्त में कर्म के नियम के अनुसार प्रकट होती रहती है। आसक्ति और अज्ञान पर विजय प्राप्त कर लेने पर चैतन्य की एकमात्र सत्ता का बोध होता है।

17.4 माध्यमिक सम्प्रदाय

बुद्ध की शिक्षाओं का प्रमुख प्रतिफल माध्यमिक सम्प्रदाय के रूप में आता है। इसका शाब्दिक अर्थ मध्यम मार्ग है। माध्यमिक शाश्वतवाद और उच्छेदवाद (आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में), एकता और अनेकता, के मध्य में मध्यमार्ग का अनुगामी है। ज्ञान के विषय में इनकी दृष्टि अनोखी है। बौद्ध दर्शन के अन्य सम्प्रदाय कम से कम ज्ञाता को मानते हैं, लेकिन माध्यमिक सम्प्रदाय सम्पूर्ण ज्ञान के घटकों पर ही प्रश्न–चिन्ह लगाता है। माध्यमिक के अनुसार, सम्पूर्ण ज्ञान की आलोचना की आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान का कोई भी घटक स्वतः प्रामाणिक नहीं होता है। सामान्यतः हम विश्वास करते हैं कि ज्ञान के द्वारा हमें वस्तु का बोध होता है, लेकिन जब हम वस्तु का अनुसंधान करते हैं, तो हमें विरोधों का भंडार मिलता है। ज्ञान की पिपासा में मानव जगत् को भिन्न समझता है। लेकिन समस्त ज्ञान सापेक्ष है। ज्ञान यदि किसी को अभिव्यक्ति करता है तो वह निर्विकल्पक ही है। वैकल्पिक ज्ञान संवेदन और प्रत्यय से बनते हैं और नाम रूप वाले होते हैं। इसलिए दार्शनिकों के द्वारा कही जाने वाली वस्तुएं नाम और रूप वाली होती हैं। यह अविद्या है, जो दुःख का कारण है। नागार्जुन ने सम्पूर्ण वैचारिक परिकल्पना की सापेक्षता का उपदेश दिया है तथा प्रतिपादित किया है कि उनसे रागमुक्त होकर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है।

विज्ञानवाद निःस्वभाववाद है, क्योंकि यह विषयी और विषय के द्वैत में विश्वास नहीं करता है। इसी प्रकार माध्यमिक भी निःस्वभाववाद है, क्योंकि इसके अनुसार भी विषयी और

विषय निरपेक्षतः अस्तित्व न रखकर सापेक्ष होते हैं। दोनों में भेद यह है कि जहाँ माध्यमिक वस्तुओं के तार्किक स्वरूप का विश्लेषण करता है तथा उन्हें सार रहित पाता है वहीं विज्ञानवाद मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत् को देखता है और वस्तु की सत्ता का निषेध करता है। उसके लिए वस्तु परिकल्पित मात्र है। विज्ञान के विकार के कारण इसकी उपलब्धि होती है। माध्यमिक के अनुसार न तो चित और न ही बाह्यार्थ (मन से भिन्न वस्तु) का निरपेक्ष अस्तित्व है। दोनों शून्य हैं। इसलिए ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी होता है और परिस्थिति के अनुसार वैध/अवैध हो सकता है, परन्तु इसके साथ किसी तत्वमीमांसीय महत्व को संलग्न नहीं किया जा सकता। यह मत बुद्ध के सत्य की उस कसौटी को दिखाता है, जिसके अनुसार ज्ञान हमारी अपेक्षा की पूर्णता और अपूर्णता से सत्य और असत्य होता है।

सत्य का अर्थ अपेक्षित वस्तु को उपलब्ध कराने की योग्यता है। यथार्थ ज्ञान अर्थक्रियाकारी ज्ञान है। जो अर्थक्रियाकारी नहीं है, वह भ्रामक है। अतः हमारे ज्ञान (तर्क) और अर्थक्रियाकारी में एक सम्बन्ध है। यथार्थ ज्ञान अर्थक्रियाकारी ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान का एक दूसरा लक्षण वस्तु का अनधिगत (निर्विकल्पक; जो पहले न जाना गया हो) होना है। यह ज्ञान का प्रथम क्षण है। अन्य क्षण प्रत्यभिज्ञा मात्र हैं। दिङ्नाग के अनुसार केवल चेतना का प्रथम संस्पर्श ही ज्ञान का स्त्रोत है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक के अनुसार, स्वलक्षण प्रदत्त होता है तथा ज्ञान में उसकी सन्तानों का बोध होता है। ज्ञान कर्म के मार्ग को आलेकित करता है और जब तक वह ऐसा करता है उसे सत्य माना जाता है। यही स्थिति अनुमान की है, जो व्याप्ति सम्बन्ध पर आधारित है। बौद्ध दर्शन के अनुसार 'सार–सम्बन्ध' परिकल्पनात्मक रूप से असत् हैं। अनुमान की प्रामाणिकता भी 'अर्थक्रियाकारित्व' पर आधारित है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में भ्रम हो सकता है। इसलिए अर्थक्रियाकारित्व के बोध के बाद ही ज्ञान को स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन भ्रम और कल्पना में भेद करना आवश्यक है। कल्पना अयथार्थ है सकती है। लेकिन भ्रम और कल्पना में भेद करना आवश्यक है। कल्पना अयथार्थ है लेकिन सभी प्रकार के व्यावहारिक प्रत्यक्षों के लिए अनिवार्य है। कल्पना मन का आकार है। इसके विपरीत भ्रम आगन्तुक हैं और सिर्फ विशिष्ट प्रत्यक्षकर्ता को ही प्रभावित करता है।

बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदाय यह मानते हैं कि ज्ञान व्यावहारिक जीवन के प्रयोजन को पूरा करता है। अतः प्रमाण के अर्थ और महत्व तथा अनुभवमूलक ज्ञान के स्रोत पर विचार करना आवश्यक है। बौद्ध दार्शनिकों में प्रमाण के अर्थ को लेकर मतभेद है। यथार्थवादी सम्प्रदाय, सौत्रान्तिक और वैभाषिक, ज्ञान और वस्तु में सारूप्यता ही प्रमाण है। माध्यमिक सम्प्रदाय के संस्थापक नागार्जुन ने प्रमाण मीमांसा को अधिक महत्व नहीं दिया है। संक्षेप में बौद्धों के लिए सभी 'प्रमाण जनित भाषागत ज्ञान' वैकल्पिक ज्ञान हैं।

प्रमाण

बौद्ध प्रमाणवादी ज्ञान को साक्षात् और परोक्ष दो भागों मे विभाजित करते हैं। दिङ्नाग के अनुसार, साक्षात् ज्ञान प्रत्यक्ष है जबकि परोक्ष ज्ञान अनुमान है। मूलतः बौद्धों ने ज्ञान के दो भेद ही स्वीकार किए हैं। वे शब्द प्रमाण को नहीं मानते हैं।

अ) प्रत्यक्ष

दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का स्रोत है। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो साक्षात् होता है और कल्पना से रहित होता है। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है तथा नाम,

जाति आदि से भिन्न है। ध्यान देने वाली बात यह है कि यह परिभाषा न्याय दर्शन के समान इन्द्रिय–वस्तु सन्निकर्ष का उल्लेख नहीं करती है। इसलिए प्रत्यक्ष के प्रकारो में मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और यौगिक प्रत्यक्ष को ही लिया गया है। इस परिभाषा में अभ्रान्त का भी उल्लेख नहीं है। धर्मकीर्ति का मत है कि प्रत्यक्ष को अभ्रान्त भी होना चाहिए। इसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष को स्वलक्षण का यथावत अनुगामी होना चाहिए, क्योंकि केवल स्वलक्षण ही प्रत्यक्ष में उपस्थित होता है और नाम, जाति आदि, जो सामान्य लक्षण हैं, मन द्वारा कल्पित होते हैं कल्पना के पाँच प्रकार होते हैं, जो निम्नांकित हैं:–

1) जाति कल्पना – 'सामान्य' जिसका मूल है।

2) गुण कल्पना – 'गुण' जिसका मूल है।

3) नाम कल्पना – 'नाम' जिसका मूल है।

4) कर्म कल्पना – 'क्रिया' जिसका मूल है।

5) द्रव्य कल्पना – 'पदार्थ' (द्रव्य) जिसका मूल है।

प्रत्यक्ष वह ज्ञान है, जो इन कल्पनाओं से मुक्त होता है तथा अभ्रान्त होता है। अभ्रान्त कहने का अर्थ यह है कि वस्तु का स्वरूप किसी भी प्रकार की बाह्य घटनाओं से विकृत न हुआ हो, जैसा कि उदाहरणस्वरूप, गति के कारण या जहाज में आरूढ़ होने के कारण या विभिन्न प्रकार की बीमारियों से ग्रसित होने आदि के कारण प्रायः हो जाता है। बौद्धों का सबसे प्रमुख विचार यह है कि केवल प्रथम क्षण में ही इन्द्रियों के द्वारा वस्तु का साक्षात् ग्रहण होता है। इसी स्थिति में स्वलक्षण ग्राह्य होता है तथा इसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस क्षण में चित्त निष्क्रिय रहता है, लेकिन अगले क्षण में यह क्रियाशील होकर कल्पना के कारण स्वलक्षण का स्वरूप विकृत कर देता है। हालांकि कथन और भ्रम में भेद है, क्योंकि वैचारिक कथन सर्वजन सामान्य होते हैं, जबकि भ्रान्ति वैयक्तिक होती है।

सही अर्थ में भ्रम तब उपस्थित होता है जब हमें मृग–मरीचिका (रेगिस्तान में जल की प्रतीति) होती है। यहाँ वस्तु की उपस्थिति के बिना ही वस्तु प्रतीत होती है और यथार्थज्ञान के बाद वस्तु तिरोहित हो जाती है। लेकिन दो चन्द्रमा देखने के मामले में देखने वाले व्यक्ति की आँख में दोष होने क कारण ही उसे एक चन्द्रमा दो प्रतीत होते हैं यद्यपि वह जानता होता है कि चन्द्रमा एक है। इन भ्रमों के अलावा मानसिक भ्रम, स्वप्न इत्यादि भी भ्रमात्मक हैं। भ्रमों में अर्थ क्रियाकारित्व नहीं होता है, जबकि आनुभविक कथनों में अर्थक्रियाकारित्व होता है।

ब) अनुमान

परोक्षवस्तु का प्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान अनुमान कहलाता है। यह परोक्ष ज्ञान है और इस ज्ञान में लिंग (हेतु) की भूमिका होती है। अनुमिति लिंग (साध्य) पर आधारित होती है, जोकि 'अनिवार्य सम्बन्ध' यानि व्याप्ति के द्वारा लिंगी से सम्बन्धित होता है। बौद्धों में दो प्रकार की व्याप्ति स्वीकृत है; तदुत्पत्ति और तादात्मय। पहली तदुत्पत्ति (कारण–कार्य) अर्थात् हम धूम से अग्नि का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि धूम अग्नि से उत्पन्न हुआ है। दूसरी पीपल, नीम आदि कहने मात्र से ही यह अनुमान हो जाता है कि यह वृक्ष है। यह तादात्म्य पर आधारित है। यहाँ पर वंश (वृक्ष) और जाति (पीपल) के मध्य तादात्मय का सम्बन्ध अनुमान का आधार है। बशर्ते कि जिसका अनुमान किया गया है वह जिससे अनुमान किया गया है उससे अधिक विस्तारित हो। उदाहरण के लिए, हम यह तो कह सकते हैं कि सभी पीपल वृक्ष हैं परन्तु यह नहीं कह सकते कि सभी वृक्ष पीपल हैं।

प्रत्येक अनुमान में तीन पद होते हैं– पक्ष, साध्य और लिंग। ऐसा अनुमान जो दूसरों को ज्ञान कराने के लिए प्रयोग में आता है, उसे परार्थ अनुमान तथा जो अपने ज्ञान के लिए प्रयोग मे आता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। उदाहरण स्वरूप, हम यह कह सकते हैं कि पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धूम है, जैसे रसोई घर में। इसे हम तार्किक रूप से इस प्रकार कह सकते हैं,

जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में।

पर्वत पर धूम है।

इसलिए पर्वत पर अग्नि है।

दिङ्नाग के अनुसार किसी न्यायवाक्य में केवल उपरोक्त तीन वाक्य ही पर्याप्त हैं और वे न्याय दर्शन के पांच वाक्यों की आलोचना करते हैं। दिङ्नाग के अनुसार अनुमान में तीन नियम पर्याप्त होते हैं:–

हेतु की पक्ष में उपस्थिति।

सपक्ष (समान पक्ष) में उपस्थिति।

और विपक्ष में अनुपस्थिति।

हेत्वाभास तब उत्पन्न होता है, जब इन नियमों का उल्लंघन होता है।

17.5 बौद्ध सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि

प्रारम्भिक बौद्ध–दर्शन की महत्वपूर्ण विशेषताओं को बाद के सभी बौद्ध सम्प्रदाय विशेष महत्व देते हैं। सभी वस्तुएं अनित्य हैं तथा संघात हैं, ये दोनों सिद्धांत सभी बौद्ध सम्प्रदायों के विचारों को किसी ना किसी रूप में प्रभावित करते रहे हैं। निःसन्देह, प्रतीयसमुत्पाद का सिद्धांत बौद्ध दर्शन का प्रमुख सिद्धांत है और यह बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदायों के विकास के लिये महत्वपूर्ण रहा है।

बौद्धों के अनुसार परिवर्तन पूर्णतः होता है तथा परिवर्तन का आश्रय जैसा कोई अपरिवर्तित तत्व नहीं होता। सामान्य सिद्धान्त के अनुसार 'अब' का परिवर्तन 'अस' में होता है तो अ अपरिवर्तनशील रहता है तथापि इसका ब स में परिवर्तित हो जाता है। बौद्ध दर्शन इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता है। उनके अनुसार परिवर्तन समग्रता में होता है। परिवर्तन सम्पूर्ण में होता है। इसमें विकास नहीं होता है। 'अब' 'अस' में नहीं अपितु 'इस' में परिवर्तित होगा। अतः उपरोक्त तत्व वह है जो क्षणिक है तथा जिसमें कारण सामर्थ्य है। उदाहरण के लिए, यदि बीज पौधे में परिवर्तित होता है, तो बीज का कोई अंश शेष नहीं रहता है। पौधा पूर्णरूप से एक नई कृति होती है इस कारण–सामर्थ्य को संस्कृत में अर्थक्रियाकारित्व कहा जाता है। उदाहरण से बिल्कुल स्पष्ट है कि अर्थक्रियाकारित्व की सन्तान परम्परा में निरन्तरता रहती है और किसी वस्तु के विनाश के लिए किसी बाहरी कारण की आवश्यकता नहीं होती है। यदि कोई वस्तु अपने से अपना विनाश नहीं करती है, तो बाहरी कारणों से इसका विनाश नहीं किया जा सकता। यदि कोई वस्तु उसी क्षण में विनाश को नहीं प्राप्त होती है, जिस क्षण में वह उत्पन्न होती है, तो अगले क्षण में विनाश के लिए कोई कारण नहीं हो सकता। अतः वस्तु यदि क्षणिक नहीं हो तो वह नित्य हो जाएगी, यह बौद्धों को स्वीकार नहीं है।

बौद्धों के इस सिद्धांत को अन्य भारतीय दर्शन सम्प्रदायों ने स्वीकार नहीं किया है। आलोचक कहते हैं कि यदि सब कुछ प्रवाहमान है, तो प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? बौद्धों का उत्तर है कि सब कुछ प्रतिक्षण प्रवाहमान है परन्तु इस प्रवाहमान परम्परा की साम्यता को तादात्म्यता समझ लिया जाता है। प्रत्यभिज्ञा स्मृति और प्रत्यक्ष का मिश्रित रूप है। जो हम प्रत्यक्ष करते हैं और जो हम स्मरण करते हैं वे दोनों सन्तान परम्परा के अंग हैं, लेकिन हम साम्यता को तादात्म्य के रूप में ले लेते हैं। दीपशिखा को उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। तेल के जलने से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि दीपशिखा दो क्षणों में एक समान नहीं रहती, इसी प्रकार सभी वस्तुएं क्षणभंगुर हैं।

दूसरी आलोचना अर्थक्रियाकारित्व को लेकर है। बौद्धों के अनुसार संतान परम्परा का अन्त नहीं होता है। केवल एक सन्तान परम्परा के बाद दूसरी सन्तान परम्परा आ जाती है जैसे बीज सन्तान परम्परा के बाद पौध–सन्तान परम्परा। लेकिन वे जब जीव सन्तान परम्परा की चर्चा करते हैं, तो कहते हैं कि निर्वाण में इस सन्तान परम्परा का अन्त हो जाता है। यदि ऐसा है तो जीव सन्तान परम्परा का अन्तिम सदस्य अर्थक्रियाकारित्व से रहित हो जाएगा और वह अयथार्थ हो जाएगा। अतः पूरी जीव सन्तान परम्परा अयथार्थ है और निर्वाण का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन बौद्ध मानते हैं कि निर्वाण अथवा मुक्ति सत्य है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में अनुभवजन्य होने से निर्वाण सत्य है।

बौद्धों के चार सम्प्रदायों में से वैभाषिक बहुत्ववादी यथार्थवादी हैं। वे मानते हैं कि स्वलक्षण की सत्ता प्रत्यक्ष कर्ता से पृथक् है। देश और काल मानसिक चश्मे हैं तथा कोई भी स्वलक्षण अपने आप मे विस्तार और स्थिति नहीं रखता है। लेकिन यह स्वलक्षण परमतत्त्व नहीं है यह आभास है तथा परमतत्त्व परमाणु है।

वैभाषिकों के आलोचक यह कहते हैं कि स्वलक्षण जगत् की व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं है और इसे छोड़ा जा सकता है। स्वलक्षण के साथ सामान्य लक्षण लगा रहता है। अतः यह पूर्ण यथार्थवाद नहीं है। यद्यपि हीनयान के सम्प्रदाय विज्ञानवादी नहीं थे परन्तु बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति अधिक समर्पण दिखाने से उनमें त्रुटियां दिखाई देती हैं और स्वलक्षण उसी का परिणाम है। इन दोषों को दूर करने का प्रयास सौत्रान्तिक सम्प्रदाय मे किया गया है, जो प्रत्यक्ष के प्रतिबिम्बवादी सिद्धांत का अनुमोदन करता है।

विज्ञानवाद बाह्यार्थवादी नहीं हैं। उन्हें योगाचार कहा जाता है, क्योंकि वे मानते हैं कि बुद्धत्व की प्राप्ति योग से की जा सकती है। इस सम्प्रदाय में बाह्यार्थ विज्ञान स्वरूप है। एक सजातीय विज्ञान ही सत्य है, जो अमूर्त नहीं अपितु मूर्त सत्ता है। सभी तथ्य ज्ञाता की बुद्धि पर निर्भर हैं। यह आलय विज्ञान है। आलय, जो विषयी और विषय का मिश्रित रूप है, स्वयं अपने आप में एक लघु जगत् है। इसके स्वयं अपने परिणाम होते हैं। यह आत्मा से भिन्न है, क्योंकि यह परिवर्तनशील है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्गत् आलय विज्ञान में अनेक बीज वर्तमान हैं। हमें उसके कुछ अंशों का ही ज्ञान होता है। विशेष व्यवहार आलय के ही परिणाम हैं। परिस्थितियों की संख्या और प्रकृति के अनुसार आलय विज्ञान परम सम्पूर्णता, मौलिकता तथा सर्जनात्मकता है। यह देश और काल से निरपेक्ष है। देष और काल मूर्त और अनुभवात्मक व्यक्ति के अस्तित्व के दो प्रकार हैं। आलय विज्ञान में विषयी और विषयी दोनों समाहित हैं।

शंकराचार्य ने योगाचार की अनेक आधारों पर आलोचना की है। शंकर कहत हैं कि योगाचार प्रत्यक्ष की संतोषजनक व्याख्या नहीं करता है। साथ–साथ विचार (प्रत्यय) और

वस्तु का ग्रहण होने से यह सिद्ध नहीं होता है कि दोनों एक ही हैं। अपृथक् सम्बन्ध तादात्म्य से भिन्न है।

शंकर का कहना है कि जाग्रत् अवस्था की स्वप्नावस्था से तुलना करना ठीक नहीं है। स्वप्न के आधार पर जाग्रत् अवस्था की व्याख्या नहीं की जा सकती। स्वप्नावस्था आत्मनिष्ठ है और जब तक स्वप्न रहता है तभी तक इसका अस्तित्व रहता है, लेकिन जाग्रत् अवस्था इसके बाद भी रहती है। शंकराचार्य का कहना है कि जाग्रत् अवस्था को तभी भ्रामक कहा जा सकता है, जब किसी अन्य अवस्था में इसका बाध (न होना या होने में बाधा) हो। स्वप्नावस्था का जाग्रत् अवस्था में बाध होता है, लेकिन जाग्रत् अवस्था का बाध दिखाई नहीं पड़ता है, इसलिए दोनों में भेद है।

दुर्भाग्य से विज्ञानवादी आलय के सही–सही रूप को लेकर स्पष्ट नहीं हैं और विज्ञानवाद सम्बन्धी असंतोश उनके क्षणिकवादी सिद्धांत की मान्यता का प्रतिफल है।

17.6 माध्यमिक का शून्यवाद

शब्द माध्यमिक का अर्थ बुद्ध द्वारा उपदेशित मध्यम मार्ग है। यह सत्य और असत्य के मध्य का मार्ग है। यह सत्य और असत्य, गुण और द्रव्य तथा कार्य और कारण के बीच मध्यम मार्ग का अवलम्बन करता है। अतः माध्यमिक सम्प्रदाय विधान और निषेध के मध्य से निकलने का प्रयास करता है।

जगत् का व्यावहारिक स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है। कोई वस्तु अपने आप में उपस्थित नहीं है। सभी वस्तुएं परस्पर सापेक्ष हैं। माध्यमिक सभी धर्मों और उनके संघात को मिथ्या नहीं कहते हैं (यहाँ बौद्ध दर्शन में धर्म का अर्थ कारणमूलक तत्वों से है।) बल्कि उन्हें व्यावहारिक बताते हैं। उनके अनुसार न तो बाह्य वस्तुएं यथार्थ हैं और न ही आन्तरिक आत्म यथार्थ है, क्योंकि इनका कोई पर्याय तार्किक विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। योगाचार बाह्य वस्तुओं को अयथार्थ बताता है, क्योंकि हम उनका उत्पत्ति स्रोत यथा स्वयं अस्तित्व, परमाणु या कोई अन्य जटिल पदार्थ सही ढंग से कभी नहीं जान सकते हैं। नागार्जुन इससे भी एक कदम आगे बढ़ते हुए चेतना की सत्ता का भी अपलाप करते हैं और कहते हैं कि इसके भी स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। माध्यमिक सर्वशून्यतावादी हैं। व्यावहारिक वस्तुएँ पुद्गल शून्यता अथवा धर्म शून्यता के कारण शून्य हैं। इस पद शून्य का प्रयोग प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में भी किया गया है लेकिन, उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में माध्यमिक दर्शन करता है। यहाँ पर यह तीन पदों दुःख, अनित्य और अनात्मा के साथ प्रयुक्त चौथा पद है। अतः हीनयानी के लिए शून्य का अर्थ का अर्थ अनात्मा है, लेकिन माध्यमिक के लिए शून्यवाद मध्यम मार्ग है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद का तार्किक निष्कर्ष है। शून्यवाद न सन्देहवाद है, न ही नास्तिवाद है; जो समस्त जगत् की सत्ता का खण्डन करता है। इसका उद्देश्य मात्र यही ही है कि वस्तुओं की सत्ता का पारमार्थिक विधान नहीं किया जा सकता तथापि व्यवहारतः यह सत्य है। माध्यमिक यह जानता है कि निरपेक्ष निषेध असम्भव है क्योंकि उसके लिए विधान की आवश्यकता होती है। अतः नागार्जुन विधान और निषेध दोनों को अस्वीकार करते हैं। शून्य अनिर्वचनीय है। यह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। यह न सत् है, न असत है, न दोनों है, न दोनों से भिन्न है। यह व्यवहारतः सापेक्ष है तथा परमार्थतः अनिर्वचनीय है। सापेक्ष होने से शून्य है तथा परमार्थतः चतुष्कोटि से परे होने के कारण शून्य है। व्यवहार स्वभावतः शून्य है। अतः सर्व शून्यम्।

सत् प्रपंच–शून्य अथवा बहुलता से रहित है। द्वन्द्ववाद माध्यमिक दर्शन का हृदय है। इसमें दो प्रमुख दृष्टियाँ हैं– सत् और असत्। इन दोनों के युगपद् विधान और निषेध से 'सदसद्' (सत् और असत् दोनों) और 'न सत् न असत्' ये दो दृष्टियाँ और आती हैं। इन्हीं को चतुष्कोटि कहा जाता है। माध्यमिकों के अनुसार वह जो यह मानता है कि सभी व्यावहारिक धर्म निःस्वभाव हैं, भ्रामक हैं, चतुष्कोटिविनिर्मुक्त हैं, वह बुद्ध की प्रज्ञा को जानता है तथा निर्वाण को प्राप्त करता है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. बाह्यार्थ की सत्ता के खण्डन के लिए विज्ञानवादी क्या युक्तियां प्रस्तुत करते हैं?

....

....

....

....

....

2. बौद्ध दर्शन में ज्ञान के विभागों पर टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

17.7 सारांश

भगवान बुद्ध ने जो आचार विषयक शिक्षाएँ (प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में मान्य) दी थीं। उनको सभी बौद्ध सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। अतः उनके इस मत को सभी ने स्वीकार किया कि सब कुछ दुःखमय है तथा सुख भी अव्यक्त रूप से दुःखमय है और दुःख से छुटकारा ज्ञान से ही मिल सकता है। निर्वाण को भी सभी ने स्वीकार किया। महायान और हीनयान के मध्य विवाद जीवन के आदर्श को लेकर हुआ। महायान और हीनयान दोनों व्यक्ति के निर्वाण के लिए इच्छुक हैं, लेकिन महायान में निर्वाण की प्राप्ति नहीं है। उनका आदर्श बोधिसत्व है, जो हीनयान के अर्हत् के आदर्श से भिन्न है। बोधिसत्व निर्वाण की योग्यता रखते हुए भी दूसरें के कल्याण के लिए अपने निर्वाण को स्थगित कर देता है। बोधिसत्व दूसरे को दुःख और बन्धन से छुड़ाने में समर्थ भूमिका निभाता है। वस्तुतः महायान में इस तथ्य पर अधिक बल दिया गया है। इस विचार ने बुद्ध धर्म के प्रसार में प्रमुख भूमिका निभाई। महायान में बुद्ध को ईश्वर के रूप में भी मान्यता दी गयी। यह भी इसे हीनयान से पृथक् करता है। ईसा की प्रथम शताब्दी मे बुद्ध पूजा

प्रारम्भ हो गयी थी और त्रिरत्न के अन्तर्गत् बुद्ध की शरण लेना भी अनिवार्य हो गया था। कोई भी बौद्ध मतावलम्बी गृहस्थ अथवा भिक्षु निम्न प्रकार से त्रिशरण लेता है:

बुद्धं शरणं गच्छामि।

धम्मं शरणं गच्छामि।

संघ शरणं गच्छामि।

17.8 कुंजी शब्द

विहार : यह किसी मकान या प्रासाद को संकेत करता है। जहाँ बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ रहते हैं तथा प्रार्थना के लिए एकत्रित होते हैं।

17.9 सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

अग, एस. जेड. (एडि.) *कम्पेन्डियम आफ फिलोसॉफी.* लन्दन: लुजाक एण्ड कम्पनी, 1963.

इचिमूरा, एस. *बुद्धिस्ट क्रिटिकल स्पिरिचुएलटी: प्रज्ञा एण्ड शून्यता.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2001.

डेविस, रीस. *वेफेयरर्स वर्ड्स* वोल्यूम–3. लन्दन: लुजाक एण्ड कम्पनी, 1940–42

दत्त, एन. *आस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन टू हीनयान.* लन्दन: लुजाक एण्ड कम्पनी, 1930.

मूर्ति, टी. आर.वी. *द सेन्ट्रल फिलोसॉफी ऑफ बुद्धिज्म.* लन्दन: जार्ज ऐलन एण्ड अनविन लि., 1955.

शर्मा, सी डी. *अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1990.

शेरवात्स्की, टीएच. *बुद्धिस्ट लॉजिक,* टू वोल्युम्स. देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2008.

सिन्हा, जदुनाथ. *इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलॉसोफी.* आगरा: लक्ष्मी नारायन अग्रवाल, 1949.

हुआंग, भिक्षुनी जिवि. *बोधिसत्व एण्ड शून्यता.* देल्हीः ईस्टर्न बुक्स लिंकर्स, 2005.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

शर्मा, अम्बिकादत्त. 'बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष की अवधारणा'. *परामर्श,* 35/1–4(2018): 23–62.

शर्मा, अम्बिकादत्त. *बौद्ध प्रमाण दर्शन.* सागर: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2007.

शेरवात्स्की एफ. *बौद्ध न्याय,* प्रथम भाग. अनुवाद– रामकुमार राय. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 1969.

सूरी, हरिभद्र. *षड्दर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

सिंह, हरि शंकर. *बौद्ध–प्रमाणमीमांसा.* मुजफ्फरनगर: वेदांशी पब्लिकेशन, 2011.

17.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. बुद्ध के द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म व्यावहारिक है। भगवान बुद्ध का मुख्य उद्देश्य दुःख से छुटकारा पाना था। अतः उन्होंने अमूर्त तत्त्वमीमांसीय तर्कों पर बल नहीं दिया। सूत्रों में वर्णित एक आख्यान ध्यातव्य है, शीशम के वृक्ष के नीचे बैठे बुद्ध ने कुछ पत्तियों को एकत्रित करके अपने शिष्यों से पूछाः शिष्यों! क्या वृक्ष पर इतनी ही पत्तियाँ हैं? शिष्यों ने कहा नहीं भगवन। तब भगवान बुद्ध ने कहा कि बुद्ध का ज्ञान उतना ही नहीं है, जितना प्रवचनों के माध्यम से दिया गया है।

2. विद्वानों के अनुसार बौद्ध धर्म के चार सम्प्रदाय हैं। दो का सम्बन्ध हीनयान से है और दो का सम्बन्ध महायान से है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक हीनयान के सम्प्रदाय हैं तथा माध्यमिक और योगचार महायान के सम्प्रदाय हैं। हीनयान के सम्प्रदाय यथार्थवादी हैं या सर्वास्तित्ववादी हैं। ये स्वलक्षणों में विश्वास करते हैं। योगाचार विज्ञानवादी है तथा माध्यमिक शून्यवादी है।

बोध प्रश्न 2

1. विज्ञानवादियों के अनुसार ज्ञान के तीन घटकों ज्ञाता, ज्ञेय और विज्ञान में से केवल विज्ञान ही यथार्थ है तथा अन्य दो विज्ञान की ही अभिव्यक्ति भर हैं। विज्ञान का स्वरूप वस्तु से निर्धारित न होकर पूर्व अनुभवों से निर्धारित होता है। ज्ञानाकार अन्दर से आता है बाहर से नहीं। अतः विज्ञानवाद के अनुसार चेतना और चेतना की वस्तु एक ही है। विज्ञानवाद बताता है कि वस्तुएं द्रव्य नहीं है, न ही स्वलक्षण स्वरूप है, क्योंकि स्वलक्षण भी अर्थक्रियाकारी होता है। अतः इन दार्शनिकों के अनुसार बाह्य जगत् न केवल प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से अपितु तात्त्विक दृष्टि से भी चेतना पर निर्भर है, इसके लिए वह स्वप्न का उदाहरण देते हैं। जैसे स्वप्न में ज्ञाता बाह्य वस्तुओं का निर्माण करता है, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में चेतना वस्तुओं का निर्माण करती है। द्वितीयतः चेतना स्वसंवित होती है। यह भी कहा जा सकता है कि एक ही वस्तु विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार से दिखाई पड़ती है। योगाचार के अनुसार ऐसा इसलिए संभव है क्योंकि बाह्यार्थ की सत्ता नहीं है। तथापि ये सभी तर्क विज्ञानवाद की सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ज्ञाता का ज्ञान आत्मनिष्ठ होते हुए भी वस्तु वस्तुनिष्ठ हो सकती है।

2. बौद्ध प्रमाण मीमांसा में ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भागों में बांटा गया है। इन दोनों स्रोतों को दिङ्नाग की शब्दावली में प्रत्यक्ष और अनुमान कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में यही दो ज्ञान के स्रोत स्वीकृत हैं। बौद्धों को अन्य प्रमाण जैसे शब्द आदि मान्य नहीं हैं।

खण्ड 5

आस्तिक दर्शन

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड परिचय

आस्तिक दर्शन हैं: वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व–मीमांसा, और उत्तर मीमांसा। आस्तिक दर्शन समान–तन्त्र की रचना करते हैं: न्याय–वैशेषिक, योग–सांख्य, मीमांसा–वेदान्त। कभी–कभी किसी दर्शन–प्रणाली के केवल एकमात्र संस्थापक या प्रवर्तक को बताना कठिन हो जाता है। किन्तु, अग्रलिखित व्यक्ति उपर्युक्त दर्शन प्रणालियों के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं: न्याय के गौतम, वैशेषिक के कणाद, योग के पतंजलि, सांख्य के कपिल, पूर्व–मीमांसा के जैमिनि और उत्तर–मीमांसा के बादरायण।

इकाई 18 न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के बारे में है। न्याय दर्शन यथार्थवादी दर्शन है जिसने तर्कशास्त्र (अनुमान) का विशद चर्चा की है। 'न्याय' पद का अनुवाद तर्कशास्त्र के नियम अथवा वैध तर्क के रूप में किया जाता है, इस तरह न्याय दर्शन के कार्यों (विषय–वस्तु) को तर्कशास्त्र के रूप में भी जानते हैं। इस इकाई में, आप नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण और उनके आत्म, मोक्ष (निःश्रेयस) एवं ईश्वर सम्बन्धी युक्तियों को जानेंगे। यह इकाई वैशेषिक दर्शन के पदार्थ, ज्ञानमीमांसा, ईश्वर, बन्धन, और मोक्ष सम्बन्धी युक्तियों की चर्चा भी करेगी। वैशेषिक दर्शन सांख्य से प्राचीन और जैन एवं बौद्ध दर्शन का समकालीन है। ऋषि कणाद इस दर्शन के संस्थापक हैं। लेकिन कुछ विद्वानों के अनुसार, इसके संस्थापक उलूक हैं।

इकाई 19, 'सांख्य–योग' सांख्य दर्शन के कारणता–सिद्धान्त (कारण–कार्य सिद्धान्त), पुरुष एवं प्रकृति के मध्य भेद, और प्रकृति के तीन गुण: *सत्त्व, रजस्* और *तमस्* का परिचय देती है। यह इकाई योग दर्शन के अनेक सिद्धान्तों की और योग के मनोवैज्ञानिक पक्ष की चर्चा भी करती है।

इकाई 20, 'मीमांसा' ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के विषयों की चर्चा करती है। इस इकाई में ख्यातिवाद और कारणता सिद्धान्तों की चर्चा भी की गई है। इसके साथ ही प्रमाण सम्बन्धी युक्तियों की विशद चर्चा की गई है।

इकाई 21 शंकराचार्य के अद्वैत, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत और मध्वाचाय के द्वैत वेदान्त दर्शन का वर्णन करती है। यह इकाई वेदान्त के इन तीन सम्प्रदायों की ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसीय पदार्थों और नीतिमीमांसा की व्याख्या और परीक्षा करती है।

इकाई 22 'शैव दर्शन और वैष्णव दर्शन' हिन्दू धर्म के दो प्राचीन सम्प्रदाय हैं, जो क्रमशः शिव और विष्णु को परम सत्ता मानते हैं। शैव एवं वैष्णव मत के अनेक उपसम्प्रदाय हैं। ये उप–सम्प्रदाय क्षेत्रीय और कालिक विभिन्नताओं एवं दर्शनों में भेद को दर्शाते हैं। वैष्णव मत की अन्य सम्प्रदायों से विशिष्टता विष्णु या उनके अवतारों, मुख्यतः राम और कृष्ण, की परम ईश्वर के रूप में आराधना है। यह मत अपनी भक्ति में एकेश्वरवाद को ध्वनित करता है।

इकाई 18 न्याय–वैशेषिक[18]

रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 परिचय

18.2 न्यायः ज्ञानमीमांसा

18.3 न्यायः कारणता–सिद्धान्त (असत्कार्यवाद)

18.4 न्यायः आत्मा एवं मोक्ष

18.5 न्यायः ईश्वर की अवधारणा

18.6 वैशेषिकः तत्त्वमीमांसा

18.7 वैशेषिकः ज्ञानमीमांसा

18.8 वैशेषिकः ईश्वर की अवधारणा

18.9 वैशेषिकः बन्धन एवं मोक्ष

18.10 सारांश

18.11 कुंजी शब्द

18.12 अन्य सहायक अध्ययन सामग्री एवं सन्दर्भ

18.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप समर्थ होंगे,

- प्रत्यक्ष के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या में, अनुमान की प्रकृति और विशेषताओं के वर्णन में,
- न्याय दर्शन की आत्मा की अवधारणा को दर्शाने में, न्याय दर्शन की मोक्ष की अवधारणा को जानने में,
- वैशेषिक की तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा की चर्चा में

18.1 परिचय

न्याय दर्शन की स्थापना गौतम ऋषि ने की थी। उन्हें 'अक्षपाद' नाम से भी जाना जाता है। न्याय से तात्पर्य है उचित तर्कों एवं वैध युक्तियों द्वारा किए जाने वाला विचार। इसलिए न्याय दर्शन तर्क शास्त्र (तर्क–विज्ञान), प्रमाणशास्त्र (ज्ञान मीमांसा एवं तर्क विज्ञान) हेतु

[18] डॉ. सत्य सुन्दर सेठी, सह आचार्य, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मद्रास, अनुवाद– श्री दिलीप जायसवाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विद्या (कारणों का विज्ञान), वादविद्या एवं आन्वीक्षिकी (आलोचना विज्ञान) के नाम से भी जाना जाता है। यथार्थवाद के प्रतिपादक के रूप में न्याय दर्शन वस्तु–जगत् के शुद्ध ज्ञान पर बल देता है।

वैशेषिक दर्शन 'सांख्य' की तुलना में नया एवं जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन के समकालीन है। 'कणाद' मुनि इस सम्प्रदाय के संस्थापक हैं किन्तु कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार, इसके प्रस्थापक 'उलूक' हैं। इस कारण इसे औलूक्य दर्शन भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय का वैशेषिक नाम 'विशेष' नामक पदार्थ पर आधारित है जिसका आशय है नित्य द्रव्यों में निहित विशेष। वैशेषिक दर्शन में नित्य द्रव्य कुल पाँच माने गए हैं– आकाश, दिक, काल, आत्मा और मन।

न्याय दर्शन जिस प्रकार प्रमाण सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन तत्वमीमांसीय विषयों का अध्ययन करता है।

18.2 न्याय दर्शनः ज्ञानमीमांसा

न्याय–दर्शन आण्विक बहुलतावाद और तार्किक यथार्थवाद का समर्थक है। जिसके अनुसार अणु विश्व के पदार्थों का मूल घटक है तथा सत्ता एक नहीं है बल्कि असंख्य जड़ एवं चेतन सत्ताएं हैं – जिनसे मिलकर यह विश्व निर्मित हुआ है। अपने बहुलतत्ववाद के अनुरूप यह भौतिकवादी एवं आत्मवादी एकतत्ववाद का खण्डन करता है। इसका तार्किक यथार्थवाद इस सिद्धान्त पर टिका हुआ है कि हमारी इन्द्रिय–संवेदन एवं ज्ञान से निरपेक्ष इस विश्व की स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रामाणिकता का आधार आस्था अथवा अन्तर्प्रज्ञा न होकर तर्क/तार्किक युक्तियां एवं अनुभव–जगत् का सम्यक्/आलोचनात्मक परीक्षण है।

न्याय दर्शन द्वारा सोलह पदार्थ स्वीकार किए गए हैं जिसमें से प्रथम 'प्रमाण' नामक पदार्थ से न्याय दर्शन के तार्किक एवं ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण का पता चलता है। इसके अनुसार कुल चार प्रमाण (शुद्ध ज्ञान के साधन) हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

नैयायिकों ने इन्द्रिय–संज्ञान, अवबोध, चेतना अथवा वस्तुओं के प्रकाशित होने को ही ज्ञान के रूप में व्याख्यायित किया है। ज्ञान आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ दोनों ही प्रकार का होता है। आत्मनिष्ठ ज्ञान वस्तुनिष्ठ ज्ञान से भिन्न होता है। यदि भिन्न–भिन्न व्यक्ति किसी विशेष वस्तु अथवा तथ्य के विषय में भिन्न–भिन्न राय दें, तो इस प्रकार का ज्ञान आत्मनिष्ठ ज्ञान कहा जायेगा। उदाहरण के लिए सड़क–दुर्घटना होने पर यदि हम घटना–स्थल पर उपस्थित लोगों से पूछें तो हमें दुर्घटना के विषय में उनके द्वारा भिन्न–भिन्न विवरण प्राप्त होंगे। दुर्घटना के सम्बन्ध में इसे आत्मनिष्ठ ज्ञान कहा जायेगा।

दूसरी ओर, यदि किसी वस्तु के विषय में अधिकांश लोगों की राय एक जैसी हो तो वस्तु का यह ज्ञान वस्तुनिष्ठ ज्ञान कहलायेगा। जैसे इस विषय में सभी एकमत होंगे कि सेब एक फल है और इसे खाया जा सकता है। इस प्रकार किसी भी प्रकार का ज्ञान वस्तुओं के स्वरूप को प्रकाशित करता है अथवा अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार एक ट्यूब लाइट किसी कमरे में मौजूद सभी चीजों को प्रकाश में लाती है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आस–पास की वस्तुओं को प्रकाशित करता है। यथार्थवाद का समर्थक होने से न्याय दर्शन यह मानता है कि ज्ञान का सम्बन्ध सदैव वस्तुओं से होता है।

ज्ञान यथार्थ अथवा अयथार्थ हो सकता है। यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार, यथार्थ ज्ञान अर्थात प्रमा वस्तु का सत्य एवं समुचित बोध है। यह वस्तु जैसी है, उसे उसी प्रकार प्रकाशित करना है। शुद्ध ज्ञान की यह विशेषता सत्य के संवादिता सिद्धान्त का परिणाम है जिसके अनुसार सत्य सत्ता एवं विज्ञप्ति के मध्य संवाद है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञान संप्रतितात्मक (**presentative**) ज्ञान होता है। संप्रतितात्मक ज्ञान तब होता है जब ज्ञेय वस्तु ज्ञाता के समक्ष प्रस्तुत हो। जैसे डॉ. विप्लव द्वारा अपनी शर्ट के जेब में कलम को देखना संप्रतितात्मक ज्ञान का उदाहरण है। प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति चार प्रकार के यथार्थ ज्ञान के साधनों अर्थात प्रमाण ों से होती है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। अयथार्थ ज्ञान अर्थात् अप्रमा वस्तु की अयथार्थ प्रतीति अथवा बोध है। इसके अन्तर्गत् स्मृति, संशय, विपर्यय एवं तर्क आते हैं। स्मृति संप्रतितात्मक नहीं होती, बल्कि प्रतिनिध्यात्मक ज्ञान होती है। स्मृति यथार्थ ज्ञान का साधन भी माना जा सकता है, यदि जो भी स्मर्यमाण (याद में हो) उसका भूतकाल में संप्रतितात्मक ज्ञान हुआ हो। वस्तु के स्वरूप का निश्चय न हो पाना संषय कहलाता है। विपर्यय वस्तु की मिथ्या प्रतीति है जैसे भ्रम के कारण रस्सी को साँप समझ लिया जाना। तर्क भी एक अयथार्थ ज्ञान है क्योंकि यह किसी नवीन ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता है। क्योंकि यह पहले से ज्ञात वस्तु की ही संपुष्टि करता है। इस प्रकार यह प्रकृति में संप्रतितात्मक होता है।

अब हम नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित चार प्रमाणों की चर्चा करेंगे।

प्रत्यक्ष

नैयायिकों के अनुसार, प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आने वाली वस्तु का तात्कालिक एवं साक्षात ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए चार बातों का होना आवश्यक है – आत्मा, मन, ज्ञानेन्द्रिय एवं वस्तु। आत्मा मन के सम्पर्क में आती है, मन इन्द्रियों के सम्पर्क में आता है और पुनः इन्द्रियां वस्तुओं के सम्पर्क में आती हैं और इस प्रकार हमें वस्तुओं का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है–लौकिक एवं अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष को पुनः दो प्रकारों में विभाजित किया गया है– बाह्य एवं आन्तर (मानस)। बाह्य प्रत्यक्ष पाँच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध होने से पाँच प्रकार का होता है– श्रोतज, चाक्षुषज, रसज, घ्राणज एवं स्पर्शन। आन्तर प्रत्यक्ष की दशा में कोई मानसिक वस्तु मन के संपर्क में आती है और परिणामस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। अनुभूति, इच्छा, कामना आदि आन्तर प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं।

प्रत्यक्ष को पुनः तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है– निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, सविकल्पक प्रत्यक्ष और प्रतिभिज्ञा। ये विभाजन विचार में (सिद्धान्ततः) हैं न कि अनुभव में। आइए अब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की चर्चा करें।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है जब ज्ञेय वस्तु के गुण–धर्मों जैसे रूप, आकृति आदि का निर्धारण न हो सके। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु के इन्द्रिय सन्निकर्ष से ज्ञान तत्काल उत्पन्न होता है। नैयायिकों ने ऐसे ज्ञान को 'अव्यक्त' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि इस ज्ञान का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, हम इस ज्ञान को सुनिश्चित एवं स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार का ज्ञान तब होता है जब ज्ञाता को नाम रूप आदि लक्षणों से रहित वस्तु की केवल प्रतीति मात्र होती

है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष का अपूर्णरूप होता है। इसका अस्तित्व केवल अनुमान के माध्यम से सिद्ध होता है, न कि प्रत्यक्ष के द्वारा।

सविकल्पक प्रत्यक्ष

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से भिन्न सविकल्पक प्रत्यक्ष तब होता है जब किसी वस्तु का ज्ञान नाम, रंग, आकार आदि गुणों के सहित होता है। यह वस्तु का स्पष्ट ज्ञान कराता है, जिसके परिणामस्वरूप 'यह वृक्ष है, 'यह मनुष्य है' आदि प्रकार का ज्ञान होता है। इस स्थिति में ज्ञाता वस्तु को यथार्थरूप में जानता और पहचानता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष

अब हम अपनी चर्चा का ध्यान अलौकिक प्रत्यक्ष पर केन्द्रित करते हैं। अलौकिक प्रत्यक्ष ऐसा प्रत्यक्ष है जो इन्द्रिय और वस्तु के सम्पर्क के बिना भी ज्ञान प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के प्रत्यक्ष में इन्द्रियों एवं वस्तु के बीच सम्पर्क असाधारण प्रकार का होता है।

न्याय दर्शन तीन प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष मानता है–

अ) सामान्य लक्षण

ब) ज्ञान लक्षण

स) योगज

सामान्य लक्षण

सामान्य लक्षण के अन्तर्गत् हम 'सामान्यों' का प्रत्यक्ष करते हैं। न्याय दर्शन 'सामान्य' को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। 'सामान्य' किसी वर्ग के सभी 'विशेषों' में अन्तर्निहित रहता है। उदाहरण के लिए, हम मुर्गी मुर्गी है क्योंकि मुर्गी में सामान्य 'मुर्गीपन' अन्तर्निहित होता है। हम मनुष्य को मनुष्य इसलिए कहते और समझते हैं क्योंकि मनुष्य में मनुष्यत्व नामक सामान्यगुण पाया जाता है। यह मनुष्यत्व (सामान्य) दूसरे मनुष्यों में भी समान रूप से पाया जाता है।

दैनन्दिन जीवन में हम केवल विशेषओं जैसे मेज, गाय, कलम आदि का प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार, यह स्वीकारा जाता है कि जब हम विशेषों का प्रत्यक्ष करते हैं तब सर्वप्रथम हम इन विशेषों में अन्तर्निहित सामान्यों का प्रत्यक्ष करते हैं। जब हम किसी विशिष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं, तब हम सर्वप्रथम उसमें समवेत सामान्य का प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार के प्रत्यक्ष को नैयायिकों द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष माना जाता है।

ज्ञान लक्षण

ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष जटिल साहचर्य के माध्यम से प्रत्यक्ष है। इसमें कोई वस्तु इन्द्रिय के समक्ष साक्षात प्रस्तुत नहीं होती, अपितु भूतकाल की इसकी संज्ञा के द्वारा स्मृति में उपलब्ध होती है और प्रतिनिध्यात्मक तरीके से प्रत्यक्ष की जाती है। जिसके द्वारा इन्द्रिय अपने विषय से भिन्न विषय का ज्ञान भी ग्रहण करती है। जैसे बर्फ को देखने पर शीतलता का अनुभव होना, आग को देखकर ताप का अनुभव होना। जैसे किसी ने यदि अतीत में बर्फ की रूपाकृति एवं शीतल स्पर्श का अनुभव किया है, यहाँ रूप एवं स्पर्श के अव्यभिचारित साहचर्य (invariable association) के कारण व्यक्ति को बर्फ के चाक्षुष प्रत्यक्ष के क्षण में शीतलता का भी प्रत्यक्ष होने लगता है। इस प्रकार बर्फ को देखने पर शीतलता का अनुभव होता है।

योगज

योगज प्रत्यक्ष ऐसा अलौकिक प्रत्यक्ष है जो अतिप्राकृतिक शक्तियों से सम्पन्न योगियों में संभव होता है। योगी अपने ध्यान की शक्ति के द्वारा भूत, भविष्य एवं वर्तमान की सभी वस्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष कर सकता है।

निम्नरेखित आरेख न्याय दर्शन के प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रकारों को दर्शाता है,

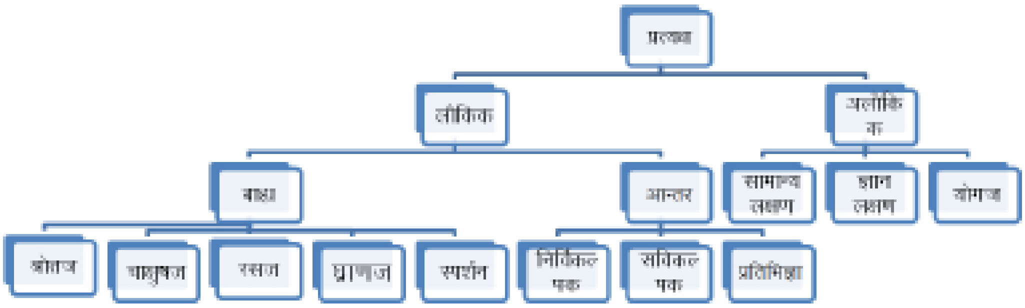

अनुमान

अनुमान न्याय–दर्शन द्वारा मान्य दूसरा महत्वपूर्ण प्रमाण है। अनुमान दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है– 'अनु' और 'मान'। 'अनु' का अर्थ है 'पश्चात्' और 'मान' का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार, अनुमान का शाब्दिक अर्थ हुआ – पश्चात् ज्ञान। दूसरे शब्दों में, अनुमान एक ऐसा ज्ञान है जो किसी पूर्व ज्ञान पर आधारित होता है।

अनुमान के घटक

कोई भी अनुमान कम से कम तीन वाक्यों से मिलकर बना होता है। ये तीन वाक्य पुनः तीन पदों; वृहद पद, लघु पद एवं निष्कर्ष से निर्मित होते हैं।

इन तीनों पदों युक्त वाक्य वृहद वाक्य, लघु वाक्य एवं निष्कर्ष वाक्य कहलाते हैं। जो अवयव वृहत् पद और लघुपद दोनों में पाया जाता है उसे मध्यवर्ती पद (Middle term) कहा जाता है। निष्कर्ष में केवल वृहत् पद एवं लघुपद पाया जाता है। यह मध्यवर्ती पद वृहत् पद और लघु पद को जोड़ता है। वृहत् पद लघु पद और मध्यवर्ती पद को ही न्याय दर्शन में 'साध्य', 'पक्ष' एवं 'हेतु' कहा जाता है।

एक उदाहरण के द्वारा इसे समझा जा सकता है–

वृहत् वाक्य – जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ आग है।

लघु वाक्य – इस पर्वत पर धुआँ है।

निष्कर्ष – इस पर्वत पर आग है।

यहाँ 'धुआँ' मध्यवर्ती पद है, 'आग' वृहत् पद और 'पर्वत' लघु पद है। किसी भी अनुमान में हेतु और साध्य के बीच 'व्याप्ति' सम्बन्ध पाया जाना चाहिए। व्याप्ति किसी भी अनुमान प्रक्रिया के मध्वर्ती पद और वृहत् पद के बीच पाया जाने वाला अव्यभिचारित, उपाधिरहित और सार्वभौम एवं अनिवार्य सम्बन्ध होता है।

अनुमान की प्रक्रिया में किसी पूर्व ज्ञान के चिन्ह अथवा पहचान/संकेत (लिंग) के आधार पर किसी वस्तु का ज्ञान किया जाता है। यह पूर्व ज्ञान मध्यवर्ती पद और वृहत् पद के बीच पाये जाने वाले अनिवार्य साहचर्य पर टिका होता है, जो कि लघु पद में घटित होता है।

उपरोक्त उदाहरण में यह कहा गया कि किसी व्यक्ति ने किसी पर्वत पर दूर से धुआँ उठते हुए देखा। धुएं को देखकर वह इसे अपने पूर्व ज्ञान से जोड़ता है कि जहाँ–जहाँ धुआं होता है, वहाँ–वहाँ आग होती है; जैसे– रसोईघर, लालटेन आदि में, जोकि एक अनिवार्य सत्य है। इस प्रकार व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचता है, चूंकि पर्वत पर धुआं है इसलिए पर्वत पर आग है।

अब हम किसी अनुमान की प्रक्रिया में वृहत् पद (साध्य), लघु पर (पक्ष) एवं मध्यवर्ती पद (हेतु) के महत्व को समझने का प्रयास करते हैं।

वृहत् पद (साध्य)

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित तर्कशास्त्र का 'वृहत् पद' और न्याय –दर्शन का 'साध्य' एक समान है। साध्य ही अनुमान का विषय होता है जिसे सिद्ध करना होता है। साध्य का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता इसका ज्ञान हमें अनुमान के द्वारा होता है। उपरोक्त उदाहरण में 'आग' 'साध्य' है।

लघु पद (पक्ष)

पाश्चात्य तर्कशास्त्र का 'लघुपद' और न्याय का 'पक्ष' समान हैं। पक्ष का हमें प्रत्यक्ष होता है, इसका हमें अनुमान नहीं करना होता है। पक्ष ही वह अधिष्ठान है जहाँ हम किसी विषय को सिद्ध करते हैं। इस विषय का साक्षात ज्ञान नहीं बल्कि परोक्ष ज्ञान होता है, जो अनुमान के द्वारा संभव हो पाता है। उपरोक्त उदाहरण में पर्वत 'पक्ष' है।

मध्यवर्ती पद (हेतु)

'हेतु' से तात्पर्य पाश्चात्य तर्कशास्त्र के मध्यवर्ती पद से है। इसे 'लिंग' (चिह्न) भी कहते हैं। सर्वप्रथम हेतु का सम्बन्ध साध्य से पाया जाता है और पुनः पक्ष से पाया जाता है। इस प्रकार, हेतु निष्कर्ष में 'पक्ष में साध्य' की सिद्धि को सम्भव बनाता है। उपरोक्त अनुमान की युक्ति में धुआं हेतु है।

अनुमान के प्रकार

अनुमान दो प्रकार के होते हैं।

1) स्वार्थानुमान

2) परार्थानुमान

प्रथम प्रकार का अनुमान स्वय अनुमानकर्ता के लिए होता है। वहीं दूसरे प्रकार का अनुमान दूसरों के लिए होता है। पहली स्थिति में तर्क प्रक्रिया को विभिन्न चरणों में व्यवस्थित करना आवश्यक नहीं होता क्योंकि यहाँ अनुमान व्यक्ति को स्वयं करना होता है। वहीं परार्थानुमान में यह आवश्यक हो जाता है। तर्कवाक्यों को सही एवं व्यवस्थित क्रम में रखने से ही किसी दूसरे को समूची अनुमान प्रक्रिया से परिचित कराया जा सकता है।

न्याय दर्शन के अनुसार परार्थानुमान के कुल पाँच अवयव होते हैं–

1) इस पर्वत पर आग है। (प्रतिज्ञा)

2) क्योंकि यहाँ धुआं है। (हेतु)

3) जहां–जहां धुआं रहता है, वहां–वहां आग रहती है, जैसे रसोईघर (उदाहरण)

4) पर्वत पर धुआं है। (उपनय)

5) इसलिए पर्वत पर आग है। (निगमन)

इस पूरी अनुमान प्रक्रिया में मध्यवर्ती पद तीन बार आता है, इसलिए यह 'त्रिलिंग परामर्श' के तौर पर भी जाना जाता है। इस अनुमान में यदि हम पहले दो न्यायवाक्यों अथवा अन्तिम दो न्यायवाक्यों को हटा दें तो अनुमान अवैध हो जायेगा। इसलिए अनुमान के लिए कम से कम ऐसे तीन न्याय वाक्य आवश्यक हैं जिनमें अनुमान के तीन पदों का समावेश हो।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. अनुमान की प्रक्रिया में हेतु की भूमिका पर प्रकाश डालें।

....

....

....

....

....

उपमान

उपमान न्याय दर्शन का तीसरा प्रमाण है। 'उपमान' दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है– 'उप और 'मान'। उप का अर्थ है सादृश्य और 'मान' का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार उपमान दो वस्तुओं के बीच सादृश्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। उपमान प्रमाण संज्ञा (नाम) और संज्ञी (नामधारी वस्तु) के बीच सम्बन्ध का परिणाम है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति जो यह नहीं जानता है कि गिलहरी कैसी होती है। किसी वनवासी के द्वारा उसे यह बताया जाता है कि गिलहरी चूहे की भांति एक छोटा जानवर होता है जिसकी लम्बी रोंयेंदार पूंछ और शरीर पर धारियां होती हैं। कुछ समय बाद जंगल में ऐसे किसी जन्तु को देखकर यह जान जाता है कि यह गिलहरी है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करता। उनके अनुसार उपमान प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण के अन्तर्गत् आ जाता है। सांख्य और वैशेषिक दर्शन के अनुसार उपमान अनुमान के अन्तर्गत् आ जाता है।

शब्द प्रमाण

शब्द न्याय–दर्शन का चौथा एवं अन्तिम प्रमाण है। शब्द का अर्थ है– शाब्दिक ज्ञान। यह शब्द अथवा वाक्य के द्वारा होने वाला वस्तु का ज्ञान है। समस्त शाब्दिक ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता। इसलिए नैयायिकों ने प्रामाणिक आप्त वचनों को शब्द माना है।

शब्द किसी आप्त पुरुष का विश्वसनीय आप्त वचन है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आप्त पुरुष कौन? आप्त पुरुष ऋषि, म्लेच्छ, आर्य कोई भी हो सकता है जो किसी मामले/विद्या में विशेषज्ञ हो और उस विशेष विद्या में अपने अनुभव को कहता है।

शब्द के प्रकार

अ) 1) दृष्टार्थ

2) अदृष्टार्थ

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ब) 1) लौकिक

2) अलौकिक

पहले वर्गीकरण का आधार वस्तुओं का अर्थ है और दूसरे वर्गीकरण का आधार शब्दों की उत्पत्ति है। इन्द्रियगोचर (perceptible) वस्तुओं से सम्बद्ध शब्द दृष्टार्थ कहलाते हैं जैसे 'मेज भूरी है', 'कौआ काला है', इत्यादि। जिस शब्द का सम्बन्ध इन्द्रियातीत वस्तु से होता है उसे 'अदृष्ट' कहते हैं जैसे 'कर्त्तव्य ईश्वर है', 'सत्य सद्गुण है' इत्यादि।

लौकिक शब्द जीवन–सामान्य से जुड़े शब्द हैं। अलौकिक शब्द को दैवीय अथवा वैदिक शब्द भी कहा गया है। वेद ईश्वरीय वाणी है वैदिक प्रमाण को पूर्ण एवं दिव्य माना गया है। नैयायिकों के अनुसार मनुष्य पूर्ण नहीं है और केवल विश्वसनीय आप्त पुरुषों के वचन को ही लौकिक शब्द स्वीकारा जा सकता है।

18.3 न्यायः कारणता–सिद्धान्त (असत्कार्यवाद)

कारणता–सिद्धान्त न्याय दर्शन का एक महत्वपूर्ण भाग है। न्याय के कारणता सिद्धान्त की चर्चा करने से पहले यह समझ लेना ठीक होगा कि 'कारणता' क्या है?

कारणता सिद्धान्त के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं–'कार्य' एवं 'कारण'। कारण किसी कार्य का अनौपाधिक (Unconditional) और नियत (Invariable) पूर्ववर्ती होता है, इसी प्रकार कार्य कारण का अनौपधिक और नियत परिणाम होता है।

न्याय के कारणता–सिद्धान्त को असत्कार्यवाद अथवा आरम्भवाद कहा जाता है। उनका मानना है कि कार्य कारण द्वारा उत्पन्न होता है किन्तु कार्य एवं कारण एक नहीं होते हैं। कार्य एक नवीन उत्पत्ति है जो कारण में पहले से विद्यमान नहीं था। जैसे घड़ा मिट्टी का बना होता है, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। नैयायिकों के अनुसार घड़ा एक नवीन उत्पत्ति है जो मिट्टी में पहले से विद्यमान नहीं था। इस प्रकार नैयायिक असत्कार्यवाद के समर्थक हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. असत्कार्यवाद क्या है?

....

....

....

....

....

18.4 न्याय: आत्म एवं मोक्ष

नैयायिक जगत् में असंख्य जीवात्माओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं। आत्माएं सुख–दुःखादि गुणों से युक्त हैं। इन्हें नित्य एवं विभु (सर्वव्यापक) माना गया है। न्याय के अनुसार, आमा का तादात्म्य न मन से और न ही शुद्ध चेतना से स्थापित किया जा सकता है परन्तु इसे किसी व्यक्ति विशेष की चेतना रूप में समझा जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि मन अणु रूप है और अदृश्य हाने से सभी दृश्यमान गुणों से रिक्त है। दूसरी ओर चेतना विशेष आत्मा से जुड़ी होती है किन्तु यह स्वयं आत्मा नहीं है। अतः चेतना आत्मा नहीं है बल्कि चेतना का एक गुण है। चेतना आत्मा का आगुन्तक गुण है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में चेतना से शून्य है इसलिए आत्मा किसी प्रकार के संज्ञान एवं ज्ञान से भी रहित है। इन्द्रियों से संयुक्त होने पर ही आत्मा चेतना को धारण करती है।

आत्मा 'अहं' ज्ञाता के रूप में जाना जाता है, और इसका ज्ञान आन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। जीव अज्ञानता के कारण बन्धन ग्रस्त होकर मुक्ति की इच्छा रखता है। मोक्ष उन समस्त दुःखों एवं बन्धनों से मुक्ति का नाम है जो आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। नैयायिक मानते हैं कि साहचर्य और मोह दुःख का कारण हैं। जब तक आत्मा का शरीर और इन्द्रिय के साथ संयोग रहता है तब तक जन्म और मृत्यु का चक्र चलता है। नैयायिक कर्म–सिद्धान्त में भी विश्वास करते हैं। न्याय–दर्शन के अनुसार, कर्मचक्र या कर्म प्रवाह के रुक जाने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था में आत्मा शरीर और इन्द्रियों से अलग हो जाती है।

18.5 न्याय: ईश्वर की अवधारणा

न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर विश्व का सृष्टा, पालक एवं विनाशक है। वह विश्व का निमित्त कारण है और उपादान कारण नहीं है। विश्व का उपादान कारण पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आदि के नित्य परमाणु हैं। ईश्वर ही इन परमाणुओं में गति संचालित करता है, वह विश्व की विभिन्न वस्तुओं को स्थिर बनाए रखने में सहायक होता है। उसे सभी वस्तुओं एवं घटनाओं का वास्तविक ज्ञान है। इस प्रकार ईश्वर और सर्वज्ञ स्वीकारा जाता है।

18.6 वैशेषिक: तत्त्वमीमांसा

वैशेषिक तत्त्वमीमांसा बहुतत्ववादी है, क्योंकि इसके अनुसार विविधता, विभिन्नता एवं बहुलता वास्तविकता का सार है। 'विशेषों' की सत्ता को इसलिए भी वास्तविक माना जाता है क्योंकि इनकी सत्ता के लिए हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। विश्व या वस्तु ज्ञेय (जानने योग्य या जिसे जाना जा सके), अभिधेय (नाम देने योग्य या जिसका नाम दिया जा सके), सत् है। इस प्रकार वैशेषिक तत्त्वमीमांसा को बहुतत्ववादी यथार्थवाद कहा जाता है। यह भौतिकवादी बहुतत्ववादी नहीं है। क्योंकि इसमें केवल भौतिक पदार्थ सम्मिलित न होकर आत्मा मनादि अभौतिक पदार्थ भी सम्मिलित हैं।

वैशेषिक सम्मत 'पदार्थ' का शाब्दिक अर्थ है, 'पद का अर्थ' अथवा 'किसी शब्द द्वारा अभिहित वस्तु'। यह (पदार्थ) ज्ञेय अर्थात ज्ञान का विषय एवं अभिधेय अर्थात् भाषा में कहे जाने योग्य है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार, यथार्थ ज्ञान की समस्त वस्तुएं सात पदार्थों के अन्तर्गत् आती हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव।

इनमें से प्रथम 6 पदार्थों का उल्लेख कणाद ने किया है एवं अन्तिम 'अभाव' नामक पदार्थ बाद में भाष्यकारों के द्वारा जोड़ा गया है। 'अभाव' को छोड़कर अन्य सभी पदार्थ अस्तित्व वाले, भाववाची हैं और सत् में सम्मिलित हैं। इन पदार्थों की प्रकृति के सम्बन्ध में आगे विस्तार से बताया जा रहा है।

18.6.1 द्रव्य

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य वह सत्ता है जिसमें गुण एवं कर्म रहते हैं। यह किसी कार्य का समवायि अथवा उपादन कारण होता है। द्रव्य में इसकी जाति द्रव्यत्व समवाय सम्बन्ध से रहती है। यह केवल गुण एवं कर्मों का जोड़मान (योग) नहीं है, बल्कि इसकी वास्तविक एवं वस्तुनिष्ठ सत्ता है। द्रव्य गुण एवं कर्म से भिन्न है। क्योंकि यह उनका आश्रय है। गुण एवं कर्म द्रव्य में समवायित रहते हैं। द्रव्य आधार भूत आश्रय है। गुण एवं कर्म द्रव्य से पृथक किये जा सकते हैं क्योंकि ये द्रव्य पर आश्रित होते हैं।

द्रव्य अपने कार्यों का उपादान कारण होता है। इससे स्पष्ट होता है कि द्रव्य का गुण एवं कर्म से स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। गुण और कर्म इस भाव में द्रव्य के असमवायि कारण कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, धागों का हरा रंग, जो कि एक गुण है, कपड़े का असमवायिकारण है। इस प्रकार कर्म जैसे कि कलम का पकड़ना भी असमवायिकारण होता है। अंगुलियों और कलम के बीच का संयोग सम्बन्ध अस्थायी होता है तथा संयोग समाप्त होने पर कलम और अंगुलियों के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता, किन्तु यह द्रव्य की स्थिति में संभव नहीं है। इसलिए द्रव्य किसी कार्य का समवायि कारण होता है। जैसे कपड़ा धागों से मिलकर बना होता है। बिना धागों के कपड़े का अस्तित्व संभव नहीं है। इस प्रकार धागे कपड़े का समवायिकारण हैं ये मूलभूत सामग्री हैं जिनसे कपड़े का निर्माण होता है। इस प्रकार द्रव्य किसी कार्य का समवायिकारण होता है और गुण एवं कर्म असमवायिकारण होते हैं।

वैशेषिक दर्शन का यह मानना है कि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में द्रव्य में गुणों का अभाव होता है। परवर्ती क्षण में ही द्रव्य गुणों का धारण करता है। द्रव्य दो प्रकार के होते हैं, नित्य एवं अनित्य। अनित्य द्रव्य हैं,

1) पृथिवी,

2) जल,

3) तेज, एवं

4) वायु,

नित्य द्रव्य हैं,

1) दिक,

2) काल,

3) आत्मा, और

4) मन

इसके अतिरिक्त, वैशेषिकों ने आकाश तत्व की सत्ता स्वीकार की है। इस प्रकार वैशेषिकों द्वारा कुल नौ द्रव्य माने गए हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत कहलाते हैं। इन सभी द्रव्यों में से प्रत्येक में एक विशिष्ट गुण होता है, जिसका ग्रहण हम किसी एक इन्द्रिय से करते हैं। जैसे पृथिवी में गन्ध, जल में रस, तेज (अग्नि) में रूप, वायु में स्पर्श तथा आकाश में पाये जाना वाला गुण शब्द। ये गुण क्रमशः नाक, जीभ, आंख, त्वचा एवं कानों से ग्रहण किए जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन इन्द्रियों की उत्पत्ति पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश से हुई है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जो कुछ भी यौगिक होने से अवयवयुक्त एवं विभाज्य है, वह नित्य नहीं हो सकता। दूसरी ओर, सरल एवं अविभाज्य तत्वों को नित्य माना गया है। इसी आधार पर वैशेषिक अनित्य द्रव्यों को नित्य द्रव्यों से अलग करते हैं। इस विभेद से पता चलता है कि वैशेषिक दर्शन एक प्रकार के सत्तामीमांसीय द्वैतवाद का समर्थक है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह आत्मा एवं भौतिक तत्व दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है।

18.6.2 गुण

वैशेषिक दर्शन के अनुसार गुण द्रव्य पर आश्रित होते हैं और गुण में गुण नहीं होते हैं। गुणों का द्रव्य से प्रथम अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। गुण केवल द्रव्य से ही सम्बन्धित हो सकते हैं न किसी अन्य गुण या धर्म से। गुण पूर्णतः निष्क्रिय होते हैं और किसी अन्य विषय को उत्पन्न नहीं करते हैं।

गुण में गुण नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, रंग द्रव्य का गुण होता है। यह अपनी गन्ध, स्वाद और अन्य गुणों का गुण नहीं होता है। अतः गुण में और कोई गुण नहीं होते हैं। गुण में कर्म भी नहीं होते हैं। कर्म का आश्रय भी द्रव्य ही होता है। द्रव्य के गुण में कार्य क्षमता नहीं होती है। उदाहरण के लिए, चिड़िया उड़ रही है। यहाँ गति के रूप में उड़ान चिड़िया (द्रव्य) का कर्म है न कि चिड़िया में पंखों में रंग का। अतः रंग से गति नहीं आती है। अर्थात् गुण में कर्म नहीं होते हैं। इस सबके माध्यम से वैशेषिक दर्शन स्पष्ट करना चाहता है कि गुण द्रव्य या समवायी कारण नहीं है। क्योंकि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में द्रव्य गुण के बिना अस्तित्वमान होता है। इसलिये गुण इसमें बाद में आते हैं।

गुण भौतिक या फिर मानसिक हो सकते हैं और अनिवार्य रूप से विभू/नित्य नहीं होते हैं। वैशेषिक दर्शन चौबीस गुणों को स्वीकारता है। ये हैं, 1) रंग, 2) रस, 3) गन्ध, 4) स्पर्श, 5) शब्द, 6) संख्या, 7) परिणाम, 8) विशिष्टता, 9) संयोग, 10) विभाग, 11) समीपता/समीपस्थ, 12) दूरस्थ, 13) संज्ञा, 14) सुख, 15) दुःख, 16) इच्छा, 17) घृणा , 18) प्रयत्न, 19) भारीपन, 20) तरलता, 21) श्यानता, 22) प्रवृत्ति, 23) धर्म, 24) अधर्म।

वैशेषिक दर्शन में अनुसार ये चौबीस गुण नियम नहीं है। यदि गुणों में उपविभागों को भी गिना जाए तो यह संख्या बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, नीला, लाल, पीला आदि रंगों को रंग नामक गुण के अन्तर्गत् गिना जा सकता है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

1. नित्य एवं अनित्य द्रव्यों का नामोल्लेख कीजिए और उनके भेदों का कारण बताइए।

....

....

....

....

....

18.6.3 कर्म

कर्म भौतिक गति है। गुण के समान कर्म भी द्रव्य पर आश्रित रहने वाला धर्म है। यह गुण जो नियत एवं निष्क्रिय है, के विपरीत गत्यात्मक एवं सक्रिय है। कर्म अन्य कर्म या गुण को धारण नहीं कर सकता है। कर्म ही द्रव्यों के संयोग एवं वियोग का कारण होते हैं।

कर्म का अस्तित्व ज्ञान–निरपेक्ष है। अभिधेय एवं ज्ञेय होने से कर्म को पदार्थ माना जाता है। इसका अस्तित्व इसके ज्ञान एवं अभिव्यक्ति से स्वतंत्र होता है। यह आधारभूत द्रव्य में आश्रय पाता है।

कर्म द्रव्य का निरपेक्ष, असमवायि कारण है। यह अनित्य है इसलिए अनित्य द्रव्यों में ही रहता है।

वैशेषिक दर्शन ने कर्म पांच प्रकार के स्वीकारे हैं।

1) उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना)
2) अपक्षेपण (नीचे फेंकना)
3) आकुन्चन (सिकोड़नपा)
4) प्रसरण (फैलाना)
5) गमन (चलना)

ध्यान रहे कि कुछ कर्मों का प्रत्यक्ष संभव नहीं होता उनका आन्तरिक प्रत्यक्ष से अनुमान मात्र होता है। जैसे कि मन की क्रियाएं।

बोध प्रश्न 4

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. वैशेषिक दर्शन में विभिन्न प्रकार के कर्मों को स्पष्ट कीजिए।

....

....

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

18.6.4 सामान्य

वैशेषिकों के अनुसार सामान्य वह पदार्थ है जिसके आधार पर विभिन्न वस्तुओं को समूहबद्ध किया जाता है तथा जिसे किसी वर्ग का निर्देश करने वाले सामान्य नाम के द्वारा पुकारा जाता है; जैसे पक्षी, मेज, फल इत्यादि। वैशेषिक बल देते हैं कि सामान्य द्रव्य, गुण एवं कर्म में पाए जाते हैं। ये अदैशिक एवं अकालिक होते हैं। ये प्रत्ययों की वास्तविकता की प्लेटोवादी धारणा से मेल खाते हैं। वस्तुतः एक सामान्य दूसरे सामान्य में नहीं रह सकता। यदि ऐसा होता तो एक एवं सदृष कोटि की वस्तु में विरोधी गुण पाये जाते।

वैशेषिक सामान्य को तीन भागों में विभाजित करता है–

1) पर

2) अपर

3) परापर

'पर' सर्वव्यापक सामान्य है। पर सामान्य का अर्थ है सबसे अधिक व्यापक सामान्य। सत्ता पर सामान्य का उदाहरण है। इस सामान्य के अन्दर सभी सामान्य आ जाते हैं। सबसे कम व्यापक सामान्य को 'अपर–सामान्य' कहा जाता है। इस सामान्य का उदाहरण मनुष्यत्व है। परापर सामान्य पर –सामान्य से कम व्यापक और अपर सामान्य से अधिक व्यापक होता है। जैसे 'प्राणीत्व' परापर सामान्य का उदाहरण है। जो सत्ता से कम व्यापक और मनुष्यत्व से अधिक व्यापक सामान्य है।

भारतीय दर्शन में सामान्य सम्बन्धी विचार तीन दृष्टियों से समझा जा सकता है–

1) नामवाद

इस मत के समर्थकों के अनुसार सामान्य किसी विशिष्ट वर्ग के एक समान व्यक्तियों में पाये जाने वाला आवश्यक धर्म न होकर नाममात्र है। किसी वर्ग के सभी व्यक्तियों का एक समान होना और दूसरे वर्ग के व्यक्तियों से अलग होना नाम के कारण होता है। सामान्य की कोई स्वतन्त्र पृथक सत्ता नहीं होती है। बौद्ध–दर्शन इस मत का समर्थक है जिसका नामवाद अपोहवाद के नाम से जाना जाता है।

2) प्रत्ययवाद

इस मत के अनुसार व्यक्ति–विशेषों के अतिरिक्त सामान्य की कोई सत्ता नहीं है। सामान्य गुण बाहर से आकर व्यक्ति–विशेष के अन्दर प्रवेश नहीं करता है। सामान्य और व्यक्ति–विशेष अभिन्न हैं, उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। यह सामान्यतः व्यक्ति–विशेष का आन्तरिक आधार अथवा सारभूत गुण होता है। जिसे हमारी बुद्धि ग्रहण करती है। जैन दर्शन और अद्वैत वेदान्त इस मत के समर्थक हैं।

3) वस्तुवाद

इस मत के अनुसार सामान्य न तो मानसिक प्रत्यय है, न ही केवल नाम। सामान्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। सामान्य के कारण ही किसी वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में समानता पाई जाती है। प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु में विद्यमान यह सामान्य नित्य होता है। सामान्य के कारण ही एक वर्ग के सभी सदस्य एक समान नाम से पुकारे जाते हैं। न्याय–वैशेषिक सम्प्रदाय द्वारा इस मत का समर्थन किया गया है।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

18.6.5 विशेष

विशेष सामान्य के ठीक विपरीत है। विशेष निरवयव नित्य द्रव्यों की वह विशिष्टता है जो विभाजित होती है। इन नित्य द्रव्यों में दिक, काल, आत्मा, मन और आकाश, पृथिवी, जल, वायु एवं अग्नि के परमाणुओं की गणना होती है। अतः यह परम एवं विभू है। निरवयव द्रव्यों को विशेष की सहायता से ही एक दूसरे से अलग जाना जाता है। विशेष एक द्रव्य के विभिन्न परमाणुओं को एक दूसरे से पृथक करता है। और इसी कारण प्रत्येक परमाणु अपने में विशिष्ट होता है। विशेष अविभाज्य होने से और आगे विभाजित नहीं होता है। विशेष नित्य है, क्योंकि जिन द्रव्यों में ये रहते हैं, वे नित्य हैं। असंख्य द्रव्यों में पाये जाने से विशेष असंख्य कहा गया है। इस प्रकार विशेष अदृश्य है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है।

18.6.6 समवाय

समवाय दो वस्तुओं के बीच पाये जाने वाला अवियोज्य सम्बन्ध है। समवाय सम्बध में होने पर एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक एंव स्वतन्त्र नहीं रह सकती। समवाय सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध है। द्रव्य और गुण, द्रव्य और कर्म, सामान्य एवं व्यक्ति, अवयव एवं अवयवी एवं विशेष और नित्य द्रव्य के बीच सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। धागों एवं कपड़े के बीच, फूल और सुगन्ध के बीच जो सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध का परिचायक है। समवाय सम्बन्ध को संयाग से भिन्न समझा जाना चाहिए। संयोग दो द्रव्यों के बीच पृथक हो सकने वाला सम्बन्ध है। संयोग अन्तिम एवं अस्थाई होता है जबकि समवाय नित्य होता है। संयोग दो द्रव्यों के बीच घटित होने वाला सम्बन्ध है जबकि समवाय किसी द्रव्य में समवेत होकर रहने वाला सम्बन्ध है। संयोग एक बाह्य सम्बन्ध होता है जबकि समवाय द्रव्य में आन्तरिक सम्बन्ध के रूप में होता है। जिन दो द्रव्यों का संयोग होता है वे एक दूसरे से पृथक रह सकते हैं। द्रव्य से समवेत पदार्थ द्रव्य से पृथक नहीं हो सकते। समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु अनुमान किया जाता है। इसका कारण यह है कि समवाय का कोई विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान/संज्ञा नहीं होती है।

18.6.7 अभाव

अभाव वैशेषिक दर्शन का सातवां पदार्थ है। कणाद द्वारा एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में अभाव की गणना नहीं की गई थी। अभाव को परवर्ती भाष्यकारों द्वारा जोड़ा गया है। वैशेषिक दर्शन का यह मानना है कि अन्य भाव पदार्थों की भांति अभाव का भी प्रत्यक्ष संभव है। अभाव का अर्थ किसी वस्तु का किसी विशेष काल में किसी विशेष स्थान पर अनुपस्थिति है।

अभाव को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया गया है–

1) संसर्गाभाव

2) अन्योन्याभाव

संसर्गाभाव से किसी एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु की अनुपस्थिति सूचित होती है, जैसे अग्नि में शीतलता का न होना।

संसर्गाभाव को पुनः तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–

1) प्रागभाव

2) ध्वंसाभाव

3) अत्यन्ताभाव

प्रागभाव

उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अपने कारण में अभाव प्रागभाव कहलाता है। जैसे बढ़ई के द्वारा बनाये जाने से पूर्व कुर्सी का अस्तित्व नहीं होता। अतः बनने से पूर्व लकड़ी में कुर्सी का अभाव। इसी प्रकार घड़े के निर्माण से पूर्व मिट्टी में घड़े का अभाव। अतः प्रागभाव का प्रारम्भ नहीं होता है। किन्तु इसका विनाश अवश्य होता है।

ध्वंसाभाव

ध्वंसाभाव विनाश के बाद वस्तु का अभाव है। उदाहरण के लिए, घड़े के टूटने (ध्वंस होने) के बाद मिट्टी में घड़े का अभाव। ध्वंसाभाव का प्रारम्भ होता है किन्तु अन्त नहीं होता।

अत्यन्ताभाव

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में भूत, भविष्य एवं वर्तमान किसी भी काल में न पाया जाना अत्यन्ताभाव कहलाता है। चन्द्रमा में ताप का न पाया जाना अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। अन्यन्ताभाव का न आदि होता है और न अन्त। यह नित्य होता है।

अन्योन्याभाव

अन्योन्याभाव का तात्पर्य है दो वस्तुओं का परस्पर भिन्न होना। इसे प्रतीकात्मक रूप से इस प्रकार व्यक्त कर सकते है– 'अ ब नहीं है।' जैसे–मेज घोड़ा नहीं है। मेज में घोड़े का अभाव और घोड़े में मेज का अभाव अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव नित्य होता हैं क्योंकि किन्हीं दो वस्तुओं का नितान्त भिन्न होना सभी कालों एवं सभी स्थितियों के लिए होता है।

18.7 वैशेषिक: ज्ञानमीमांसा

वैशेषिक दर्शन दो प्रकार के प्रमाणों को स्वीकार करता है– प्रत्यक्ष और अनुमान। उनके अनुसार, नैयायिकों द्वारा स्वीकृत अन्य दो प्रमाणों उपमान एवं शब्द को क्रमशः प्रत्यक्ष एवं अनुमान में अन्तर्भूत किया जा सकता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार वस्तु–जगत् से उत्पन्न संवेदनों एवं संस्कार के कारण ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु जब तक मन सक्रिय न हो तब तक ऐन्द्रिय संवेदन एवं संस्कार स्वतः ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते। मन की सक्रियता से ही वस्तु जैसी है वैसी ग्रहण की जाती है। अन्यथा, हम केवल कुछ है यही का अवधान कर सकते हैं, न कि वस्तु–विशेष की उपस्थिति का। वस्तु के समुचित ज्ञान के लिए शुद्ध ऐन्द्रिय संवेदनों एवं संस्कारों को वर्गीकृत होकर बुद्धि–विकल्पों में ढलना होता है। मन का इस तरह का परिवर्तन आत्मा में उत्पन्न चेतन कार्य के रूप में जाना जाता है। यह अन्तर्निहित करता है कि चेतना के आश्रयभूत आत्मा के बिना ज्ञान संभव नहीं है।

वैशेषिक दर्शन का मानना है कि विश्व की सभी भौतिक वस्तुओं का निर्माण संघातों से होता है जो उत्पन्न और नष्ट होते हैं। किसी वस्तु के प्रत्येक भाग को और सूक्ष्मतर भाग में बांटा जा सकता है। इन सूक्ष्मतर भागों को पुनः सूक्ष्मतम भागों में बांटा जा सकता है इस प्रकार एक ऐसी स्थिति आ जाती है जहां वस्तु का और सूक्ष्म विभाजन नहीं हो सकता। किसी द्रव्य का यह अविभाज्य कण नित्य होता है और परमाणु कहलाता है। विश्व की सभी भौतिक वस्तुएं इन्हीं परमाणुओं के संघात से निर्मित होती हैं। वैशेषिक मत के अनुसार पृथिवी, जल, वायु, और अग्नि – ये कुल चार प्रकार के परमाणु होते हैं। इन चार प्रकार के परमाणुओं के भिन्न–भिन्न संघात से ही विश्व के

समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण हुआ है। इन्हीं संघातों के टूटने से ही भौतिक पदार्थों का नाश हो जाता है। वैशेषिक का मत है कि विश्व परमाणुओं से निर्मित है, दो परमाणु मिलकर द्वयणुक बनाते हैं। तीन द्वयणुक मिलकर एक त्रयणुक बनाते हैं। एक परमाणु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टियों से दूसरे परमाणुओं से भिन्न होता है। वैशेषिक का सृष्टि सम्बन्धी मत 'परमाणुकारणवाद' कहलाता है।

18.8 वैशेषिकः ईश्वर की अवधारणा

वैशेषिक दर्शन ईश्वर में विश्वास करता है और ईश्वर को वेद का रचयिता मानता है। ईश्वरीय कृति होने के कारण ही वेद को प्रमाणित माना गया है। ईश्वर पूर्ण, परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं नित्य है। ईश्वर परमाणुओं की गति को नियन्त्रित करने के लिए नियामक है। ईश्वर कर्मफलदाता और अदृष्ट नियम का संचालक है जो जीवात्माओं के पाप अथवा पुण्य वाले कर्मों के अनुरूप फल प्रदान करता है। जीवों को उनके अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए ही ईश्वर परमाणुओं में क्रिया प्रवर्तित करता है।

ईश्वर कर्त्ता है क्योंकि वह विश्व का रूपरेखाकार है। विश्व की सृष्टि एवं विनाश ईश्वर की इच्छा का विषय है। इन अर्थों में वैशेषिक अणुवाद को आध्यात्मिक कहा जा सकता है। मूलरूप से गतिहीन परमाणुओं को गति ईश्वर ही प्रदान करता है। सृष्टि का प्रारम्भ तब तक नहीं होता है जब तक ईश्वर परमाणुओं को गतिमान नहीं कर देता। इसलिए ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण कहा गया है।

18.9 वैशेषिकः बन्धन एवं मोक्ष

वैशेषिक का मानना है कि अज्ञान के कारण जीवात्मा बन्धनग्रस्त रहती है और ज्ञान के द्वारा ही बन्धनों से मुक्ति पाई जा सकती है। संक्षेप में, बन्धन अज्ञान के कारण है और मुक्ति ज्ञान के द्वारा। बन्धन और मुक्ति का सम्बन्ध हमारे कर्मों से है। इस सम्बन्ध में वैशेषिक का मानना है कि आत्मा कर्म करता है। अज्ञान के कारण जीवात्माकृत कर्मों को शुभ अथवा अशुभ माना जाता है। जीवात्मा के कर्म प्रवाह के कारण ही शुभ और अशुभ कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्म–प्रवाह के अनुसार प्रत्येक कर्म के अनुरूप इसका फल होता है। इस प्रकार शुभ कर्मों का परिणाम शुभ होता है और अशुभ कर्मों का परिणाम अशुभ होता है। ये सब कर्मफल सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं।

कर्म का यह नियम ईश्वर द्वारा संचालित होता है। ईश्वर जीवात्माओं को कर्मफल प्रदान करने के लिए परमाणुओं को गति प्रदान करता है और सृष्टि की उत्पत्ति करता हैं जीवात्मा जब तक अपनी कामनाओं के वशीभूत होकर कर्म करता रहेगा तब तक वह बन्धग्रस्त रहेगा। जब जीव मन एवं शरीर से भिन्न अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, तो वह अपनी इच्छाओं एवं संवेगों के हाथों दुःख को प्राप्त नहीं होता।

मोक्ष सभी दुःखों, इच्छाओं, संवेगों, प्रवृत्तियों एवं सभी गुणों का पूरी तरह से क्षीण हो जाना है। मोक्ष सभी दुःखों, इच्छाओं, संवेगों, प्रवृत्तियों एवं सभी गुणों का पूरी तरह से क्षीण हो जाना है। मुक्ति के समय आत्मा में चेतना सहित सभी गुणों का अभाव हो जाता है। अतः मुक्त आत्मा निष्क्रिय होती है।

18.10 सारांश

ऋषि गोतम न्याय दर्शन के प्रवर्त्तक हैं। यह दर्शन, अन्य भारतीय दर्शनों से असमान, सत् के ज्ञान के लिए वैध तर्क–प्रणाली (अनुमान) पर चिंतन करता है। न्याय दर्शन के अनुसार, ज्ञान विषयों के साथ उद्भासित होता है। ज्ञान दो प्रकार का है, यथार्थ एवं अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान चार भागों में विभाजित है, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द (आप्त–वचन), जबकि स्मृति, संशय, भ्रम और तर्क अयथार्थ ज्ञान हैं। न्याय दर्शन असत्कार्यवाद को मानता है, जिसके अनुसार कार्य कारण के समान नहीं है। कार्य नयी उत्पत्ति या अपने अस्तित्व का नव–स्फुटन है।

वैशेषिक शब्द इस सम्प्रदाय द्वारा मान्य 'विशेष' नामक पदार्थ पर आधारित है। वैशेषिक दर्शन सात पदार्थों को मानता है। इसके संस्थापक कणाद ने केवल छः पदार्थों का उल्लेख किया है। 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ बाद के भाष्यकारों द्वारा जोड़ा गया। वैशेषिक दर्शन ज्ञानमीमांसीय वस्तुवादी है। यह दो प्रमाणों को स्वीकारता है, प्रत्यक्ष और अनुमान।

18.11 कुंजी शब्द

भौतिकवाद : भौतिकवाद के अनुसार केवल भूत अर्थात् जड़वस्तुओं की ही सत्ता है। विश्व के सभी पदार्थ यहां तक कि चेतना भी भौतिक पदार्थों से निर्मित है।

बहुतत्ववाद : बहुतत्ववाद के अनुसार विश्व के मूलभूत तत्वों की संख्या अनेक है।

पदार्थ : पदार्थ वस्तुओं का वह व्यापकतम वर्ग है जिसे जाना जा सकता है एवं कोई नाम दिया जा सकता है।

18.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

चटर्जी, एस.सी. द *न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज*. कलकत्ताः युनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता प्रेस, 1950.

बारलिंगे, एस.एस. ए *मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन लॉजिक*. देल्हीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1965.

मतिलाल, बिमल कृष्ण. *पर्सेप्शन*. ऑक्सफोर्डः क्लेरेन्डन प्रेस, 1986.

मुलर, एफ.एस. द *सिक्स सिस्टम ऑफ फिलॉसोफी*. लन्दनः लांगमेन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी पब्लिकेशन, 1928.

विद्या भूषण, एस.सी. ए *हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक*. देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, 1971.

शर्मा, सी.डी. ए *क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी*. देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन 1964.

सिन्हा, जे. एन. *इण्डियन रियलिज्म.* लंदन: केगन पॉल पब्लिकेशन, 1938.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

शर्मा. ब्रजनारायण. *भारतीय दर्शन में अनुमान.* भोपाल: मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1973.

सूरी, हरिभद्र. *षड्दर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

18.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. हेतु को पाश्चात्य तर्कशास्त्र से मध्यवर्ती पद के नाम से जाना जाता है। यह वृहत् वाक्य और लघु वाक्य दोनों में पाया जाता है। यह वृहत् पद (साध्य) को लघु पद (पक्ष) में सिद्ध करने में सहायक होता है।

बोध प्रश्न 2

1. न्याय–दर्शन के अनुसार कार्य उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता। कार्य एक नवीन उत्पत्ति होती है। यह असत्कार्यवाद कहलाता है।

बोध प्रश्न 3

1. पृथिवी, जल, अग्नि, वायु के परमाणु एवं आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन–ये नित्य पदार्थ हैं। पृथिवी, जल, वायु, और अग्नि सावयव एवं संघात रूप में अनित्य होते हैं क्योंकि संघात उत्पत्ति एवं विनाशशील होते हैं।

बोध प्रश्न 4

1. वैशेषिक दर्शन ने पांच प्रकार के कर्म माने हैं :–

   1) उत्क्षेपण

   2) अवक्षेपण

   3) आकुंचन

   4) प्रसरण

   5) गमन

इकाई 19 सांख्य–योग[19]

रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 परिचय

19.2 सांख्य दर्शन: तत्त्वमीमांसा

19.3 सांख्य दर्शन: कारणता–सिद्धान्त

19.4 सांख्य दर्शन: ज्ञानमीमांसा

19.5 सांख्य दर्शन: बन्धन एवं मोक्ष

19.6 योग दर्शन: योगसूत्रों की संरचना

19.7 योग का मनोविज्ञान

19.8 अष्टांग योग

19.9 योग दर्शन: ईश्वर और कैवल्य

19.10 सारांश

19.11 कुंजी शब्द

19.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

19.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद छात्र स्वयं को सक्षम पायेंगे–

- सांख्य के कारण–सिद्धान्त की व्याख्या में; पुरुष और प्रकृति के बीच अन्तर स्पष्ट कर पाने में,
- सांख्य के सृष्टि क्रम बन्धन एवं मोक्ष सम्बन्धी विचारों की चर्चा में, सांख्य प्रतिपादित प्रमाणों के विश्लेषण में,
- चित्त के विभिन्न रूपों, क्लेश के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या में,
- योग दर्शन के अष्टांग योग एवं योग की मोक्ष (कैवल्य/समाधि) सम्बन्धी विचारों की चर्चा में।

[19] डॉ. सत्य सुन्दर सेठी, सह आचार्य, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मद्रास, अनुवाद– श्री दिलीप जायसवाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

19.1 परिचय

इस इकाई में छात्र सांख्य के कारणता सिद्धान्त, पुरुष एवं प्रकृति के बीच भेद, प्रकृति के गुणों–सत्त्व, *रजस्* एवं *तमस्* तथा कुछ अन्य विषयों को पायेंगे। पिछली इकाई में छात्रों ने वैशेषिक दर्शन का कुछ विस्तार में अध्ययन किया था। वैशेषिक दर्शन के विचारों का अध्ययन करते समय छात्रों ने वहाँ वैशेषिक दर्शन की तत्त्वमीमांसा, पदार्थों की विवेचना बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा आदि विषयों को समझा था।

इस इकाई में छात्र पायेंगे कि सांख्य दर्शन किस प्रकार जगत् के विकास के कारण, विश्व की सृष्टि में प्रकृति एवं पुरुष का योगदान, प्रमाणों अर्थात् सत्य ज्ञान के साधनों के सम्बन्ध में युक्तियाँ प्रस्तुत करता है।

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन के सबसे प्राचीन सम्प्रदायों में से एक है। ऐसा मानने के पीछे कारण यह है कि सांख्य के मूलभूत सिद्धांतों की प्रसंगवश चर्चा न्याय, वैशेषिक, योग, जैन दर्शन एवं वेदान्त दर्शन में पायी जाती है। सांख्य दर्शन के संस्थापक/प्रतिपादक कपिल माने जाते हैं जिन्होंने सांख्यसूत्र की रचना की। ये सूत्र ही सांख्य दर्शन के रूप जाने जाते हैं। इसकी बहुत सारे परवर्ती विद्वानों ने व्याख्या की है, उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्या ईश्वरकृष्ण की *सांख्यकारिका* मानी जाती है।

कुछ विद्वानों का विश्वास है कि सांख्य शब्द की उत्पत्ति संख्या शब्द से हुई है जिसका तात्पर्य है संख्या और सम्यक् या यथार्थ ज्ञान। सम्यक् ज्ञान विश्व के अन्तिम घटक तत्त्वों की संख्या के निर्धारण के द्वारा सत् या वास्तिवकता के बारे में है।

योगदर्शन जीव और जगत् से जुड़े परम सत्य की अनुभूति के सिद्धान्त और प्रयोग पर बल देता है। योगदर्शन के प्रवर्तक पतंजलि के अनुसार योग इन्द्रियों, स्थूल शरीर, सूक्ष्म मन, बुद्धि और अहंकार के नियंत्रण के द्वारा (चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा) पूर्णता (कैवल्य) को प्राप्त करने का आध्यात्मिक प्रयत्न है। योग आध्यात्मिक अनुभूति के माध्यम से उच्चतम प्रज्ञा की उपलब्धि के लिए पथ–प्रदर्षक करता है।

पतंजलि कृत *'योगसूत्र'* योग के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का प्रथम व्यवस्थित एवम् आधिकारिक प्रतिपादन है। योगसूत्रों पर व्यास रचित *'योगभाष्य'* और वाचस्पति मिश्र रचित *'तत्व–वैशारदी'* योग–दर्शन के अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ये दोनों ग्रन्थ योगसूत्रों पर भाष्य के रूप में जाने जाते हैं।

योग–दर्शन घनिष्ठ रूप से सांख्य दर्शन से सम्बद्ध है। जहाँ योग आत्मानुभूति के व्यावहारिक मार्ग पर बल देता है, जबकि सांख्य–दर्शन ध्यान के द्वारा ज्ञान (प्रकृति–पुरुष के विवेकज्ञान) प्राप्ति पर बल देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि योग व्यवहार पक्ष है और इसका सैद्धांतिक पक्ष है–सांख्य।

सांख्य और योग दर्शन के बीच समानताओं के बावजूद असमानताएं भी देखी जा सकती हैं। दोनों दर्शनों के मध्य असमानता इस बात की है जहां योग नित्य, विभु 'पुरुष विशेष' या 'परम पुरुष' के रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकर करता है, वहीं सांख्य का मत है कि पुरुष अनेक हैं, अतः असंख्य जीव हैं।

19.2 सांख्य दर्शनः तत्त्वमीमांसा

सांख्य दर्शन को द्वैतवादी वस्तुवाद कहा जाता है। इसे द्वैतवादी इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह दो परम सत्ताओं–प्रकृति एवं पुरुष को मानता है। इसके साथ ही यह पुरुष की अनेकता एवं बहुविध जड़ तत्व की सत्ता मानता है इसलिए इसे बहुतत्ववादी कहा जा सकता है। यह वस्तुवादी अर्थात् यथार्थवादी दर्शन भी कहा जा सकता है क्योंकि यह जड़–तत्व एवं आत्मा दोनों को एक समान रूप से सत्य मानता है। सांख्य मत के अनुसार आत्म तत्व (पुरुष) और अनात्म तत्व (प्रकृति) विषयी एवं विषय की भांति एक–दूसरे से नितान्त भिन्न हैं।

सांख्य के अनुसार, प्रकृति ही विश्व की सभी वस्तुओं का मूलभूत एवं आदिकारण है। इन वस्तुओं में हमारा मन, शरीर एवं ज्ञानेन्द्रियां भी सम्मिलित हैं। यह देखा गया है कि प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। कार्य एवं कारण दो अवियोज्य तत्व हैं जो विश्व में उद्भूत (उत्पन्न) सभी वस्तुओं की व्याख्या करते हैं। इसलिए विश्व की सभी वस्तुएं कार्य–कारण सम्बन्धों की श्रृंखला में बंधी होती हैं। इस सम्बन्ध को सांख्य सत्कार्यवाद नाम देता है।

19.3 सांख्य दर्शनः कारणता–सिद्धान्त

सांख्य का कारणता सिद्धान्त सत्कार्यवाद के रूप में जाना जाता है। इसके अनुसार कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। जैसे दही जमने से पूर्व दूध में पहले से विद्यमान रहती है। इसलिए वस्तुतः कार्य कोई नया प्रारम्भ या नई उत्पत्ति नहीं है। इसे 'परिणामवाद' के नाम से भी जाना जाता है। सांख्य–दर्शन ने निम्नलिखित युक्तियों से अपने सत्कार्यवाद का समर्थन किया है–

1) यदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं है, तो यह कारण से अतिरिक्त किसी और प्रकार से अस्तित्व में नहीं आ सकता कार्य कुछ और न होकर कारण की ही अभिव्यक्ति होता है, जैसे तेल केवल तेल युक्त बीजों से ही पैदा हो सकता है।

2) एक विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति एक विशिष्ट कारण से ही संभव है। एक घड़े की उत्पत्ति मिट्टी से ही संभव है, कपड़ा धागों से मिलकर ही बनेगा।

3) यदि कार्य कारण से न जुड़ा हुआ हो तो प्रत्येक कार्य कारण से उत्पन्न होने लगेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता, किसी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो जाताय जैसे बालू, पानी अथवा तेल से कभी मक्खन नहीं पैदा किया जा सकता। मक्खन केवल दूध से ही पैदा हो सकता है।

4) कारण कार्य में पहले से विद्यमान रहता है क्योंकि एक सक्षम (शक्त) कारण ही कार्य को जन्म दे सकता है। एक सक्षम कारण में यह सामर्थ्य होती है कि यह एक विशिष्ट कार्य को जन्म दे सके। यदि कार्य कारण में पहले से विद्यमान नहीं हो, तो कारण–शक्ति कार्य से सम्बन्धित नहीं होती।

5) कार्य कारण में पहले से विद्यमान रहता है क्योंकि यह प्रकृति कारण के समान होता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। यदि कारण अस्तित्व में है तो कार्य का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता।

यहाँ एक प्रश्न छात्र के मन में उत्पन्न हो सकता है कि यदि प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है तो सबसे मूलभूत उपादान कारण का कारण क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर में सांख्य का कहना है कि प्रकृति ही विश्व की सभी स्थूल एवं सूक्ष्म वस्तुओं का प्रधान कारण है।

प्रकृति

प्रकृति ही विश्व का मूलभूत कारण है। इसे प्रथम (आदि) कारण कहा जाता है। विश्व में समस्त वस्तुएं इसी से निष्पन्न हैं प्रकृति विश्व का आदि तत्व होने से कारणरहित, नित्य और सर्वव्यापक है। इसी कारण, यह प्रधान कही जाती है। इसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता लेकिन इसके कार्यों से इसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। इसलिए, इसे अनुमा भी कहते हैं। चैतन्य का अभाव होने के कारण इसे जड़ कहा जाता है। अनभिव्यक्त अवस्था में होने के कारण इसे अव्यक्त कहा जाता है। विश्व में विद्यमान सभी वस्तुएं प्रकृति के कार्य अथवा परिणाम हैं। ये पराधीन, सापेक्ष, अनेक एवं अनित्य हैं क्योंकि ये उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। जबकि दूसरी ओर प्रकृति अजन्मा, स्वतंत्र, निरपेक्ष, एक, नित्य एवं सृष्टि और लय (विनाश) के परे है। वस्तुएं व्यक्त एवं सावयव हैं किन्तु प्रकृति अव्यक्त एवं निरवयव है। इसलिए, व्यास कहते हैं कि प्रकृति 'है' और 'नहीं है', दोनों है।

प्रकृति की सत्ता सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ

प्रकृति की सत्ता को सिद्ध करने के लिए ईश्वरकृष्ण द्वारा पाँच युक्तियाँ दी गई हैं–

1) यह विश्व अनेक वस्तुओं से मिलकर संरचित है। चूंकि वस्तुएं स्वयं अपनी उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकतीं इसलिए सभी वस्तुओं की सत्ता के लिए कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वस्तुएं सीमित, परतंत्र, सापेक्ष एवं प्रयोजनयुक्त होती हैं। इसलिए उनको उत्पन्न करने वाला कारण असीमित, उत्पत्ति एवं विनाश से परे, स्वतंत्र एवं नित्य होना चाहिए। प्रकृति ऐसा ही कारण है।

2) प्रकृति सभी प्रकार की वस्तुओं का संघटन है। कुछ ऐसे सामान्य गुण हैं जो सभी वस्तुओं में पाये जाते हैं। इसके चलते सुख, दुःख एवं उदासीनता सभी प्रकार की वस्तुओं में पाई जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई एक ऐसा सामान्य कारण होना चाहिए। जो सुख, दुःख एवं उदासीनता तीनों गुणों को अपने में धारण करता है। प्रकृति ऐसा ही कारण है।

3) कोई भी क्रिया एक समर्थ कारण में ही जन्म लेती है। सभी कार्य अपने कारणों, जिनमें वे अव्यक्तरूप से विद्यमान रहते हैं, से उत्पन्न होते हैं। अस्तित्व में विद्यमान सत्ता का ही उद्विकास होता है। विश्व की समस्त वस्तुएं, जोकि कार्य हैं, अवश्य ही किसी विश्व कारण में सन्निहित हैं।

4) प्रत्येक कारण के अनुरूप कार्य होता है, इस प्रकार कार्य और कारण एक दूसरे से पृथक होते हैं–यद्यपि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने उपादान कारण में उपस्थित रहता (सत्कार्यवाद) है। इसका निहितार्थ है कि विश्व का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। यह कारण समग्रता में विश्व को व्यक्त करता है। प्रकृति ही यह कारण है।

5) सांख्य प्रतिपादित सत्कार्यवाद कार्य कारण सम्बन्ध को समवाय रूप में स्वीकार करता है, जिसका निहितार्थ यह है कि प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण में पूर्व से ही विद्यमान रहता है। जिसके अनुसार कार्य विनष्ट होने की स्थिति में अपने कारण में ही तिरोहित हो जाता है। इससे विश्व में एकरूपता बनी रहती है। विश्व की साम्यावस्था, जिससे सबकुछ व्यक्त होता है, प्रकृति से सम्बद्ध की जाती है।

प्रकृति के गुण

सांख्य दर्शन प्रकृति के तीन गुणों को मान्यता प्रदान करता है। ये तीन गुण हैं– *सत्त्व, रजस्* और *तमस्*। प्रकृति इन तीन गुणों की साम्यावस्था है।

1) *सत्त्व*– सत्त्व प्रकृति का वह तत्व है जो प्रकृति में सुखात्मक, लघु एवं प्रकाशक है। इन्द्रिय, मन बुद्धि के ज्ञेय विषयों को प्रकाशित करने की प्रवृत्ति, प्रकाश दीप्ति, दर्पण या क्रिस्टल में प्रतिबिम्बित करने की शक्ति– यह सब वस्तुओं में पाये जाने वाले सत्त्व गुण के व्यापार के कारण ही संभव हो पाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सत्त्वगुण का रंग सफेद है।

2) *रजस्* – *रजस्* वस्तुओं में विद्यमान क्रियाशीलता के लिए उत्तरदायी होता है। इसका रंग लाल बताया जाता है। यह अपनी गतिशीलता और उद्देपन के कारण क्रियाशील है। यह प्रकृति में दुःखात्मक होता है।

3) *तमस्* – *तमस्* के कारण ही वस्तुओं में निष्क्रियता और जड़ता रहती है। इसका रंग काला बताया जाता है। भारीपन, जड़ता और आलस्य का कारण होने के कारण इसे सत्त्वगुण का विरोधी माना जाता है। यह अंधकार और अज्ञान को उत्पन्न करता है। यह चित्त–विभ्रम और संशय के लिए उत्तरदायी होता है।

किसी वस्तु को उत्पन्न करने के क्रम में ये तीनों गुण परस्पर विरोध अथवा सहयोग की स्थिति में रहते हैं। ये तीनों गुण विश्व की सभी वस्तुओं में विद्यमान रहते हैं। कोई भी गुण अकेले नहीं रह सकता। तीनों गुणों में से प्रत्येक गुण अन्य दो गुणों पर प्रभावी होने का प्रयास करता है। इस प्रकार वे साम्यावस्था में नहीं रहे सकते। इसके परिणामस्वरूप गुण एक क्षण के लिए भी अपनी शुद्ध अमिश्रित अवस्था में नहीं रह सकते।

गुणों में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं– स्वरूप और विरूप। विश्व की प्रलयावस्था में प्रत्येक गुण दूसरे गुणों को प्रभावित किए बिना अपने आप परिवर्तित होते रहते हैं अथवा *सत्त्व सत्त्व* में, *रजस् रजस्* में और *तमस् तमस्* में परिवर्तित होता रहता है। गुणों में होने वाले इस प्रकार के परिवर्तन को सारूपपरिणाम कहते हैं। इस अवस्था में गुणों में किसी वस्तु को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती। विश्व की सृष्टि अवस्था में गुणों में परस्पर परिवर्तन होता है और प्रत्येक गुण दूसरे गुणों पर प्रभावी होने का प्रयास करते हैं। गुणों के इस रूपान्तरण के कारण ही विभिन्न तत्वों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का परिवर्तन विरूपपरिणाम कहलाता है। यह विश्व के विकास का आरम्भ–बिन्दु है।

पुरुष

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष या आत्मा एक नित्य सत्ता है। यह पुरुष आत्मा, विषयी एवं ज्ञाता है। यह विषय नहीं है। यह पुरुष न तो शरीर है न मन, न अहंकार और न ही बुद्धि है। यह कोई ऐसा द्रव्य नहीं है चेतना जिसका गुण है। यह समस्त ज्ञान का आधार और परम ज्ञाता है। यह स्वयं किसी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह साक्षी, नित्य स्वतन्त्र, शान्त, तटस्थ दृष्टा है। यह देश–काल, विकार एवं क्रिया से परे है। इसे तीनों गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस) से रहित, साक्षी, दृष्टा, ज्ञाता एवं प्रकाश के स्वभाव वाला बताया गया है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष शुद्ध चैतन्य है और इसलिए प्रकृति की सीमाओं से परे है। यह समस्त विकारों से रहित है। यह राग–द्वेश एवं अहंकार से परे है।

पुरुष की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सांख्य दर्शन द्वारा पाँच प्रकार की युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं–

1) विश्व की सभी वस्तुओं की सत्ता किसी दूसरे के प्रयोजन के लिए होती है। प्रकृति अचेतन होने के कारण स्वयं वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकती। इसलिए सभी वस्तुएं पुरुष के प्रयोजन के लिए होती हैं।

2) विश्व की सभी वस्तुएं तीन गुणों से मिलकर बनी हैं किन्तु पुरुष इस तीन गुणों का साक्षी और तीनों गुणों से परे है।

3) पुरुष शुद्ध चैतन्य है और हमारे इन्द्रियानुभवों एवं बुद्धि की कोटियों से परे है यह विधेयात्मक एवं नकारात्मक सभी प्रकार के ज्ञानों का अधिष्ठाता है और इस कारण पुरुष के बिना किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता है। यह इसलिए है क्योंकि पुरुष समस्त आनुभविक ज्ञान का एकमात्र प्राधिकारी है।

4) चूंकि प्रकृति अचेतन है, इसलिए यह स्वयं अपनी सृष्टि का भोग नहीं कर सकती। इसलिए भोग करने के लिए चेतन सत्ता की आवश्यकता होती है। प्रकृति भोग्य है इसलिए उसका कोई न कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिए।

5) कुछ ऐसे लोग भी हैं जो विश्व के समस्त दुःखों से मुक्त होने की इच्छा करते हैं। मुक्ति की चाह एक ऐसे जीव की ओर संकेत करती है जो मुक्ति के लिए प्रयास करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. प्रकृति के तीन गुणों की संक्षिप्त व्याख्या करें।

2. 'पुरुष' की विशेषताओं का उल्लेख करें।

सृष्टि–विकास

प्रकृति एवं पुरुष के संयोग के द्वारा विश्व एवं विश्व में विद्यमान तत्वों का निर्माण होता है। प्रकृति जड़ होने के कारण अकेले विश्व का निर्माण नहीं कर सकती। इसी प्रकार निष्क्रिय

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

होने से पुरुष भी अकेले विश्व का निर्माण नहीं कर सकता। इसलिए सृष्टि क्रम को आरम्भ करने के लिए प्रकृति एवं पुरुष का संयोग आवश्यक है भले की ये भिन्न एवं विरोधी स्वभाव वाले क्यों न हों। आगे प्रस्तुत एक उदाहरण की सहायता से छात्र पुरुष एवं प्रकृति के सम्बन्ध को अच्छी तरह समझ सकेंगे। प्रकृति एक अन्धे व्यक्ति की भांति है और पुरुष एक लंगड़े व्यक्ति की भांति है। परन्तु ये दोनों परस्पर सहयोग के द्वारा अपने गन्तव्य तक पहुंच जाते हैं। लंगड़ा व्यक्ति अंधे व्यक्ति के कन्धों पर बैठ जाता है। और अन्धे व्यक्ति को बताता है कि कहाँ और किस दिशा में जाना है। कुछ इसी तरह निष्क्रिय–चेतन पुरुष एवं जड़ एवं सक्रिय परस्पर सहयोग के द्वारा सृष्टि क्रम को आरम्भ करते हैं।

इनके संयोग के सम्बन्ध में सांख्य का कहना है कि प्रकृति और पुरुष के बीच कोई वास्तविक सम्पर्क नहीं होता बल्कि एक–दूसरे के सामीप्यभाव से ही प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था भंग हो जाती है। तभी सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और इन गुणों का निरन्तर एक दूसरे में रूपान्तरण होता रहता है। परिणामस्वरूप, सृष्टि का आरम्भ होता है।

सृष्टि क्रम का निरूपण इस प्रकार किया गया है–

1) महत्– महत् सृष्टि का प्रथम विकार है। यह अपनी प्रकृति में ब्रह्माण्डीय है। इस तथ्य के अतिरिक्त, इसका मनोनिष्ठ पक्ष भी है जिसे बुद्धि कहा जाता है। यहां यह ध्यान रहे कि बुद्धि भौतिक होने से चेतना, जो नित्य है, के समान नहीं है। बुद्धि का मुख्य कार्य निर्णय करना है एवं यह स्मरण क्रिया का एक अंग होता है। इसी के आधार पर ज्ञाता एवं ज्ञेय में अंतर किया जाता है। सत्त्व बुद्धि का प्रभावी गुण है। बुद्धि आत्मा, जो कि सभी भौतिक वस्तुओं और गुणों से पृथक होती है, से तादात्म्य स्थापित करने में सहायता प्रदान करती है।

2) अहंकार– अहंकार सृष्टि का दूसरा विकार है। अहंकार सामान्यरूप से किसी व्यक्ति के 'मैं' या 'मेरा' पन की भावना से जुड़ा हुआ होता है। अहंकार जीवों में पाई जाने वाली बुद्धि का कार्यरूप है। अहंकार के कारण ही पुरुष स्वयं को क्रियावान (कर्ता) समझकर इच्छा करता है, विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए चेष्टा करता है और विभिन्न गुणों का धारण करता है जीव को ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से किसी विषय का संवेदन होता है। इसके बाद मन इन संवेदनों को प्रतिबिम्बित करती है और विषय के स्वरूप का निश्चय करती है। तत्पश्चात् इन विषयों के साथ 'मेरा', 'मेरे लिए' इस प्रकार का सम्बन्ध जुड़ता है ऐसा अहंकार के कारण होता है।

3) मन– सांख्य दर्शन के अनुसार मन न तो नित्य होता है और न ही अणुरूप। यह सावयव होता है अर्थात् इसके भाग (अवयव) किए जा सकते हैं जिसके कारण यह एक ही समय में विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आ सकता है। मन इन्द्रिय–संवेदनों का विश्लेषण एवं संश्लेषण करके सविकल्पक प्रत्यक्ष को संभव बनाता है।

4) ज्ञानेन्द्रियाँ– ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच मानी गई हैं– घ्राणेन्द्रिय (नाक) श्रवणेन्द्रिय (कान) चक्षुरेन्द्रिय (आँख) त्वगेन्द्रिय (त्वचा) रसनेन्द्रिय (जीभ)। सांख्य–मत के अनुसार इन्द्रिय एक सामर्थ्य जो अंग–विशेष में रहती है। इस सामर्थ्य या शक्ति से प्रत्यक्ष का विषय बनने वाली वस्तुओं का बोध होता है। जिसका तात्पर्य यह है कि कान स्वयं में इन्द्रिय नहीं है बल्कि सुनने की सामर्थ्य युक्त इन्द्रिय है। इस प्रकार इन्द्रियाँ इन्द्रियगोचर न होकर अनुमेय होती हैं। इनके द्वारा सम्पादित कार्यों से ही इनका पता चलता है। ये सभी पुरुष के कारण जन्म लेती हैं और अहंकार का परिणाम हैं।

5) कर्मेन्द्रियाँ– कर्मेन्द्रियाँ पाँच मानी गई हैं– मुख, हाथ, पैर, गुदा एवं जनेन्द्रिय। इनके द्वारा बोलना, ग्रहण करना, चलना–फिरना, मल–निष्कासन एवं प्रजनन कार्य सम्पादित होता है।

6) तन्मात्राएं– तन्मात्राएं कुल पाँच हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। तन्मात्राएं अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं क्योंकि ये वस्तुओं (विषयों) के तत्त्व हैं। इनका प्रत्यक्ष न होकर अनुमान होता है। सांख्य मत के अनुसार–पृथिवी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश इन पंचमहाभूतों की उत्पत्ति पंच तन्मात्राओं से ही होती है।

7) महाभूत– महाभूत पाँच बताए गए हैं, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। इन महाभूतों के गुण क्रमशः गन्ध, स्वाद, रूप, स्पर्श एवं शब्द हैं।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. 'महत्' क्या है?

....

....

....

....

....

19.4 सांख्य दर्शनः ज्ञानमीमांसा

सांख्य दर्शन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है– प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। सांख्य के अनुसार आत्मा ही प्रमाता होता है। किसी विषय के ज्ञान के लिए विषय और इन्द्रिय का संयोग होना अनिवार्य है। पुनः इन्द्रिय और मन का अनिवार्य संयोग होने से ज्ञान के लिए मन महत् (बुद्धि) से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार महत् विषय का आकार ग्रहण कर लेता है। किन्तु महत् भौतिक एवं अचेतन होने के कारण स्वतः ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता। इस ज्ञान को चेतन तत्व पुरुष की आवश्यकता होती है। सांख्य दर्शन दो प्रकार के प्रत्यक्ष मानता है– सविकल्पक एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। इनका प्रतिपादन न्याय दर्शन ने भी किया है।

सांख्य का मानना है कि व्याप्ति सभी प्रकार के अनुमानों में पाई जाती है। सांख्य दर्शन में दो प्रकार के अनुमान बताए गए हैं– सकारात्मक (वीत) और नकारात्मक (अवीत)। वीत अनुमान सर्वव्यापी सकारात्मक वाक्यों का होता है। अवीत अनुमान सर्वव्यापी निषेधात्मक वाक्यों का होता है। इन दोनों प्रकार के सर्वव्यापी वाक्यों का विश्लेषण इस खण्ड में किया गया है। सांख्य दर्शन न्याय के पंचावयव अनुमान को स्वीकार करता है। सांख्य शब्द को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मानता है। शब्द प्रमाण लौकिक एवं वैदिक दो प्रकार का होता है।

19.5 सांख्य दर्शन: बन्धन एवं मोक्ष

पुरुष अर्थात् आत्मा जोकि नित्य, शुद्ध चैतन्य एवं सर्वव्यापी है, अज्ञान के कारण स्वयं को मन, अहंकार एवं महत् मानने लगता है। मन, अहंकार एवं महत् प्रकृति के विकार मात्र हैं। इस प्रकार पुरुष अर्थात् आत्मा में सांसारिक सुख–दुःख का अनुभव करता है। चूंकि विषय (वस्तुएं) त्रिगुणात्मक तथा आत्मयुक्त होता है इसलिए विश्व अनेकों वस्तुओं में निर्मित है। यहां तक की ये आन्तरिक रूप से भी सम्बन्धित होती हैं इसलिए दुःख की उत्पत्ति भी अवश्यम्भावी है। ऐसा इसलिए है क्योंकि सांख्य का मानना है कि जहाँ गुण है वहाँ दुःख है। सांख्य दर्शन में स्वर्गस्थ जीवन को भी गुणों के द्वारा नियन्त्रित बताया गया है।

यदि दुःख एवं बन्धन है, तो उनसे मुक्ति के भी उपाय हैं। सांख्य–दर्शन में दो प्रकार की मुक्ति मानी गयी हैं। ये हैं, जीवन मुक्ति, विदेह मुक्ति।

जब जीव वर्तमान में ही जीवित रहते तत्व–साक्षात्कार करके सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है, तो यह जीवन मुक्ति कहलाती है। विदेह मुक्ति की अवस्था में जीव सभी प्रकार के दुःखों से पूर्ण मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था मृत्यु के बाद ही प्राप्त होती है। यह विदेह मुक्ति कैवल्य के नाम से भी जानी जाती है। यह स्थूल शरीर से मुक्ति है। सांख्य–दर्शन में मुक्ति को 'अपवर्ग' कहा गया है, और इसे जीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है।

19.6 योग दर्शन: योगसूत्रों की संरचना

पतंजलि रचित *योगसूत्र* चार भागों में विभाजित हैं; समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद, कैवल्यपाद।

प्रथम भाग समाधिपाद योग के स्वरूप और समाधि के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करता है। यहाँ चित्त की वृत्तियों के स्वरूप एवं प्रकारों का भी वर्णन मिलता है। दूसरे भाग साधनापाद में क्लेशों की चर्चा की गई है तथा क्लेशों को विनष्ट करने के उपायों की भी चर्चा की गई है। यहां कर्म–सिद्धान्त एवं कर्म–जनित बन्धनों की चर्चा की गई है। तृतीय भाग विभूतिपाद में योग–साधना के द्वारा प्राप्त किए जाने वाले अतीन्द्रिय एवं अलौकिक सिद्धियों का वर्णन मिलता है। चतुर्थ अर्थात् अन्तिम भाग कैवल्यपाद में योग–साधना के प्रधान लक्ष्य कैवल्य अर्थात् मुक्त के स्वरूप की विस्तार से चर्चा की गई है।

19.7 योग का मनोविज्ञान

योग के पथ को समझने के लिए इसके मनोवैज्ञानिक आधार को समझना आवश्यक है। योग के मनोविज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है– चित्त, चित्त से तात्पर्य सांख्य–दर्शन में वर्णित तीन अन्तःकारणों– बुद्धि, अहंकार और मन से है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है जिसमें सत्त्वगुण रजस् और तमस् पर प्रभावी रहता है।

यह जड़ प्रकृति का है किन्तु पुरुष के सामीप्य के कारण यह चेतना को धारण कर लेता है। यह चित्त जब किसी वस्तु से जुड़ता है तो यह उसी वस्तु के आकार को ग्रहण

कर लेता है। यही आकार वृत्ति कहलाता है। चित्त की इन वृत्तियों के कारण ही आत्मा जागतिक–विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। वस्तुतः आत्मा में कोई वृत्ति घटित नहीं होती किन्तु चित्त की वृत्तियों के आत्मा में प्रतिबिम्बित होने से आत्मा में परिवर्तन की प्रतीति होती है। जैसे चन्द्रमा नदी के जल में हिलता प्रतीत होता है और जल की धारा चमकती वस्तु प्रतीत होती है, इसी प्रकार पुरुष वृत्तियों से चलायमान प्रतीत होता है और इसी प्रकार चित्त पुरुष के प्रतिबिम्ब से चेतन प्रतीत होता है। अपने स्वरूप का ज्ञान होने की अवस्था में आत्मा स्वयं को चित्तवृत्तियों से पृथक कर लेती है। इसके साथ ही आत्मा सांसारिक सुख–दुःख से उत्पन्न राग–द्वेष से भी स्वयं को पृथक कर लेती है ये राग–द्वेष ही वे बन्धन हैं जिनसे मुक्त होने के लिए ही योगी अपनी चित्तवृत्तियों को नियन्त्रित करता है। योग के निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही चित्त–वृत्तियां नियन्त्रण में आती हैं। इसी संदर्भ में पतंजलि ने योग को चित्त–वृत्तिनिरोध के रूप में परिभाषित किया है।

19.7.1 चित्त की अवस्थाएं

योग दर्शन में वर्णित चित्त की पांच अवस्थाएं 'चित्तभूमि' कही गई हैं।

अ) क्षिप्त

यह चित्त की प्रथम अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अत्यन्त विक्षुब्ध एवं चंचल बना रहता है और सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है।

ब) मूढ़

चित्त की इस अवस्था में *तमस्* अन्य दो गुणों सत्त्व एवं *रजस्* पर हावी रहता है।

स) विक्षिप्त

चित्त की विक्षिप्तावस्था में सत्त्वगुण की प्रबलता रहती है। इस अवस्था योग का आरम्भ होता है और चित्त ईश्वर या परम आत्मा को पाने का प्रयत्न करता है। सत्त्व की प्रधानता के कारण इस अवस्था में अस्थाई रूप से चित्तवृत्ति निरोध (चित्तवृत्ति में रुकावट) होता रहता है।

द) एकाग्र

चित्त की एकाग्र अवस्था में सत्त्वगुण की अधिक प्रबलता के कारण, चित्त किसी विषय में टिका रहता है।

इ) निरुद्ध

इस अवस्था में चित्तवृत्तिनिरोध के पश्चात् चित्त में संवेदन (छापें या संस्कार) शेष रह जाते हैं।

19.7.2 चित्त के रूप

तीन गुणों से निर्मित चित्त सतत् परिवर्तनशील बना रहता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि कोई एक गुण अन्य दो गुणों पर हावी होने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। इस प्रकार चित्त कुल तीन रूप का पाया जाता है।

प्रख्या

इस अवस्था में सत्त्व गुण की प्रबलता रहती है और तमस् दबा (अधीनस्थ) रहता है। चित्त अणिमादि विभिन्न सिद्धियों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

प्रवृत्ति

इस रूप में चित्त में रजस् की प्रबलता रहती है और तमस् निर्बल रहता है। अतः चित्त प्रबोधित (जाग्रत्) दिखाई पड़ता है। इस प्रकार चित्त ध्यान अथवा धारणा में कार्यरत दिखाई देता है।

स्थिति

चित्त सत्त्व की प्रबलता वाला होता है और रजस् अधीनस्थ होता है। इस रूप में चित्त अपने स्वयं के रूप में स्थित होता है और अन्यों से पृथक होता है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. चित्त क्या है?

....

....

....

....

....

19.7.3 चित्त की वृत्तियाँ

चित्त में निरन्तर विरूपित या परिवर्तित होता रहता है। पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण चित्त चेतना को धारण कर लेता है। चित्त अपनी मूल प्रकृति में अचेतन है। चित्त में होने वाले परिवर्तनों को ही चित्त की वृत्तियाँ कहते हैं। चित्त वृत्तियाँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं।

प्रमाण

सांख्य की भांति योग दर्शन भी तीन प्रमाणों को मानता है। ये तीन प्रमाण हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। प्रत्यक्ष की अवस्था में चित्त ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आता है। और उन्हीं के आकार को धारण कर लेता है। अनुमान की स्थिति में चित्त वस्तु के सामान्य स्वरूप को धारण करता है और यही बात शब्द पर भी लागू होती है।

विपर्यय

वस्तु के वास्तविक (यथार्थ; जैसा है वैसा ही) स्वरूप का ज्ञान नहीं होना विपर्यय या संशय कहलाता है।

विकल्प

विकल्प की स्थिति में जिस वस्तु की प्रतीति होती है वह सामने विद्यमान नहीं रहती। अतः यह प्रतीति केवल शाब्दिक एवं काल्पनिक प्रतीति होती है।

निद्रा

निद्रा चित्त–वृत्तियों का ऐसा प्रकार है जिसमें संज्ञा का अभाव होता है। यह वस्तुओं के अभाव का ज्ञान होता है। इस अवस्था में चित्त में *तमस्* की प्रबलता रहती है। तथापि जब व्यक्ति सोया रहता है तब भी ज्ञान का अल्पांश उपस्थिति होती है।

स्मृति

पूर्व में अनुभव की गई वस्तुओं का स्मरण स्मृति कहलाती है। वस्तुओं का ज्ञान होते समय, वस्तुओं की छाप अथवा संस्कार चित्त पर पड़ जाती है। और बाद में ये संस्कार ही स्मृति रूप में उभरते हैं।

बोध प्रश्न 4

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. 'स्मृति एक चित्तवृत्ति है' व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

19.7.4 क्लेशों के प्रकार

चित्त में विक्षेप के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं। उनमें से कुछ हैं, संसार की वस्तुओं से जुड़ाव, वस्तु/विषय की अयथार्थ संज्ञा, निष्क्रियता, संशय, प्रमाद, आदि। मानसिक दुःखों के मूल कारण को ही योग–दर्शन में क्लेश कहा गया है। इन कारणों का कारण यह है कि चित्त स्वयं पर पुरुष के प्रतिबिम्बन से स्वयं को कर्त्ता और भोक्ता के रूप में कल्पित करने लगता है। इसलिए, क्लेश उत्पन्न होते हैं।

योग–दर्शन में पाँच प्रकार के क्लेशों का वर्णन किया गया है, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।

अविद्या तब उत्पन्न होती है जब आत्मा या पुरुष को अनित्य और भौतिक या अचेतन समझने लगते हैं। जबकि पुरुष आनन्दस्वरूप, नित्य है और शुद्ध चेतना धारण करता है। अस्मिता पुरुष और प्रकृति को एक ही ही समझ लेता है। राग धन, स्त्री आदि सांसारिक सुखों की चाह है। द्वेष दुःख पैदा करने वाले साधनों के प्रति क्रोध की भावना है। अभिनिवेश मृत्यु का भय है।

19.8 अष्टांग–योग

मनुष्य अपने शरीर, इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति रखता है। इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य सांसारिक दुःखों एवं बन्धन में पड़ जाता है। इन सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए और भीतरी अज्ञान को नष्ट करने के लिए व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों, मन एवं शारीरिक क्रियाओं को नियन्त्रित करना होता है और इसके लिए आवश्यक है कि वह चित्त की वृत्तियों को नियन्त्रित करे। इस दृष्टि से योग दर्शन ने आठ अंगों वाले मार्ग का निर्देश किया है जो हमारे रागों (तीव्र इच्छाओं) एवं सांसारिक सुखों के भोग की लालसा पर नियंत्रण में सहायता करते हैं।

यह अष्टांग मार्ग इस प्रकार है–

1) **यम**– यह शरीर मन एवं वाणी का नियन्त्रण है। यम कुल पांच हैं–

   अ) अहिंसा– यह किसी प्राणी को किसी भी प्रकार की शारीरिक, मानसिक अथवा वाचिक पीड़ा न पहुंचाना है।

   ब) सत्य – इसके अन्तर्गत् न केवल वाणी से बल्कि मन से भी सत्य आचरण करना होता है।

   स) अस्तेय– इसके अन्तर्गत् दूसरे की वस्तुओं को न चुराना और दूसरे के धन का लोभ न करना सम्मिलित है।

   द) ब्रह्मचर्य – इसके अन्तर्गत् काम–वासनाओं का नियन्त्रण सम्मिलित है।

   य) अपरिग्रह– इसके अन्तर्गत् मन, वचन और कर्म से अनावश्यक एवं भोग–विलास की वस्तुओं का संग्रह न करना सम्मिलित है।

2) नियम

इसके अन्तर्गत् अच्छे आचरण को सुनिश्चित करने वाले नियमों का विधान किया गया है। नियम कुल पांच हैं–

   अ) शौच– शौच का तात्पर्य स्वच्छता से है जिसके अन्तर्गत् दोनों प्रकार की स्वच्छता, बाह्य (स्नानादि) एवं आन्तरिक स्वच्छता (मैत्री, करूणादि की भावना) सम्मिलित हैं।

   ब) सन्तोष– अपने सीमित साधनों में सन्तुष्ट रहने की भावना को ही सन्तोष कहा गया है।

   स) तप– सहन करने की शक्ति का ही नाम तप है।

   द) स्वाध्याय– धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से व्यक्ति में आध्यात्मिक ज्ञान का स्तर बढ़ता है।

   ए) ईश्वर प्रणिधान– अपने समस्त कर्मों को ईश्वर के प्रति अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

3) **आसन**– शरीर को सुख–पूर्वक स्थिर बनाये रखने की विभिन्न स्थितियों को आसन कहते हैं। आसन न केवल चित्त की एकाग्रता के लिए सहायक होते हैं बल्कि इनसे शारीरिक एवं मानसिक संयम में भी सहायता मिलती है। नियमित आसन करने से व्यक्ति विभिन्न बाह्य एवं आन्तरिक अंगों को नियन्त्रित कर सकता है।

4) प्राणायाम

यह योगाभ्यास की चतुर्थ अवस्था है। प्राणायाम से, तात्पर्य श्वासों के नियन्त्रण से है। इससे चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। प्राणायाम के कुल तीन चरण होते हैं–

पहले चरण में जितना संभव हो अपने भीतर प्राण वायु भरनी होती है। यह क्रिया पूरक कहलाती है। प्राण वायु भरने के बाद दूसरे चरण कुंभक में पूरक की आधी अवधि तक श्वास भीतर रोके रखना होता है। तीसरे चरण रेचक में धीरे–धीरे करके प्राण वायु बाहर निकाल देनी होती है। रेचक में पूरक जितना ही समय लिया जाता है।

5) प्रत्याहार

प्रत्याहार के चरण में साधक अपनी इन्द्रियों को सांसारिक विषयों से हटा लेता है। इसमें व्यक्ति सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति से स्वयं को रोकता है। अतः, वस्तु के प्रति आसक्ति का निरोध हो जाता है।

6) धारणा

हमारा चित्त प्रायः एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर चलायमान रहता है। अपने चित्त को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित करने और चित्त को अनेक विषयों की ओर जाने से रोकने को धारणा कहते हैं। इस अवस्था में साधक लगातार किसी एक विषय की ओर ध्यान केन्द्रित करता है और चित्त के किसी दूसरे विषय की ओर जाने की अवस्था में पुनः शीघ्रता से पूर्व विषय की ओर ले आता है।

7) ध्यान

इस अवस्था में साधक किसी एक विषय पर लम्बे समय तक अपने चित्त को एकाग्र करने में सफल हो जाता है। इसमें साधक विषय के एक अंग पर ध्यान करते हुए समग्र विषय का अनुभव करता है। इस अवस्था में साधक चित्त के वास्तविक स्वरूप को समझने लग जाता है।

8) समाधि

योग–साधना के अन्तिम चरण को समाधि कहते हैं। इस अवस्था में साधक जहां एक ओर चित्त का स्वभाव समझ लेता है कि यह किस प्रकार विषय का आकार ग्रहण करता है। यहां ध्यान की प्रक्रिया (ध्यान) एवं विषय (ध्येय) एक और समरूप हो जाते हैं। समाधि की अवस्था में चित्त वृत्तियों को सम्पूर्ण निरोध हो जाता है। समाधि दो प्रकार की होती है, सम्प्रज्ञात् अथवा सबीज समाधि (सविशेषण समाधि), असम्प्रज्ञात् अथवा निर्बीज समाधि (विशेषणरहित समाधि)।

सम्प्रज्ञात् समाधि

समाधि की इस अवस्था में साधक ध्यान के विषय के प्रति सचेत रहता है। जब चित्त किसी विषय पर केन्द्रित होता है, तो चित्त–वृत्तियां उस विषय के आकार से आकारित होती हैं। यह सम्प्रज्ञात् समाधि कहलाती है। किसी एक विषय पर चित्त को एकाग्र करने से चित्त की प्रवृत्ति दूसरे विषयों से हट जाती है। चूंकि सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है इसलिए किसी सुनिश्चित विषय पर चित्त एकाग्र करने से सांसारिक सुखों के प्रति तृष्णा, उसके परिणामस्वरूप होने वाले क्लेश नष्ट हो जाते हैं। इससे विषय का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित होता है और कर्म प्रवाह से मुक्ति मिल जाती है। सम्प्रज्ञात् समाधि चार प्रकार की बताई गई है।

सवितर्क समाधि

इस अवस्था में चित्त को किसी स्थूल विषय पर एकाग्र किया जाता है और ध्यानपूर्वक विषय की स्पष्ट प्रतीति की जाती है। जैसे–नासिका के अग्र भाग पर ध्यान लगाना आदि।

सविचार समाधि

इस अवस्था में चित्त को किसी सूक्ष्म विषय पर केन्द्रित किया जाता है और ध्यान से उनका वास्तविक स्वरूप पहचान लिया जाता है। जैसे– तन्मात्राओं (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) पर ध्यान लगाना।

सानन्द समाधि

इस अवस्था में किसी सात्विक सूक्ष्म विषय पर चित्त एकाग्र किया जाता है। परिणाम स्वरूप आनन्द की प्राप्ति होती है।

सास्मित समाधि

इस अवस्था में अहंकार–तत्व, जिसे प्रायः आत्मा समझा जाता है, पर चित्त केन्द्रित किया जाता है।

असम्प्रज्ञात् समाधि

यह समाधि की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था/स्तर में विषयी और विषय में कोई भेद नहीं रहता। सांसारिक जुड़ाव (राग) और दुःखों का लय हो जाता है। इसलिए इसे विशेषणरहित या निर्बीज समाधि कहते हैं।

योग के इन आठ अंगों में प्रथम पांच को योग का बहिरंग और शेष तीन को योग का अन्तरंग कहते हैं। वस्तुतः पूर्ववर्ती पांच चरण उत्तरवर्ती चरणों की ही पूर्व तैयारी है।

बोध प्रश्न 5

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. असम्प्रज्ञात् समाधि के विषय में बताइए।

....

....

....

....

....

19.9 योग दर्शन: ईश्वर एवं कैवल्य

योग–दर्शन के अनुसार ईश्वर कर्म के नियम, समस्त क्लेशों एवं समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिशाली है। वह अनन्त ज्ञान एवं

आनन्द से युक्त है। उसका अस्तित्व समस्त सीमाओं से परे है। वह परम सत्ता है। वह अपने लिए कुछ नहीं करता बल्कि जो भी करता है वह विश्व के लिए करता है।

ईश्वर नित्य, दयालु, सर्वशक्तिशाली और सर्वभूतरत है इसलिए कर्म के बन्धनों से बंधा नहीं है। ईश्वर अनुभवातीत है। इसलिए, वह मुक्ति से भी परे है।

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए योग–दर्शन के द्वारा तीन युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

1) शास्त्र प्राचीन हैं, लेकिन ईश्वर की सत्ता के संदर्भ के लिए हैं। वेद तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थों में नित्य तथा सर्वोच्च सत्ता एवं जीवन–सार के रूप में ईश्वर का वर्णन किया गया है।

2) प्रकृति एवं पुरुष चूंकि एक दूसरे से भिन्न एवं विलक्षण हैं इसलिए बिना किसी निमित्त कारण के ये एक दूसरे के सम्पर्क में नहीं आ सकते। ईश्वर ही वह निमित्त कारण है। वह प्रकृति एवं पुरुष को एक दूसरे के समीप लाता है।

3) ईश्वर विशेषताओं (मन, बुद्धि, अहंकार) से रहित है। ईश्वर परम सत्ता है और विश्व के समस्त अधिष्ठानों का आधार है, ईश्वर पृथ्वी के समस्त जीवों का सृष्टा है। सम्पूर्ण जगत् इतना व्यापक है कि मनुष्य न तो इसे बना सकता है न ही इस पर नियंत्रण रख सकता है। अतः, ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

19.10 सारांश

सांख्य–दर्शन भारतीय दर्शन के प्राचीनतम सम्प्रदायों में से एक है। कपिल मुनि इस सम्प्रदाय के संस्थापक थे। यह द्वैतवादी दर्शन है क्योंकि यह प्रकृति एवं पुरुष नामक दो परम तत्वों की सत्ता स्वीकार करता है। यह सत्कार्यवाद को मानता है जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। सांख्य–दर्शन के अनुसार, प्रकृति नित्य, अचेतन एवं सक्रिय है। पुरुष नित्य, चेतन एवं निष्क्रिय है। प्रकृति में तीन गुण पाये जाते हैं– सत्त्व, रजस् एवं तमस्। यह सत्कार्यवाद का समर्थन करता है, जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले अपने कारण में विद्यमान रहता है। सांख्य दर्शन के अनुसार, बन्धन सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह के कारण है और कैवल्य/अपवर्ग सांसारिक दुःखों से मुक्ति है।

योग–दर्शन योग–सूत्रों पर आधारित है। चित्त योग के मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। पुरुष के प्रतिबिम्ब के कारण चित्त सतत् परिवर्तित होता रहता है। इसे चित्त–वृत्ति कहते हैं। चित्त–वृत्तियों के कारण जीव कष्ट पाता है, जिसे योग दर्शन में क्लेश कहा जाता है। योग दर्शन में मुक्ति या मोक्ष को 'कैवल्य' कहा जाता है और मुक्त को 'केवली'।

19.11 कुंजी शब्द

चित्त : मनस्तत्व और मनस्थिति पक्ष को ही योग दर्शन में चित्त कहा गया है।

गुण : सांख्य दर्शन में गुण से तात्पर्य वस्तु में सामान्य धर्मों से नहीं है वरन यहां गुण प्रकृति की सार भूत सत्ता की प्रस्तुति करते हैं।

क्लेश : दुःखों के कारण को ही क्लेश कहा गया है।

19.12 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

कीथ, ए.बी. *द सांख्य सिस्टम.* ऑक्सफोर्ड: क्लेरिन्टन प्रेस, 1918.

चटर्जी, एस.सी., दत्ता, डी. एम. *एन इन्ट्रोडक्शन टु इण्डियन फिलॉसोफी.* कलकत्ता यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता प्रेस, 1960.

जॉनसन, सी. *द योग सूत्र ऑफ पतंजलि.* लंदन: स्टुयर्ट एण्ड वैटकिन्स पब्लिकेशन, 1970.

दास गुप्ता, एस. एन. *द स्टडी ऑफ पतंजलि.* कलकत्ता: यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता प्रेस, 1920.

नटराजन, कांचना. "जेन्डरिंग ऑफ अर्ली इण्डियन फिलॉसोफी: अ स्टडी ऑफ सांख्यकारिका". इकोनोमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 36 / 17(2011): 1398–1401.

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* ट्रान्सलेटिड बाइ ई बी कॉवेल एण्ड ए ई गोघ. देल्ही: भारतीय कला प्रकाशन, 2017.

हिरियण्णा एम. *द इसेन्शियल्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* लंदन: जार्ज एलेन एण्ड अन्विन प्रेस, 1932.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

सूरी, हरिभद्र. *षड्दर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

19.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. प्रकृति के तीन गुण हैं, सत्त्व, रजस् एवं तमस्। *सत्त्व* प्रकाशक है, *रजस्* क्रियाशील है और *तमस्* जड़ता उत्पन्न करने वाला है। तीनों गुण मिलकर संसार की विभिन्न वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं।

2. पुरुष नित्य, निष्क्रिय किन्तु शुद्ध चैतन्य से युक्त है। यह प्रकृति के भोगों का भोक्ता है। प्रकृति एवं पुरुष के सम्पर्क से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। प्रकृति एवं इसके गुणों से स्वयं को अलग कर पुरुष कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

बोध प्रश्न 2

1. महत् प्रकृति का प्रथम विकार है। महत् को बुद्धि भी कहते हैं। बुद्धि आत्मा को अपना स्वरूप पहचानने में सहायता करती है। आत्मा का स्वरूप सभी भौतिक वस्तुओं और उनके गुणों से भिन्न है।

बोध प्रश्न 3

1. योग के मनोविज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है 'चित्त'। चित्त से तात्पर्य सांख्य–दर्शन में तीन अन्तः कारणों से हैं – बुद्धि, अहंकार और मन। बुद्धि प्रकृति का प्रथम विकार है जिसमें सत्त्वगुण, रजस् और तमस् पर हावी है।

बोध प्रश्न 4

1. स्मृति अतीत के अनुभवों का पुनर्संचयन है। विभिन्न विषयों का ज्ञान होते समय हमारे चित्त पर पड़ने वाले संस्कारों के कारण ही यह पुनर्संचयन संभव होता है। स्मृति को योग–दर्शन में चित्तवृत्तियों का एक प्रकार माना गया है।

बोध प्रश्न 5

1. असम्प्रज्ञात् समाधि समाधि की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था में विषयी और विषय का भेद समाप्त हो जाता है। सांसारिक राग और दुःखों का लय हो जाता है। इसलिए इसे विशेषणरहित या निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 20 मीमांसा दर्शन[20]

रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 परिचय

20.2 ज्ञानमीमांसा

20.3 वैध ज्ञान के साधन (प्रमाण)

20.4 भ्रम–सिद्धान्त (ख्यातिवाद)

20.5 तत्त्वमीमांसा

20.6 आत्मा का स्वरूप

20.7 ईश्वर एवं मुक्ति

20.8 सारांश

20.9 कुंजी शब्द

20.10 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

20.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद छात्र स्वयं को सक्षम पायेंगे–

- ज्ञान की वैधता (यथार्थता) के विषय में बता पाने में,
- एक प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति पर विचार करने में,
- ख्यातिवाद (भ्रम–सिद्धान्त) के विश्लेषण में,
- आत्मा के स्वभाव की व्याख्या में, और
- मीमांसको की मोक्ष–धारणा पर विचार करने में।

20.1 परिचय

प्रस्तुत इकाई में मीमांसा दर्शन पर समग्रता में विचार किया जायेगा। यहाँ मीमांसकों की ज्ञान मीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया जायेगा। उनके भ्रम एवं कारणता सम्बन्धी सिद्धान्तों पर भी चर्चा की जायेगी। अपने स्वीकृत प्रमाणों के पक्ष में उनके द्वारा दिए गए तर्कों को विस्तार से बताया जायेगा।

[20] डॉ. सत्य सुन्दर सेठी, सह आचार्य, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मद्रास, अनुवाद– श्री दिलीप जायसवाल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मीमांसा दर्शन भारतीय दर्शन के प्रमुख सम्प्रदायों में से एक है। मीमांसा दर्शन की स्थापना 400 ई. पू. में जैमिनि द्वारा की गई। वह *मीमांसा–सूत्रों* के रचयिता थे। मीमांसा–सूत्रों पर मुख्य रूप से कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र ने भाष्य–ग्रन्थों की रचना की। न्याय–वैशेषिक एवं सांख्य योग की भांति मीमांसा–वेदान्त को भारतीय चिन्तन–परम्परा का अनुषांगी तन्त्र माना जाता है। मीमांसा का अर्थ है– 'पूजित विचार' अथवा वह 'जिज्ञासा या विश्लेषण' जिसका प्रयोग मूलतः वैदिक अनुष्ठानों के निर्वचन के लिए किया जाता है। वैदिक वाक्यों के निर्वचन के लिए कुमारिल भट्ट ने *अभिहितान्वयवाद* का सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसका तात्पर्य है कि शब्द (पद) अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं और वाक्य का अर्थ (वाक्यार्थ) शब्दार्थों का योग है। प्रभाकर ने *अन्विताभिधानवाद* का सिद्धान्त दिया। इसके अनुसार, शब्दों का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता, शब्द किसी वाक्य में अर्थ व्यक्त करते हैं (क्रिया के सम्बन्ध से; उदाहरणार्थ, घड़ा शब्द क्रिया 'लाना' के सम्बन्ध में अर्थ रखता है।) मीमांसा का सम्बन्ध वेद के प्रारम्भिक भाग से है, इसलिए इसे पूर्व मीमांसा कहते हैं। वेद के प्रारम्भिक भाग का सम्बन्ध यज्ञ, अनुष्ठान एवं आहुतियों से है इसलिए इसे कर्मकाण्ड के नाम से जाना जाता है।

कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र ने मीमांसा दर्शन पर भाष्य ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनका उद्देश्य मीमांसा दर्शन को आस्तिकवाद की ओर अग्रसर करना था।

20.2 ज्ञानमीमांसा

ज्ञानमीमांसा का सम्बन्ध किसी वस्तु के ज्ञान से है। जब हमें किसी वस्तु का इन्द्रिय संवेदनपूर्वक बोध होता है, तब हमें उस वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तु सम्बन्धी हमारा ज्ञान सही है कि नहीं, इसका निश्चय करने के लिए हमें निम्नोक्त चार बिन्दुओं को ध्यान में रखना होता है।

1) यह त्रुटिपूर्ण एवं अशुद्ध कारणों से न उत्पन्न हुआ हो।

2) यह ज्ञान बाधरहित होना चाहिए अर्थात् यह आत्म–संगत होना चाहिए, जिसका आगे आने वाले किसी ज्ञान से बाध न हो।

3) यह वस्तु की इस प्रकार की प्रतीति हो, जो प्रतीति पहले न हुई हो। संक्षेप में, यह ज्ञान पूर्व में अज्ञात वस्तु का अर्थात् नया ज्ञान होना चाहिए।

4) यह ज्ञान निश्चित रूप से वस्तु या विषय का प्रतिनिधित्व करता हो।

उपरोक्त शर्तों के पूरा होने पर ही वस्तु सम्बन्धी हमारा ज्ञान वैध (यथार्थ) कहा जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्मृति यथार्थ ज्ञान की कोटि में नहीं आती क्योंकि यह पूर्व ज्ञान के संस्कार से उत्पन्न होती है। इस स्थिति में तीसरी शर्त का उल्लंघन होता है।

ज्ञान की प्रामाणिकता

कुमारिल ज्ञान को अनुभूति मानते हैं। अनुभूति स्वतः प्रकाश होती है। अतः ज्ञान की अनुभूति, जो अपना प्रमाण स्वयं होती है, के ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है जो ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार होती है। प्रभाकर के अनुसार स्वतः प्रकाश अनुभूति ही ज्ञान का कारण होती है जो संस्कारजन्य स्मृति से भिन्न होती है। प्रभाकर के अनुसार प्रमा और प्रमाण में अभेद होता है। ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, यह ज्ञेय वस्तु की ज्ञातता से अनुमेय (अनुमान से जाना गया) नहीं होता है। इस प्रकार समस्त ज्ञान प्रामाणिक होते हैं। ज्ञान की

अप्रामाणिकता ज्ञेय वस्तु के वास्तविक स्वभाव से असम्पादिता होने के कारण होती है। अतः असत्यता ज्ञान से सम्बन्धित नहीं होती है वरन् यह ज्ञेय (विषय) से सम्बन्धित होती है। इस सम्बन्ध में मीमांसा–दर्शन दो सिद्धान्तों पर विचार करता है– स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः अप्रामाण्यवाद। स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। ज्ञान की प्रामाणिकता ज्ञान जनक सामग्री से उत्पन्न होती है किसी बाहरी कारण से नहीं। परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार, ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं होता और ज्ञान की प्रामाणिकता बाहरी कारणों पर निर्भर है।

इस प्रकार ज्ञान की प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुल चार पक्ष सामने आते हैं –

1) स्वतः प्रामाण्यवाद

2) स्वतः अप्रामाण्यवाद

3) परतः प्रामाण्यवाद

4) परतः अप्रामाण्यवाद

मीमांसा (कुमारिल भट्ट) स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः अप्रामाण्यवाद को मानता है, उसके अनुसार, ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है अर्थात् ज्ञान की प्रामाणिकता कारण–दोष–रहित वस्तु की ज्ञान–जनक–सामग्री से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ज्ञान की अप्रमाणिकता वस्तु के कारणगत दोषों के कारण होती है। सांख्य दर्शन स्वतः प्रामाण्यवाद और स्वतः अप्रामाण्यवाद को मानता है। इसके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनों ही आन्तरिक होती है।

बौद्ध स्वतः अप्रामाण्यवाद और परतः प्रामाण्यवाद को मानते हैं। वे ज्ञान की प्रमाणिकता को बाह्य और ज्ञान की अप्रामाणिकता को आन्तरिक मानते हैं। इनके अनुसार, ज्ञान स्वयं में अप्रामाणिक होता है और इसकी प्रामाणिकता बाहरी कारणों से निश्चित होती है। ज्ञान अपने उत्पत्ति के क्षणों में वस्तु का यथार्थ बोध नहीं करा सकता। यह उन क्षणों में अनिश्चित एवं विरोधाभासी होता है और इस प्रकार अप्रामाणिक होता है। इसकी प्रामाणिकता का ज्ञान बाद में इसके कारण–गुणों के ज्ञान से, वस्तु के यथार्थ स्वरूप से संगति के ज्ञान से अथवा अर्थक्रियाकारित्व के ज्ञान से होता है। इस प्रकार ज्ञान स्वयं में अप्रामाणिक होता है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन परतः प्रामाण्यवाद और परतः अप्रामाण्यवाद को मानते हैं जिसके अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता दोनो बाह्य कारणों पर आधारित होती है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. स्वतः प्रामाण्यवाद की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

20.3 वैध ज्ञान के साधन (प्रमाण)

कुमारिल भट्ट छः प्रमाणों को मानते हैं–

1) प्रत्यक्ष
2) अनुमान
3) उपमान
4) शब्द
5) अर्थापत्ति
6) अनुपलब्धि

प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार अभाव (अनुपलब्धि) एक स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता। यह केवल दूसरे प्रमाणों द्वारा प्राप्त विधायी तत्वों से असंगति की स्थिति है। इस प्रकार प्रभाकर पाँच प्रमाणों को मानते हैं। अब इन उपरोक्त प्रमाणों का क्रमबद्ध वर्णन किया जायेगा।

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष ज्ञान का वह प्रकार है जो ज्ञानेन्द्रियों एवं वस्तु के संपर्क से उत्पन्न होता है। सामान्य रूप से हमारा यह विश्वास होता है कि हम इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी जानते हैं, वह अवश्य सत्य होता है क्योंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रियों द्वारा वस्तुओं की साक्षात प्रतीति होती है। जैसे कि एक मेज को छूकर और देखकर हमें मेज का ज्ञान हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान वैध तभी होता है जब वस्तु जिस रूप में होती है, उसी रूप में हमें उसका ज्ञान प्राप्त होता है।

नैयायिकों के समान मीमांसकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रत्यक्ष को विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किया है। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष को दो प्रकारों में वर्गीकृत किया गया– लौकिक एवं अलौकिक प्रत्यक्ष। जब ज्ञानेन्द्रियाँ साधारण ढंग से वस्तु के सम्पर्क में आती हैं, तो हमें लौकिक प्रत्यक्ष होता हैं सविकल्पक एवं निर्विकल्पक भेद से लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। इन दोनों प्रत्यक्ष का विस्तृत विश्लेषण इस खण्ड की प्रथम इकाई न्याय दर्शन में किया जा चुका है। अलौकिक प्रत्यक्ष की स्थिति में ज्ञानेन्द्रियां साधारण ढंग से वस्तुओं के सम्पर्क में नहीं आती हैं, बल्कि किसी असाधारण माध्यम से वस्तु का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष के विषय में न्याय एवं मीमांसा दर्शन के मध्य मूलभूत अन्तर यह है कि नैयायिक श्रवणेन्द्रिय को आकाश से उत्पन्न मानते हैं जबकि मीमांसक इसे दिक् (दिशा या स्थान) से उत्पन्न मानते हैं।

अनुमान

दूसरे प्रकार के प्रमाण को अनुमान कहते हैं। अनुमान एक ऐसा ज्ञान है, जो पूर्ववर्ती ज्ञान पर आधारित होता है। प्रत्यक्ष में हमें किसी वस्तु का साक्षात् ज्ञान होता है, क्योंकि वहां ज्ञेय वस्तु इन्द्रियों के समक्ष साक्षात् विद्यमान रहती है।

अनुमान में ज्ञेय वस्तु साक्षात् विद्यमान नहीं रहती अतः इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। अनुमान में किसी विशेष स्थिति में वस्तु की सत्ता का अनुमान इस आधार पर किया जाता है कि पूर्व में सभी समान स्थितियों में वस्तु की सत्ता अव्यभिचारित (बिना किसी विरूपण या व्यभिचार के; जैसी वैसी ही) रूप में देखी गयी है। इस प्रकार अनुमान में होने वाला ज्ञान वस्तु के

पूर्व ज्ञान पर आधारित होता है। जैसे जब हम दूर किसी पहाड़ी पर धुंआ देखते हैं, तो धुंआ को देखकर हम तुरन्त यह अनुमान लगा लेते हैं कि पहाड़ी पर आग जरूर होगी।

उपमान

नैयायिकों के समान मीमांसकों ने भी उपमान को एक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। उपमान में किसी वस्तु का होने वाला ज्ञान दूसरी समान वस्तुओं से तुलना पर आधारित होता है। जैसे किसी व्यक्ति ने नीलगाय न देखी हो और उसे यह पता न हो कि नीलगाय कैसी होती है। अब यदि उसे कोई बताता है कि नीलगाय गाय जैसी होती है बस यह थोड़ी उग्र होती है और उसके आगे की ओर बड़ी सींगें होती हैं। बाद में वह व्यक्ति जंगल में नीलगाय देखता है और बताए गए विवरणों के आधार पर पहचान लेता है कि यह नीलगाय है। यह ज्ञान तुलना अथवा उपमान के द्वारा ही संभव हो सका है, इस प्रकार उपमान एक नाम (संज्ञा) और उस नाम से इंगित वस्तु (संज्ञी) के मध्य के सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

शब्द

न्याय दर्शन के समान मीमांसा दर्शन के अनुसार किसी आप्तपुरुष के विश्वसनीय शब्द स्वयं में वैध ज्ञान प्राप्त कराते हैं। पदों के समूह को वाक्य कहा जाता है। पद वह है जिसमें अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति होती है। शब्द पद अथवा वाक्य से निश्पन्न प्रामाणिक ज्ञान है। किन्तु सभी प्रकार के पद अथवा वाक्य शब्द प्रमाण की कोटि में नहीं आते हैं क्योंकि समस्त भाषिक अभिव्यक्तियों को अनिवार्य रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसलिए, मीमांसकों के अनुसार शब्द प्रमाण किसी आप्त अर्थात् विश्वसनीय व्यक्ति के वचनों पर आधारित होना चाहिए जो सत्य जानता हो तथा दूसरों के मार्गदर्शन के लिए सत्य ही कहने की इच्छा रखता हो।

शब्द प्रमाण अर्थपूर्ण पद अथवा वाक्य के रूप में प्रयुक्त होता है। किन्हीं वर्णों अथवा शब्दों के मेल से ही प्रामाणिक एवं शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, इसलिए स्पष्ट आशय वाले शब्द एवं वाक्य ही शुद्ध प्रमाण की कोटि में आते हैं।

अर्थापत्ति

यह मीमांसकों के द्वारा मान्य वैध ज्ञान का एक विशिष्ट साधन है। 'अर्थापत्ति' पद दो पदों 'अर्थ' और 'आपत्ति' से मिलकर बना है। अर्थ पद का तात्पर्य है तथ्य और आपत्ति पद का तात्पर्य है 'कल्पना'। इस प्रकार शब्दार्थमीमांसा के अनुसार, अर्थापत्ति वह ज्ञान जो दो विरोधी तथ्यों के मध्य के विरोध को दूर (परिहार) करता है।

अर्थापत्ति अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) तथ्य की कल्पना है जिसके द्वारा आपाततः दो असंगत दिखाई पड़ने वाले तथ्यों में संगति स्थापित की जाती है। जब ज्ञात तथ्यों में से एक की पुश्टि दूसरे के द्वारा न हो, तब हमें एक तीसरे तथ्य की कल्पना करनी पड़ती है। इसी तीसरे तथ्य का वैध एवं सिद्ध (प्रामाणिक) ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है।

उदाहरण के लिए, देवदत्त मोटा है किन्तु वह दिन में उपवास करता है। इस आधार वाक्य में हम दो तथ्य पाते हैं। एक, देवदत्त एक जीवित मनुष्य है और वह मोटा है। दूसरा यह कि वह दिन में नहीं खाता है। इस विरोधाभास को सुलझाने के लिए कि किस प्रकार एक मनुष्य मोटा है जबकि वह दिन में कुछ भी नहीं खाता है, इस तीसरे तथ्य की कल्पना कर ली जाती है कि वह रात में अवश्य खाता होगा। एक दूसरे उदाहरण में, 'राम जीवित है, किन्तु वह घर में नहीं है।' इस विरोधाभास को समाप्त करने के लिए हम इस तथ्य की

कल्पना करते हैं कि राम किराये के घर में अपने घर से बाहर रहता होगा। यह कल्पना ही वैध ज्ञान का साधन अर्थात् प्रमाण है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. प्रमाण के रूप में 'अर्थापत्ति' की चर्चा करें।

....

....

....

....

....

अनुपलब्धि

यह मीमांसा दर्शन द्वारा स्वीकृत एक स्वतन्त्र प्रमाण है। अनुपलब्धि किसी वस्तु के अभाव का साक्षात् ज्ञान है। वस्तु किसी विशिष्ट देश एवं विशिष्ट काल में विद्यमान न रहकर कहीं अन्यत्र विद्यमान रहती है। किसी प्रदत्त स्थिति/स्थान में किसी विशिष्ट वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष करना अनुपलब्धि कहलाता है।

उदाहरण के लिए, 'मेज के ऊपर पुस्तक नहीं है'। एक व्यक्ति अपनी इन्द्रियों से पुस्तक का सीधा प्रत्यक्ष नहीं करता है। लेकिन मेज पर पुस्तक के अभाव या न होने का ज्ञान प्रत्यक्षमान वस्तु के प्रत्यक्ष न होने के कारण होता है। किसी वस्तु को जहाँ या जिस स्थिति में होना चाहिए वहाँ उपलब्ध न होना उस वस्तु का अभाव कहलाता है। और किसी वस्तु के अभाव का भावरूप में ज्ञान अनुपलब्धि कहलाता है।

20.4 भ्रम–सिद्धान्त (ख्यातिवाद)

भ्रम के सिद्धान्त को ख्यातिवाद कहते हैं। यह प्रामाण्यवाद के विपरीत है। ख्यातिवाद का सम्बन्ध मिथ्या अथवा अयथार्थ ज्ञान (भ्रमात्मक ज्ञान) से है। सामान्यतः ख्याति का अर्थ ज्ञान या संज्ञा है। इससे पूर्व कि हम विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित भ्रम–सिद्धान्तों की चर्चा करें, यह जान लेना चाहिए कि 'भ्रम क्या है?'

भ्रम (विपर्यय)

भ्रम प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान (प्रमा) के विपरीत है। प्रमा की स्थिति में ज्ञेय वस्तु अपने यथार्थ स्वरूप में विद्यमान रहती है किन्तु भ्रम की स्थिति में ज्ञेय वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं रहती है। भ्रम की स्थिति में ज्ञेय वस्तु में कुछ ऐसे गुण–धर्मों का ज्ञान होता है जो उस वस्तु में होते ही नहीं हैं। इस प्रकार यह वस्तु का वह समझ लिया जाना है, जो वह वस्तुतः है नहीं। समस्त भ्रम अपनी प्रकृति में विषयीनिष्ठ होते हैं। जैसे एक रस्सी

को भ्रम में सांप समझ लिया जाना। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि सांप के कुछ गुण धर्म रस्सी में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार सीपी को चांदी समझ लिया जाना भी भ्रमज्ञान का एक उदाहरण है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. भ्रम क्या है?

....

....

....

....

....

मीमांसा के प्रभाकर सम्प्रदाय और अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा क्रमशः 'अख्यातिवाद' और अनिर्वचनीयख्यातिवाद का प्रतिपादन किया गया है। कुमारिल भट्ट का भ्रम सिद्धान्त 'विपरीतख्यातिवाद' कहलाता है। न्याय दर्शन ने 'अन्यथाख्यातिवाद' को स्वीकार किया। सांख्य दर्शन और रामानुज ने 'सत्ख्यातिवाद' को स्वीकारते हैं। परवर्ती सांख्य और जैन दर्शन ने 'सदसत्ख्यातिवाद' का समर्थन किया, शून्यवाद ने 'असत्ख्यातिवाद' को और विज्ञानवाद ने 'आत्मख्यातिवाद' का समर्थन किया। आइए देखते हैं कि उन्होंने अपने भ्रम–सिद्धान्तों की स्थापना किस प्रकार की है।

अख्यातिवाद

इस भ्रम–सिद्धान्त का प्रतिपादन मीमांसा के प्राभाकर सम्प्रदाय के द्वारा किया गया। इसे विवेकख्याति भी कहते हैं। प्रभाकर के अनुसार, 'अयथार्थ ज्ञान या संज्ञा' कुछ नहीं होता। कोई ज्ञान या संज्ञा विशेष अपूर्ण अथवा आंशिक हो सकता है किन्तु अयथार्थ नहीं हो सकता। भ्रम–ज्ञान की स्थिति में दो भिन्न–भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है।

1) यथार्थ ज्ञान या यथार्थ संज्ञा

2) स्मृति

प्रभाकर ने भ्रमात्मक ज्ञान की कोई तीसरी कोटि स्वीकार नहीं की है क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान इन्हीं दो उपरोक्त ज्ञानों से मिलकर पैदा होता है।

जैसे– यह चांदी है। यहाँ 'यह' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जबकि 'चांदी' का स्मरण ज्ञान (स्मर्यमाण) होता है। यहाँ 'यह' का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है क्योंकि सामने विद्यमान वस्तु, उदाहरण के लिए, सीपी के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष हो रहा है। यहीं चांदी का ज्ञान स्मृति में है जो हमारे इन्द्रिय संस्कारों से उत्पन्न होता है। यहाँ ज्ञाता सीपी के प्रत्यक्ष ज्ञान और चांदी के स्मृति जन्य ज्ञान में भेद नहीं कर पाता है। इस भेद को ग्रहण न कर पाने कारण वस्तु का ज्ञान भ्रमात्मक कहलाता है। इसलिए सीपी की प्रतीति चांदी के रूप में होती है।

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

यह भ्रम–सिद्धान्त अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार हमें अविद्या के कारण किसी वस्तु की इन्द्रिय–प्रतीति होती है। अविद्या के कारण ज्ञाता वस्तु को यथार्थ रूप में न जानकार किसी अन्य रूप में जानता है।

उदाहरणार्थ, हमारा सीपी को चांदी समझ लेना। इस स्थिति में हम चांदी के ज्ञान को सीपी पर आरोपित कर देते हैं। अतः यह भ्रमात्मक या मिथ्या है। अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि, अगले क्षण में वस्तु का ज्ञान परिवर्तित हो जाने के कारण इस संसार में कुछ भी सत् या वास्तविक नहीं है। अहं–प्रत्यय अर्थात् 'मैं–पन' के कारण ही हमें प्रत्यक्ष वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्रतीत होता है। जबकि तथ्य यह है कि केवल एक मात्र ब्रह्म की सत्ता है जो नित्य है और परिवर्तनों से रहित है। इसलिए हमें जिस किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है, वह यथार्थ नहीं होती है।

अतः जगत् अर्थात् सृष्टि के स्वरूप को अनिर्वचनीय बतलाया गया है। यह विचार यह अन्तर्निहित करता है कि सीपी अथवा चांदी किसी भी ज्ञान को यथार्थ नहीं कहा जा सकता। इसलिए यह भ्रम–सिद्धान्त अनिर्वचनीय कहलाता है।

विपरीतख्यातिवाद

मीमांसा का भट्ट सम्प्रदाय विपरीतख्यातिवाद का समर्थक है। इस विचार के अनुसार, इन्द्रिय एवं वस्तु के बीच त्रुटिपूर्ण सम्बन्ध के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। भ्रम वस्तुओं के कारण उत्पन्न नहीं होता जो कि यथार्थ होती है। जैसे संसार के अलग–अलग भागों में लोग समान चन्द्रमा को देखकर यह दावा करें कि वे भिन्न–भिन्न चन्द्रमा को देख रहे हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भ्रम ज्ञान वस्तुतः वस्तु के प्रति भ्रमपूर्ण दृष्टि का परिणाम है। उनके लिए भ्रम अन्यथा या अयथार्थ ग्रहण है।

अन्यथाख्यातिवाद

न्याय दर्शन विश्वास करता है कि भ्रम अन्यथा ग्रहण है। यह कुमारिल के विपरीतख्याति के समान है। नैयायिक कहते हैं कि प्रस्तुत (वर्तमान) वस्तु अन्यथा (दूसरी तरह से) देखी जाती है और स्मर्यमाण (प्रतिनिध्यात्मक) वस्तु अन्यत्र (दूसरी जगह) देखी जाती है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति शैल के स्थान पर चांदी को गलती से देखता (प्रत्यक्ष) है, तब वह (सामने प्रस्तुत) शैल को (प्रतिनिध्यात्मक) चांदी की तरह देखता है (अन्यथा) और चांदी को दूसरी जगह (अन्यत्र) देखता है। चांदी का स्मृति में प्रकट होना ज्ञानलक्षणप्रत्यक्ष के कारण है। कुमारिल इस तरह के प्रत्यक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं।

सत्ख्यातिवाद

रामानुज का मानना है कि भ्रम अग्रहण है। प्रभाकर के समान, वे विश्वास करते हैं कि भ्रम अपूर्ण है न कि अज्ञान। यह आंशिक सत्य है। उनके लिए, प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं के गुणों को रखती है, इसलिए भ्रम उत्पन्न होता है। इसके लिए, वे त्रिवृत् करण या पंचीकरण को स्वीकारते हैं। शैल चांदी की तरह आभासित होता है, क्योंकि चांदी का कुछ गुण (अंश) सीपी में पाया जाता है। इसी कारण से, यह सिद्धान्त यथार्थख्याति अथवा अख्याति–संवलितसत्ख्याति कहलाता है।

असत्ख्यातिवाद

शून्यवादी के लिए सत् शून्य है। शून्य का तात्पर्य है स्वतन्त्र (निरपेक्ष) उत्पत्ति न होना। अतः उनके लिए भ्रम का अर्थ है कि ज्ञेय असत् है, क्योंकि सत् शून्य है।

आत्मख्यातिवाद

विज्ञानवादी के अनुसार भ्रम कथित बाह्य वस्तु (बाह्यार्थ) पर विज्ञान (संज्ञा या ज्ञान का आकार) का आरोपण (अध्यास) है। वास्तविकता में, बाह्यार्थ असत् है।

सदसत्ख्यातिवाद

परवर्ती सांख्य (सांख्यसूत्र) और जैन दर्शन का मानना है कि वस्तु का भ्रमात्मक ज्ञान सत् है लेकिन ज्ञान का संश्लेषण असत् है।

अभिनव अन्यथाख्यातिवाद

मध्य का ख्यातिवाद अभिनव अन्यथाख्याति कहा जाता है। वास्तविक चांदी का भूतकाल में हुआ अनुभव जिसका मन पर एक संस्कार बन गया है, कुछ विशेष दोषों के कारण, सीपी को देखकर उद्भूत हो जाता है। सीपी पर देखी गई चांदी का अस्तित्व नहीं है। चांदी के मनःसंस्कार एवं सीपी के मध्य भ्रम के कारण चांदी का भ्रम उत्पन्न होता है।

20.5 तत्त्वमीमांसा

मीमांसा दर्शन नित्य जगत् एवं उसमें (उस जगत् में) असंख्य जीवात्माओं की सत्ता में विश्वास करता है। ये अन्य नित्य एवं अपरिमित पदार्थों के अस्तित्व को भी स्वीकारते हैं। मीमांसकों का विचार है किजगत् तीन तत्वों से निर्मित है– शरीर, इन्द्रिय एवं बाह्य वस्तुएं। शरीरस्थ आत्मा कर्म–फलों का भोक्ता है। इन्द्रियां सुख–दुख को भोगने का साधन हैं। बाह्य वस्तुएं भोग्य पदार्थ हैं। इन तत्वों के अतिरिक्त मीमांसक स्वर्ग, नरक आदि के अस्तित्व को मानते हैं, यद्यपि ये प्रत्यक्ष (दृश्यमान) नहीं हैं। मीमांसकों को बहुलवादी वस्तुवादी कहा जाता है।

मीमांसक इस बात से सहमत हैं कि विश्व अर्थात् संसार की सृष्टि और लय हमारे कर्मों पर आधारित हैं। इसलिए वे सृष्टि के लिए ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना को नकार देते हैं। उनके लिए, ईश्वर वह अदृष्ट शक्ति है जो निश्चित समय/अवधि में निश्चित कर्मों को करने का मार्गदर्शन/निर्देश देती है।

मीमांसा का प्रभाकर सम्प्रदाय कुल आठ पदार्थों की सत्ता मानता है; द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। कुमारिल भट्ट इन आठ भाव पदार्थों में से प्रथम चार पदार्थों द्रव्य, गुण, सामान्य और कर्म को स्वीकारते हैं इसके अतिरिक्त, कुमारिल अभाव को अपनी सूची में सम्मिलित करते हैं।

कारणता–सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन का कारणता–सिद्धान्त अपूर्व की शक्ति पर आधारित है। इसके अनुसार, प्रत्येक कारण में अपूर्व नामक शक्ति निहित रहती है। इसके परिणाम स्वरूप एक विशिष्ट कारण एक विशिष्ट कार्य को जन्म देता है। इस प्रकार किसी भी परिघटना की व्याख्या उसके कारण में विद्यमान शक्ति के द्वारा की जा सकती है। यदि शक्ति का अभाव हो तो कार्य भी उत्पन्न नहीं होगा। एक उदाहरण के द्वारा इसे समझा जा सकता है। यदि हम किसी बीज को भूनकर जमीन में बो दें, तो वह अंकुरित नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि बीज की शक्ति भुनने के क्रम में नष्ट हो जाती है।

20.6 आत्म का स्वरूप

मीमांसक संसार में असंख्य आत्माओं के अस्तित्व को मानते हैं। उनके अनुसार आत्माएं दो प्रकार की होती हैं। एक मुक्त आत्माएं और दूसरी जिन्हें अभी मुक्ति नहीं मिली है। इसमें यह अन्तर्निहित है कि प्रत्येक जीवित प्राणी एक भिन्न आत्मा धारण करता है। मीमांसकों के लिए, आत्मा नित्य एवं अविनाशी है। जब किसी जीवित प्राणी की मृत्यु होती है, तब आत्मा मृत्यु के साथ नष्ट नहीं हो जाता है, बल्कि पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए पुनः जन्म लेता है। मीमांसकों के अनुसार, चेतना आत्मा का स्वरूप या अनिवार्य धर्म नहीं है। मीमांसक चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं। यह गुण विशिष्ट स्थितियों में उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, गहरी निद्रा में आत्मा में इसलिए चेतना नहीं पाई जाती है क्योंकि इस अवस्था में इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क टूटा होता है।

कुमारिल के अनुसार, हमें आत्मा का ज्ञान उस प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार हमें बाह्य वस्तुओं, पेड़, पशु–पक्षी आदि, का ज्ञान होता है। कुमारिल ने आत्मा को स्वप्रकाश बताया है। जब हम आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो 'मैं हूँ' इस प्रकार की आत्मा–प्रतीति होती है। इस मत का खण्डन करते हुए प्रभाकर मिश्र का यह कहना है कि आत्मा किसी एक ही ज्ञान का विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि कोई भी वस्तु एक ही समय में कर्ता और क्रिया दोनों नहीं हो सकतीं। कर्ता एवं क्रिया–दोनों का व्यापार एक दूसरे से नितान्त भिन्न होता है। प्रभाकर के अनुसार, किसी भी यथार्थ ज्ञान के कुल तीन घटक होते हैं– ज्ञाता, ज्ञेय ओर ज्ञान। किसी वस्तु का ज्ञान होते समय ये तीनों घटक एक साथ प्रकाशित होते हैं। उदाहरणार्थ– मैं इस मेज को जानता हूँ।' इस उदाहरण में 'मैं' ज्ञाता है, मेज ज्ञेय है और ज्ञान वह है जो मेज के विषय में प्राप्त होता है।

बोध प्रश्न 4

ध्यातव्यः क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. मीमांसकों के आत्मा सम्बन्धी विचार का वर्णन कीजिए।

....

....

....

....

....

20.7 ईश्वर एवं मुक्ति

मीमांसा दर्शन ने ईश्वर की अपेक्षा वेद को अधिक महत्व दिया है। वेद ऐसे शाश्वत नियमों का विधान करते हैं, जिसके अनुकूल आचरण कर व्यक्ति सुखी एवं स्वस्थ जीवन प्राप्त कर सकता है। ईश्वर मात्र कर्मकण्डों में प्रदान की जाने वाली आहुतियों से सम्बन्धित

(आहुतियों का नाम) है। ये यज्ञ को जीवन में आनन्द प्राप्त करने के उच्चतम साधन के रूप में स्वीकारते हैं। यज्ञ ईश्वर की आराधना के लिए नहीं हैं, अपितु अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए हैं।

इस पृथ्वी पर जीवित प्राणियों द्वारा दो तरह के कार्य किये जाते हैं। पहला, कुछ सांसारिक सुख पाने के लिए किये गये कर्म। दूसरा, वेदविहित कर्म। जब तक कर्म हैं, तब तक सांसारिक वस्तुओं से जुड़ाव है, और इसलिए दुःख है। समस्त दुःखों से मुक्ति के लिए, मोक्ष प्राप्त करना होगा। मीमांसकों का यह मानना है कि सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति और तदनुरूप किए कर्मों के कारण जीवात्मा जन्म–मरण के चक्र में घूमती रहती है। मोक्ष की प्राप्ति तभी होती है जब आत्मा शरीर, मन, इन्द्रिय और सांसारिक वस्तुओं के बन्धन से मुक्त हो जाती है। मुक्ति की दशा में चेतना से विरहित होने के कारण आत्मा सुख–दुःख का अनुभव नहीं कर सकती।

इसलिए मीमांसकों के लिए मोक्ष आनन्द की अवस्था नहीं है। यह एक ऐसी अवस्था है जहाँ आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और सांसारिक सुख–दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो जाती है।

20.8 सारांश

जैमिनि मीमांसा सम्प्रदाय के संस्थापक हैं। उन्होंने मीमांसासूत्र की रचना की। अनेक भाष्यकारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र प्रसिद्ध भाष्यकार हैं।

ज्ञानमीमांसा

यथार्थ ज्ञान वह है जो दोषपूर्ण साधनों से उत्पन्न नहीं होता अर्थात् बाधरहित होता है और वस्तु का यथावत ज्ञान कराता है। मीमांसा दर्शन ने स्वतः प्रामाण्यवाद और परतः प्रमाण्यवाद की चर्चा की।

तत्त्वमीमांसा

मीमांसा–दर्शन बहुतत्ववादी (बहुलवादी) एवं वस्तुवादी है क्योंकि इसके अनुसार विश्व में असंख्य वस्तुओं की सत्ता है। विश्व में अपरिमित एवं नित्य आत्माएं विद्यमान हैं। आत्माएं दो प्रकार की होती हैं; एक मुक्त आत्मा एवं दूसरी जीवित (शरीरी) आत्मा। इस प्रकार, जितने शरीर हैं, उतनी आत्माएं मानी गई हैं। इसके अतिरिक्त, मीमांसक स्वर्ग, नरक आदि के अस्तित्व में भी विश्वास करते हैं।

20.9 कुंजी शब्द

सूत्र : भारतीय दर्शन में सूत्र वस्तुतः विषय–प्रतिपादन की वह पद्धति है जिसमें अत्यन्त संक्षेप में, कम से कम शब्दों में सारगर्भित ढंग से बात कही जाती है। सूत्र का शाब्दिक अर्थ है; धागा।

कर्मकाण्ड : वैदिक साहित्य के संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञीय विधि–विधानों एवं अन्य अनुष्ठानिक कृत्यों से सम्बन्धित भाग को कर्मकाण्ड कहा जाता है।

20.10 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* ट्रान्सलेटिड बाइ ई बी कॉवेल एण्ड ए ई गॉग. देल्ही: भारतीय कला प्रकाशन, 2017.

राधाकृष्णन, एस. *इण्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यू–2. लंदन: जॉर्ज एलेन एण्ड यूनियन पब्लिकेशन, 1927.

शर्मा, सी.डी. *ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, 1964.

सिन्हा, जे. *इण्डियन रियलिज्म.* लंदन: केगन पॉल पब्लिकेशन, 1938.

हिरियण्णा, एस. *आउटलाइन ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* जॉर्ज एलेन एण्ड यूनियन पब्लिकेशन, 1932.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

सूरी, हरिभद्र. *षड्दर्शनसमुच्चय.* अनुवाद– कामेश्वरनाथ मिश्र. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1979.

शर्मा, अम्बिकादत्त. "अथ स्वतः परतः प्रामाण्य परीक्ष्यते". *उन्मीलन,* 30/2(2016): 57–75.

20.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. स्वतः प्रामाण्यवाद का अर्थ है, किसी ज्ञान को स्वयं में प्रमाण मानना। इसके अनुसार ज्ञान कारण–दोषों से रहित होकर अपने कारणों से स्वतः उत्पन्न होता है और अपने ज्ञान के द्वारा ही यह जाना जाता है। बाह्य सामग्री से नहीं, अपितु स्वयं ज्ञान को उत्पन्न करने वाली कारण–सामग्री से ज्ञान की प्रमाणिकता उत्पन्न होना, ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य है।

बोध प्रश्न 2

1. अर्थापत्ति एक ऐसी अदृष्ट कल्पना है जिसका प्रयोग दो दृष्ट तथ्यों में प्रतीयमान असंगति को दूर करने के लिए किया जाता है। जब दो ज्ञात तथ्य स्वयं को व्याख्यायित करने में समर्थ न हो तो तीसरे तथ्य की कल्पना करनी पड़ी है। इस तीसरे तथ्य के वैध और प्रमाणित ज्ञान को ही अर्थापत्ति कहते हैं।

बोध प्रश्न 3

1. समस्त भ्रम–ज्ञान विषयीनिष्ठ होते हैं। भ्रम की दशा में हमें वस्तु का अयथार्थ ज्ञान होता है। हमें वस्तु के ऐसे गुण धर्म का ज्ञान होता है जो वस्तु में पाया नहीं जाता। इस प्रकार, यह अन्यथा या अयथार्थ ग्रहण है, जिसमें वस्तु जैसी वो है उससे भिन्न ग्रहण की जाती है। सीपी को देखकर चाँदी समझ लेना भ्रमज्ञान का उदाहरण है।

बोध प्रश्न 4

1. मीमांसकों के अनुसार विश्व में असंख्य आत्माएं हैं। आत्माएं दो प्रकार की हैं। मुक्त आत्माएं और शरीरी जीवात्माएं। इससे पता चलता है कि प्रत्येक जीवधारी एक विशिष्ट आत्मा से युक्त होता हैं मीमांसकों के अनुसार आत्मा नित्य एवं अविनाशी है। जब कोई जीव मरता है तब आत्मा मरती नहीं बल्कि वह कर्मफलों के भोग के लिए जीवित रहती है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 21 वेदान्तः शंकर, मध्व, रामानुज[21]

रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 परिचय

21.2 शंकर

21.3 ज्ञानमीमांसा

21.4 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

21.5 मोक्ष

21.6 मध्व

21.7 ज्ञानमीमांसा

21.8 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

21.9 मोक्ष

21.0 रामानुज

21.11 ज्ञानमीमांसा

21.12 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

21.13 मोक्ष

21.14 सारांश

21.15 कुंजी शब्द

21.16 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

21.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है–

- वेदान्त परम्परा के अद्वैत और द्वैत दर्शनों की ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और नीतिमीमांसा को स्पष्ट करना,
- मोक्ष के विचार और मोक्ष के साधनों की चर्चा करना।

[21] डॉ. एस भुवनेश्वरी, मद्रास विश्वविद्यालय, अनुवाद– डॉ. आनन्द पाण्डे, जे एन यू दिल्ली

21.1 परिचय

उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। क्योंकि ये वेद के अन्तिम भाग हैं या कुछ विद्वान कहते हैं कि ये वेद का सार हैं। ये दार्शनिक स्वरूप वाले हैं। उपनिषद् प्रस्थानत्रयी (*उपनिषद्, भगवद्गीता* और बादरायण का *वेदान्तसूत्र* वेदान्त दर्शनों के प्रस्थान–बिन्दु या आरम्भ–बिन्दु या आधार कहे जाते हैं) में से एक हैं। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने दर्शन को इन तीनों पर आधारित किया है। अनेक दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों को प्रमाणित करने या स्थापना के लिए उपनिषदों के निर्वचन के विविध प्रयास किये हैं। ये सम्प्रदाय वेदान्त सम्प्रदाय कहलाते हैं। वेदान्त दर्शन श्रुति, युक्ति और अनुभव पर आधारित है। इस इकाई में हम उनमें से तीन; शंकर, मध्व और रामानुज के दर्शन की चर्चा करेंगे। शंकर ने अद्वैत, मध्व ने द्वैत और रामानुज ने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की।

21.2 शंकर

शंकर का जन्म केरल के कालडी में शिवगुरू और आर्यम्बा दंपत्ति के यहां 788 ई. में हुआ था। इनके माता–पिता शिव के उपासक थे।

उन्होंने प्रस्थान त्रय (वेदांत के तीन प्रमुख सिद्धांतोः *उपनिषद्, भगवद्गीता,* और *ब्रह्मसूत्र*) पर भाष्य लिखा। उनके कुछ शिष्य पद्मपाद, सुरेश्वर, टोटक और हस्तामलक थे। उनकी प्रसिद्ध दार्शनिक रचनाएं इस प्रकार हैंः–*विवेकचूड़ामणि, उपदेश साहस्री, वाक्यवृत्ति, मोहमुद्गर (भज गोविन्दम्)* इत्यादि। उनके कुछ भक्तिपरक स्त्रोत हैंः– *गणेश पंचरत्नम्, सौंदर्यलहरी, शिवानंदलहरी, नर्मदाष्टकम्* आदि। ऐसा कहा जाता है कि अपने छोटे से जीवन में उन्होंने सौ से अधिक रचनाएं कीं। 820 ई. में अपने कार्य के अंत में उन्होंने अपने शिष्यों को मानवता के कल्याण की उनकी दृष्टि को आगे बढ़ाने के लिए कहा। ऐसा कहा जाता है कि उसके बाद वे हिमालय की ओर प्रस्थान कर गये।

21.3 ज्ञानमीमांसा

अद्वैत दर्शन के सारतत्व को शंकर ने अपनी इस प्रसिद्ध उक्ति में दिया हैः ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरः– ब्रह्म सत्य है, जगत् असत्य है और जीव (वैयक्तिक आत्मा) ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह शिक्षा उपनिषदों के कथनों पर आधारित है। अद्वैतवादी सारतत्त्व को उजागर करने के प्रयास (उपनिषदों की) व्याख्याओं में निहित हैं।

स्व या ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है क्योंकि ब्रह्म को विषय नहीं बनाया जा सकता है। ब्रह्म स्व–साक्षी स्व–प्रकाशक है, इसलिए ब्रह्म–ज्ञान, वृत्ति–ज्ञान या आनुभविक ज्ञान के विपरीत स्वरूप–ज्ञान कहलाता है।

शंकर के अनुसार, ब्रह्म किसी भी प्रमाण (प्रमा के साधन) से नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान या प्रमा का साधन द्वैत (ज्ञाता और ज्ञेय विषय) को मानकर चलता है। ब्रह्म अद्वय है। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय विषय के मध्य कोई द्वैत नहीं है। यहाँ तककि शास्त्र भी अविद्या (द्वैत) में हैं। लेकिन शास्त्र ब्रह्म–विषयक कथन रखने के कारण ब्रह्म के प्रति संकेत के रूप में प्रयोग किये जा सकते हैं। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता

है, दर्शाता है कि ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य कोई कालान्तर नहीं है। जैसेकि घटाकाश और महाकाश एकसमान हैं, लेकिन घट की दीवार के कारण, हम सोचते हैं कि वे भिन्न हैं, लेकिन जब घट नष्ट होता है, आप घटाकाश का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। ब्रह्म सर्वव्यापक है जैसेकि मिट्टी मिट्टी के बर्तनों में व्याप्त है। नाम और रूप कि यह घट है, यह बोतल है, ये केवल मिट्टी के विकार (रूप–परिवर्तन) हैं, मिट्टी ही सत् या वास्तविक है। इसी प्रकार ब्रह्म ही सत् है, संसार विकार है और ब्रह्म से अलग संसार अपना कोई स्वतन्त्र एवं भिन्न अस्तित्व नहीं रखता है।

अविद्या नैसर्गिक है, यह अनादि है। यह किसी वस्तु को भिन्न या अन्य वस्तु की तरह देखना है। यह सदसदविलक्षण (सत् असत् अविलक्षण) है, क्योंकि यह न तो सत् है (क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है) न ही असत् है (आकाश के पुष्प की तरह नहीं होने के कारण; आकाश में पुष्प का कोई अस्तित्व नहीं)। इसलिए हम अविद्या का निर्वचन नहीं (निर्वचन के लिए कोई वस्तु सत् या असत् की कोटि में होनी चाहिए) कर सकते हैं। इसलिए अविद्या अनिर्वचनीय कहलाती है।

21.4 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

इस भाग में हम अद्वैतवाद की तत्त्वमीमांसीय कोटियों की चर्चा करेंगे।

ब्रह्म

सत् वह है जो त्रिकाल (तीन काल; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) अबाधित (जिसका बाध न हो; जिसके अस्तित्व में बाधा न हो) है। अहं या स्व का बाध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसका निषेध भी इसके अस्तित्व (होने को) स्वीकारता है। उपनिषद् ब्रह्म को दो तरह से परिभाषित करते हैं, पहला, इसके मूल रूप का प्रस्तुतीकरण (स्वरूप लक्षण), और दूसरा, द्वितीयक गुणों के माध्यम से ब्रह्म का प्रस्तुतीकरण (तटस्थ लक्षण)। 'अस्तित्व चैतन्य निस्सीम ब्रह्म' जैसे औपनिषदिक कथन ब्रह्म के साररूप अथवा प्रत्यक्ष परिभाषा के रूप में जाने जाते हैं और 'उसी से सृष्टि की समस्त चीजें निःसृत हुई हैं' जैसे कथन जो ब्रह्म का वर्णन ब्रह्मांड के रचयिता के रूप में करते हैं, तटस्थ लक्षण को कहते हैं। ब्रह्म का वर्णन एक अद्वितीय, द्वैत रहित के रूप में किया गया है जिसका अर्थ है ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से मुक्त (सताजीय विजातीय स्वगत शून्य) है। अद्वय ब्रह्म, गुणों, परिवर्तनों और रूपों से शून्य नित्य पवित्र और अद्वितीय सत्ता है। यह पूर्ण रूप (इन्द्रिय अगोचर) से वास्तविक और संपूर्ण सत्ता है। अद्वैत के अनुसार, निर्गुण ब्रह्म एकमात्र वास्तविकता (सत्) है। जब उसे वैयक्तिक आत्म (जीव) की वास्तविक प्रकृति से अभिन्न महसूस किया जाता है तब उसे आत्म के रूप में जाना जाता है। इस तरह ब्रह्म और आत्म अनिवार्यतः एक हैं। ब्रह्म अनादि है। ब्रह्म का द्वितीयक लक्षण सहित रूप सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर को माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म–चेतना के रूप में परिभाषित किया जाता है। माया ईश्वर की शक्ति है।

अविद्या

अविद्या (जिसे कभी–कभी माया कहा जाता है; माया के विषय में विवादित है कि शंकर ने माया शब्द का प्रयोग किया कि नहीं। यह विवाद इस विवाद पर आधारित है कि शंकर ने कौन–कौन सी पुस्तकें लिखीं) अथवा आद्य विषय भी अनादि है। ब्रह्म उसका

आश्रय और विषय है। ब्रह्म का अस्तित्व और साक्ष्य अविद्या द्वारा छिपा दिया गया है। माया की परिभाषा अवर्णनीय/अनिर्वचनीय–अथवा यह जो अस्तित्ववान (सत्) अथवा अनस्तित्ववान (असत्) या दोनों के रूप (सत् और असत् दोनों) में वर्गीकृत नहीं की जा सकती– के रूप में की गई है। इसे अस्तित्ववान नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्म–ज्ञानोदय होने पर माया और उसके प्रभाव निष्प्रभावी हो जाते हैं। यह अनस्तित्वान नहीं हो सकती क्योंकि यह अनुभूत हो चुकी है। यह दोनों नहीं रह सकती क्योंकि परस्पर विरोधी गुण एक साथ (एक आश्रय में) नहीं रह सकते। इसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। बल्कि इसके उत्पादों (कार्यों/रचनाओं)–विश्व और भौतिक सत्ताओं– के द्वारा इसका अनुमान किया जा सकता है। माया की दो शक्तियां हैं– एक आवरण शक्ति, जो प्रकृति की चेतना को छिपाती है और दूसरी विक्षेप शक्ति, जो बहुलतावादी संसार को दर्शाती है। माया का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अपने अस्तित्व के लिए यह ब्रह्म पर निर्भर है। अद्वैत के अनुसार, जिसका भी अस्तित्व सापेक्ष (निर्भर) है वह मिथ्या है।

जीव

अद्वैत के अनुसार, मन में प्रतिबिम्बित ब्रह्म–चेतना ही जीव है। जीव भी अनादि है। छह कारकों को अनादि मानकर अद्वैत समय की चक्रकता को दिखलाता है और 'प्रथम' रचना, जिसे अतार्किक मानकर निरस्त कर दिया गया था, की जांच नहीं करता है। जीव ज्ञान एवं शक्ति में सीमित है और एक स्थान पर स्थित है। जीव असंख्य हैं। वे तीन शरीरों की रचना करते हैं– स्थूल, सूक्ष्म, और कारण। पार्थिव देह जन्म और मृत्यु का विषय है। जहाँ भौतिक पार्थिव देह अनुभवों को सहती है, वहीं सूक्ष्म देह अनुभवों का साधन है। तीनों देह अपने–अपने कार्यों पर आधारित हैं। इन्हें पांच रूपों (पंच कोष) में बांटा गया है– अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष। वैयक्तिक आत्म या जीव अनुभवों के तीन चरणों को पार करता है– जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (गहन निद्रा)। जीव अपने विभिन्न अवयवों के माध्यम से कर्म–फल का कर्त्ता एवं भोक्ता है। जीव तीन प्रकार के कर्मों से बंधा है: संचित, प्रारब्ध और आगामी। संचित कर्म अतीत के कर्मों का फल हैं लेकिन जिनका फल मिलना अभी शेष है। प्रारब्ध कर्म जिनके फल आज मिल रहे हैं और आगामी कर्म भविष्य के कर्मों का परिणाम हैं जिनके फल भविष्य के कर्मों से मिलेंगे।

जगत्

अद्वैतवादी आनुभविक (प्रत्ययगोचर) ब्रह्मांड के उद्भव के विवरण के लिए विवर्तवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, कारण बिना परिवर्तन के प्रभाव पैदा करता है। ब्रह्म वह आश्रय है जिस पर ब्रह्माण्ड प्रकट होगा। विश्व ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं है। विश्व के उदय का कारण माया है, जो रूपांतरित होती है। और इसलिए यह रूपांतरणीय भौतिक कारण (परिणामी उपादान कारण) है। अद्वैतवादी मानते हैं कि ब्रह्माण्ड का अस्तित्व अव्यक्त रूप में ब्रह्म में है। इस दृष्टिकोण को इसीलिये सत्कार्यवाद कहते हैं। माया ब्रह्म के अधीन है और माया रहित ब्रह्म कारण नहीं हो सकता। ईश्वर को ब्रह्मांड का भौतिक और बौद्धिक कारण माना गया है। माया का संचालक ईश्वर ब्रह्माण्ड को व्यवस्थित और सोद्देश्य ढंग से निर्मित करता है। माया का कारणरूप भी अनादि है, जो दो चरणों में विकसित होता है– पहले सूक्ष्म ब्रह्माण्ड विकसित होता है, फिर इससे स्थूल ब्रह्माण्ड विकसित होता है। यह प्रक्रिया स्थूल और सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के स्तर पर विकसित होती है। हम इस उद्भवकारी प्रक्रिया को इस तरह समझ सकते हैं:–

अव्यक्त स्थिति में आकस्मिक शरीर पहले वैसे ही सूक्ष्म शरीर के रूप में व्यक्त होता है जैसे बीज से अंकुर फूटता है। पंचतत्त्व–गगन, समीर, पावक, जल और पृथ्वी–आकस्मिक

स्तर पर माया से निकले तीन गुणों से बनते हैं। सूक्ष्म शरीर स्थूलीकरण (पंचीकरण) की प्रक्रिया से विकसित होता है। यह प्रक्रिया सोलह अंगों का संयोजन होती है जो कि अदृश्य और अगम्य हैं। ये ज्ञान की पाँच इन्द्रियां, (स्पर्श, श्रवण, दृष्टि, स्वाद और गंध) और कर्मेन्द्रियां (भाषण, ग्रहण, इत्यादि, संचलन इन्द्रिय, मलोत्सर्जक अंग और प्रजनन अंग), पाँच जीवंत वायु (श्वास–प्रश्वास, पाचन, परित्याग, परिवर्तन प्रक्रिया) और चार स्तरीय कार्यों जैसे कि मन, बुद्धि, अहंबोध और स्मृति वाला आन्तरिक अंग (अन्तः करण)। ज्ञानेन्द्रियां और बुद्धि माया के सत्वगुण की उपज हैं, कर्मेन्द्रियां और जीवंत वायु माया के रजोगुण की उपज हैं। सूक्ष्म ब्रह्मांड के पास इनमें से प्रत्येक अंग के समतुल्य संचालक देवता हैं। उदाहरण के लिए, सूर्य आंखों का संचालन देवता है और इसी तरह से अन्य सभी के संचालक देवता हैं। इस स्थिति में सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म ब्रह्माण्ड का विकास होता है। ये माया के तमोगुण से विकसित होते हैं और स्थूलीकरण (पंचीकरण) की प्रक्रिया से गुजरते हैं। स्थूल स्तर पर पंचतत्त्व दो बराबर भागों में विभाजित हैं। प्रत्येक तत्त्व का आधा हिस्सा पुनः चार हिस्सों में विभाजित होता है। प्रत्येक तत्त्व का आठवां हिस्सा, आधे हिस्से को अपने पास रखते हुए, अन्य तत्वों को स्थानांतरित होता है। स्थूलीकरण की इस प्रक्रिया के अंत में, प्रत्येक तत्त्व के पास आधा स्वयं अपना और आठवां हिस्सा अन्यों का होता है। उदाहरण के लिए, पृथ्वी तत्त्व में आधा हिस्सा पृथ्वी तत्त्व एवं आकाश, वायु, अग्नि, और जल तत्त्व में से प्रत्येक का आठवां हिस्सा होगा। इस स्तर पर व्यक्ति को स्थूल शरीर और स्थूल ब्रह्माण्ड का अनुभव होता है। भौतिक शरीर और भौतिक जगत् अनात्म (अन आत्म; जो आत्म नहीं) के रूप में जाने जाते हैं।

21.5 मोक्ष

आत्म–अज्ञान के कारण आत्म और अनात्म की प्रकृति का मिश्रण होता है और यह बंधन में फलीभूत हो जाता है। आत्म की प्रकृति अनन्त, अमर, शुद्ध, असीम, आनन्दपूर्ण इत्यादि है। अनात्म की प्रकृति का अनृत (मिथ्यारूप में) आत्म पर और आत्म की प्रकृति, जोकि सत् और चित् है, का अनात्म पर मिथ्यापूर्वक आरोपण होता है। यह आरोपण बन्धन का कारण है। बन्धन एक भ्रम है जोकि अज्ञान के कारण ब्रह्म पर आरोपण (अध्यास; वह आरोपण जिसका सम्यक् ज्ञान से बाध हो सके) के रूप में है और इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद के आधार पर, रज्जु (रस्सी) सम्बन्धी अज्ञान (रस्सी को किसी और रूप में देखना, जैसे सांप के रूप में), सांप को रचता है, यहाँ अज्ञान सांप (सांप–बुद्धि; यह सांप है) का उपादान कारण है। रस्सी वह आश्रय है जिस पर सांप (सांप बुद्धि) का आरोपण या अध्यास होता है और इसलिए रस्सी सांप का परिण ामी उपादान कारण है। सांप देखने वाला सांप की विशेषताओं का आरोपण करता हुआ भयभीत होता है और भागने का प्रयत्न करता है। रस्सी–ज्ञान (यह रस्सी है) के उदय होने पर सांप विनष्ट हो जाता है और व्यक्ति सुरक्षित महसूस करता है। इस घटनाक्रम में, वास्तव में कोई दुःख या पीड़ा नहीं है लेकिन फिर भी यथार्थ ज्ञान (रस्सी–ज्ञान) के अभाव में व्यक्ति दुःख या भय का अनुभव करता है। अद्वैत वेदान्त का कथन है कि, इसी तरह से, विविधताओं या अनेकत्व (बहुलताओं) वाला यह संसार अज्ञान के कारण अद्वय ब्रह्म पर आरोपण है, बहुलताएं दुःख का कारण हैं, ब्रह्मज्ञान के उदय होने पर बहुलतायें (द्वैत) विनष्ट हो जाती (जैसेकि सांप विनष्ट हो जाता है) हैं और व्यक्ति आत्म की अद्वय प्रकृति की अनुभूति करता है तथा आनन्द को प्राप्त करता है। 'मैं पिता हूँ', 'मैं छात्रा हूँ' ये सभी (पिता, माता, विद्यार्थी, धनी, निर्धन, भारतीय इत्यादि) अहं या आत्म पर आरोपण हैं। यह

अध्यास है, लेकिन अध्यास का आगामी यथार्थ ज्ञान (कि यह ऐसा है वैसा नहीं; जो जैसा है उसका वैसा ज्ञान) के द्वारा बाध हो जाता है। जब हम अपना स्वरूप जान लेते हैं, तब कोई अध्यास सम्भव नहीं होता।

मोक्ष शुद्धीकरण नहीं है, और न ही मोक्ष के सम्बन्ध में करने, न करने या भिन्न रीति से करने का कोई विकल्प है। क्योंकि यह वस्तुतन्त्र (वस्तु पर निर्भर, जैसे यहाँ मोक्ष पर निर्भर) है, न कि पुरुषतन्त्र (कर्त्ता, ग्राहक या विषयी पर निर्भर)। इसी वजह से, उपासना या भक्ति या यज्ञ और न ही कोई कार्य मोक्ष की ओर ले जाता है।

जिसने महावाक्य के माध्यम से अद्वय–ज्ञान को प्राप्त कर लिया है वह जीवन–मुक्त है। तकनीकि रूप से, यह कहा गया है कि जीवन–मुक्त अपने संपूर्ण 'संचित कर्म' को जला डालता है और 'आगामी कर्म' से अप्रभावित रहता है। चूंकि, 'प्रारब्ध कर्म' अपना फल दे चुका होता है, और इससे मुक्ति केवल अनुभव से मिल सकती है। इसलिए जीवन मुक्त तब तक बना रहता है जब तक प्रारब्ध हैं। शरीर के पतन के बाद, मोक्ष–प्राप्त जीव दूसरा शरीर नहीं धारण करता है और इस प्रकार जन्म और मृत्यु से स्वतंत्र (विदेह मुक्ति) होता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार के अनुसार, ज्ञान के दूरस्थ साधन कर्म और ध्यान हैं। ये साधन मन की शुद्धता में वृद्धि करते हैं। निकटस्थ साधन चार–स्तरीय योग्यताएं हैं: विवेक अथवा नित्य और अनित्य के बीच भेदज्ञान, वैराग्य या सांसारिक लाभों से विलगाव, शमदमादिषट्सम्पत्त अथवा छह स्तरीय मानसिक अनुशासन, और मुमुक्षत्व अथवा मोक्ष की उत्कंट अभिलाषा। ऐसे अन्वेषी को ही मोक्ष के अधिकारी के रूप में जाना जाता है जो प्रत्यक्ष साधनों को चुनता है, जैसे– धर्मग्रंथों का श्रवण (श्रवण), संदेहों के उन्मूलन में संलग्नता (मनन), शिक्षाओं के अनुसार जीवन जीकर ब्रह्मरूप में स्थापित होना (निदिध्यासन)।

जीव और ब्रह्म की तादात्म्यता को उपनिषदों में महावाक्य द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। ऐतरेय का सम्बन्ध ऋग्वेद से है, और इसका महावाक्य है– 'प्रज्ञानं ब्रह्म', *बृहदारण्यक* का सम्बन्ध यजुर्वेद से है, इसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य है। महावाक्य 'तत्त्वमसि' *सामवेद* के *छांदोग्य उपनिषद्* का है और *अथर्ववेद* के *माण्डूक्य* का महावाक्य है 'अयमात्मा ब्रह्म।' यहां हम तत्त्वमसि महावाक्य, जो कि निर्देशात्मक स्वभाव का है, का विश्लेषण करेंगे।

छांदोग्य के सद्विद्या वर्ग में पिता उद्दालक और पुत्र श्वेतकेतु के बीच एक संवाद है। संवाद के आरम्भ में ही यह संकेत है, 'जिसे जानने के पश्चात् अन्य सब कुछ ज्ञात हो जाता है।' उद्दालक कहते हैं कि ईश्वर ब्रह्माण्ड का कारण है। वह 'सत्' अथवा अस्तित्ववान है। तत्त्वमसि महावाक्य के द्वारा वे अपने पुत्र का निर्देशित करते हुए कहते हैं, 'तुम वह हो'। तत् (वह) और त्वं (तुम) शब्दों का प्राथमिक अर्थ तादात्म्यता को निरूपित नहीं करता है। आइये इस प्रक्रिया को क्रमानुसार देखते हैं:–

तत् शब्द का प्राथमिक अर्थ ईश्वर को निर्देशित करता है। यह ईश्वर माया में प्रतिबिम्बित होने वाली चेतना के रूप में परिभाषित है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और सर्वव्यापी है। त्वं शब्द का प्राथमिक अर्थ जीव से संदर्भित है जो कि मन में प्रतिबिम्बित होने वाली चेतना के रूप में परिभाषित है। जीव की बुद्धि, शक्ति और व्यापकता सीमित है। मूल अर्थ के माध्यम से स्पष्ट विशेषताएं स्वभाव से अंतर्विरोधी और एक दूसरे के विरूद्ध हैं। तत् (परमात्मा) और त्वं (जीवात्मा) की तादात्म्यता असंभव है। चूंकि प्राथमिक अर्थ इसके लागू नहीं हो पाती, इसलिए हम द्वितीयक अर्थ लागू करते हैं। द्वितीयक निहितार्थ तीन चरणों में विकसित होता है:

1) पहला चरण समानाधिकरण्य अथवा कर्मधारय समास के रूप में जाना जाता है, जिसमें दो शब्द व्याकरणीय रूप से संयुक्त होते हैं और दोनों समान अवस्थिति को स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए, 'श्वेत कमल' दो शब्द हैं जो व्याकरणीय रूप से संयुक्त होकर एक ही पुष्प को निर्देशित करते हैं। समानरूप से, तद् और त्वं दोनों का समानाधिकरण है, इसलिए समान अवस्थिति को इंगित करता है। किन्तु, शब्दार्थ एक दूसरे विपरीत हैं।

2) दूसरा चरण विशेष्य विशेषण सम्बन्ध के रूप में जाना जाता है। शब्द के अर्थ विशेष्य और विशेषण के रूप में कार्य करते हैं और एक दूसरे को परिसीमित करते हैं। 'श्वेतकमल' के मामले में, श्वेत का अर्थ है 'सफेदपन (श्वेतपन)' और कमल शब्द का अर्थ है 'कमलपन'। प्रथम में, श्वेत विशेषक है और कमल विशेष्य है। और दूसरे उदाहरण में 'कमलपन'। प्रथम में, श्वेत विशेषक है और कमल विशेष्य है। और दूसरे उदाहरण में 'कमल' विशेष है और 'श्वेत' विशेषक है। इस प्रकार, दोनों शब्दार्थ समान वस्तु का निर्देश करते हुए एक दूसरे को परिसीमित करते हैं। किन्तु, तत् और त्वं शब्दों के मामले में विशेषण और विशेष्य की प्रक्रिया उचित तौर पर नहीं होती इसलिए विरोधी अर्थ के साथ शब्दार्थ एक ही वस्तु के संदर्भ में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते हैं इसलिए हमें द्वितीयक निहितार्थ के लिए तीसरे चरण की ओर बढ़ना होगा।

3) तीसरा चरण लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध के रूप में जाना जाता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, लक्षण तीन प्रकार के होते हैं। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहल्लाजहल्लक्षणा। जहल्लक्षणा में, प्राथमिक अर्थ पूर्णतया त्याग दिया जाता है और इससे सम्बन्धित द्वितीयक अर्थ, वाक्य के अर्थ को समझने के लिए प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, 'कुआं चलायमान है' का कोई अर्थ नहीं निकलता है। 'कुआं' शब्द का अर्थ यहाँ अनुपयुक्त है क्योंकि 'कुआं' चल नहीं सकता है। 'कुआं' का संबंद्ध अर्थ पानी है, जो कि चमड़े के एक थैले में भरा हुआ है। चमड़े के ये थैले बैलों पर लटके हुए हैं और बैल चल रहे हैं। यह अर्थ जहल्लक्षणा विषयक द्वितीयक अनुप्रयोग द्वारा प्रतिपन्न किया गया है। यह पद्धति महावाक्य के मामले में उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है क्योंकि इसमें प्राथमिक अर्थ को पूरी तरह से छोड़ देना होगा। अगर ऐसा है तो, तत् और त्वं का प्राथमिक अर्थ, जो कि चेतना को शामिल करता है, को छोड़ देना होगा और तादात्म्यता तक नहीं पहुँचा जा सकता।

दूसरे प्रकार अजहल्लक्षणा में प्राथमिक अर्थ बना रहता है और संबंद्ध शब्द को वाक्य का अर्थ जानने के लिए शामिल कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए, 'भूरे दौड़ रहे हैं' कोई अर्थ व्यक्त नहीं करता। 'भूरे घोड़े दौड़ रहे हैं'– स्पष्ट है। प्रसंगवश घोड़े शब्द जोड़ देने से यह वाक्य स्पष्ट अर्थ दे रहा है। यहाँ प्राथमिक अर्थ छोड़ा नहीं गया है, बल्कि नया शब्द (तत्त्व) जोड़ दिया गया है। यह पद्धति महावाक्य के मामले में उपयुक्त नहीं है क्योंकि अगर प्राथमिक अर्थ बना रहता है तब परमात्मा और जीवात्मा के असंगत गुणों को भी बनाये रखना होगा। फलतः तादात्म्यता कभी–भी स्थापित नहीं की जा सकेगी।

तृतीय निहितार्थ प्रक्रिया जहल्लाजहल्लक्षणा के रूप में जानी जाती हैं जिसमें प्राथमिक अर्थ का एक भाग बना रहता है और दूसरा भाग छोड़ दिया जाता है। दृष्टान्ततः, एक व्यक्ति अपने मित्र से कई सालों बाद मिलता है और उसे 'यह वही देवदत्त है' के रूप में पहचानता है। 'यह' शब्द देवदत्त को वर्तमान काल और वर्तमान स्थान पर संदर्भित कर रहा है और 'यह या वही' शब्द भूतकाल और भिन्न स्थान से सम्बन्धित देवदत्त को संदर्भित

कर रहा है। देवदत्त की 'एकता' वर्तमान समय तथा वर्तमान स्थान और भूतकाल और भिन्न स्थान को छोड़कर केवल व्यक्ति देवदत्त को लिए हुए है। उसी शैली में, तत् और त्वं के गुण छोड़ (त्याग) दिये गये हैं और उनके पीछे की चेतना बनी हुई है जोकि सारतः एक ही है। इस प्रकार, इस चेतना–सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है, जो की आत्मा की वास्तविक प्रकृति यानि अद्वैत है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. आत्मा की प्रकृति के ज्ञान के लिए द्वितीय निहितार्थ के प्रथम चरण की संक्षिप्त व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

21.6 मध्व

मध्व का जन्म 1238 ई. में उडुपी के निकट पजाका नामक एक छोटे–से गांव में मध्यगेह भट्ट और वेदवती के घर में हुआ था। 11 साल की उम्र में ही वे त्याग के मार्ग पर चल पड़े। उन्होंने आश्रम व्यवस्था में उडुपी के निकट निवासी उस समय के प्रसिद्ध सन्यासी अच्युत–प्रज्ञ से दीक्षा लेने का निर्णय लिया। अच्युत–प्रज्ञ ने सन्यास–दीक्षा के समय वासुदेव (मध्व का बचपन का नाम) का नामकरण पूर्णप्रज्ञ के रूप में किया। कुछ ही महीने में उन्होंने विशेषज्ञ विद्वानों से शास्त्रार्थ जीत लिये। इससे उनका नया नाम आनंदतीर्थ हो गया। बाद में वे मध्वाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने प्रस्थान त्रय पर टीका लिखने का संकल्प लिया। उन्होंने कई रचनाएं कीं जिन्हें उनके शिष्य सत्यतीर्थ द्वारा अभिलेखित किया गया। उनकी कुछ रचनाएं हैं– *प्रमाणलक्षण, तत्त्वविवेक, विष्णु तत्त्व निर्णय* आदि। 79 वर्ष की आयु में उन्होंने अपने शिष्यों से विदा ली और बद्री के लिए चल गये।

21.7 ज्ञानमीमांसा

द्वैत दर्शन का मत है कि विष्णु सर्वोच्च सत्ता है और यही धर्म ग्रंथों की शिक्षा है। विष्णु के प्रति भक्ति के विकास से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। मध्व के लिए समर्पण तभी संभव है जब अन्वेषक विष्णु का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जोकि प्रमाणों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान मीमांसीय संरचना के मार्ग में द्वैत विचारधारा यथार्थवादी (वस्तुवादी) है जिसके अनुसार, वस्तु की सत्ता (अस्तित्व) 'वस्तु के ज्ञान' से भिन्न है।

द्वैत के अनुसार, वस्तु की सत्ता इसकी संज्ञा और असंज्ञा से भिन्न है। वस्तु ज्ञेय होने योग्य गुणों के साथ अस्तित्वमान रहती है। गुणरहित वस्तु की संभावना को द्वैतदर्शन निरस्त करता है। वस्तु के गुण ज्ञान के स्वरूप को निर्धारित करते हैं इसलिए द्वैतवाद व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान की नहीं अपितु वस्तुनिष्ठ ज्ञान की सत्ता स्वीकारता है।

मध्व 'प्रमाण' शब्द के दो अर्थों पर ध्यान देते हैं, प्रथम अर्थ ज्ञान को और दूसरा ज्ञान के साधनों को निर्देशित करता है। इसलिए वे दोनों को दो पदों केवलप्रमाण और अनुप्रमाण के माध्यम से अलग करते हैं। केवलप्रमाण ज्ञान के अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है और जबकि अनुप्रमाण ज्ञान के साधन के लिए।

केवल प्रमाण

केवल प्रमाण की परिभाषा उस ज्ञान के रूप में की गई है जो अपने विषय (उस ज्ञान के विषय) के परे नहीं जाता है और अनुप्रमाण वह है जो यथार्थ (वैध) ज्ञान उपलब्ध करता है। केवल प्रमाण को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। पहला है ईश्वर–ज्ञान। यह केवल ईश्वर, जो कि पूर्ण, वैध (यथार्थ) और अनंत है, के पास होता है। यह ज्ञान ईश्वर के स्वरूप से भिन्न नहीं है और ईश्वर व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों का ज्ञान रखता है। इसे स्वरूप ज्ञान के रूप में जाना जाता है। दूसरे प्रकार का ज्ञान लक्ष्मी–ज्ञान होता है। यह भी अनंत है लेकिन ईश्वर पर निर्भर (सापेक्ष) है, जबकि ईश्वर ज्ञान स्वतंत्र है। मध्व के अनुसार, वास्तव में, सभी प्राणियों के पास भी स्वरूप ज्ञान होता है। किंतु अंतर यह है कि ईश्वर–ज्ञान और लक्ष्मी–ज्ञान अज्ञान द्वारा आच्छादित नहीं होता जबकि प्राणियों के मामले में यह अज्ञान द्वारा आच्छादित होता है। इस प्रकार सभी जीवों का स्वरूप ज्ञान वह निमित्त कारण है जो मन को रूपान्तरित (विरूपित) करता है, जिसे मनोवृत्ति–ज्ञान के रूप में जाना जाता है। मन जीव द्वारा संपर्कित भौतिक कारण है। मन इन्द्रियों से संपर्क करता है, इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुओं से संपर्क करती है और प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय होता है। तीसरा प्रमाण योगी–ज्ञान है। यह वह ज्ञान है जिसे योग शक्ति से ईश्वर पर ध्यान लगाने से प्राप्त किया जा सकता है। इसे ईश्वर पर ध्यान लगाने के फलस्वरूप प्राप्त होने के आधार पर तीन भागों में बांटा गया है। अंतिम प्रमाण है अयोगि–ज्ञान, जोकि समस्त जीवों का ज्ञान है। जीव वे हैं जो योगियों की श्रेणी में नहीं आते हैं। उनका ज्ञान अवैध (अयथार्थ), अपर्याप्त और क्षणभंगुर होता है।

अनुप्रमाण

मध्व तीन प्रमाणों अथवा ज्ञान के साधनों को स्वीकार करते हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यहाँ अद्वैत व अन्य विचारधाराओं द्वारा स्वीकृत ज्ञान के अन्य साधन इन्हीं तीन के अन्तर्गत् मान लिये गये हैं। उदाहरण के लिए मध्व कहते हैं, सादृश्यता (उपमान) के मामले में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों लागू किये जाते हैं और उपमान ज्ञान इन दोनों साधनों द्वारा अर्जित किया जाता है इसलिए सादृश्यता (उपमान) को ज्ञान के भिन्न साधन के रूप में स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थापत्ति प्रमाण भी अनुमान के अन्तर्गत् है और अनुपलब्धि (किसी वस्तु का किसी देश–काल में उपलब्ध न होना) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। इस प्रकार मध्व अपने आप को केवल ज्ञान के तीन साधनों तक ही सीमित रखते हैं।

प्रत्यक्ष

द्वैतवाद में प्रत्यक्ष का ढंग है इन्द्रियों का वस्तु से संपर्क। द्वैतवादियों के लिए वैध प्रत्यक्ष तभी होता है जब इन्द्रियां और विषय दोनों दोषरहित हों। दोषों की उपस्थिति का परिणाम

भ्रम या संदेह का अवैध (अयथार्थ) बोध है। प्रत्यक्ष ज्ञान में द्वैतवाद सात इन्द्रियों के कार्यों को सूचित करता है। इन्द्रियों के ये सात कार्य हैं– पाँच ज्ञानेन्द्रियां, मन और साक्षी। ज्ञानेन्द्रियों एवं साक्षी के रूप में मन की अवधारणा द्वैतवाद की अद्वितीय अवधारणा है। मन जहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के संयोजन का और स्मरण करने की क्रिया (पुनर्स्मरण) के साधन के रूप में कार्य करता है, वहीं साक्षी (साक्ष्य या गवाह) चेतना अथवा सहजज्ञान (अन्तर्प्रज्ञा) प्रत्यक्ष की क्षमता है। कहा गया है कि यह साक्षी जीव में निहित चेतना की समानधर्मा है। चूंकि साक्षी इन्द्रिय का विशुद्ध रूप है, इसलिए यह कभी भी अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न नहीं करता। ज्ञानेन्द्रिया की सहायता से साक्षी बाह्य वस्तुओं का अनुभव करता है। और आत्म, मन, मन के गुण, अज्ञान, काल, दिक् आदि, जिनके लिए इन्द्रियां साधन का काम नहीं करती हैं, उन्हें साक्षी सीधे अनुभव करता है (प्रत्यक्षतः)। द्वैत साक्षी के माध्यम से आत्म के प्रत्यक्ष ज्ञान का समर्थन करता है। द्वैत के लिए, प्रत्येक प्रत्यक्ष सविकल्पक है और यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का खंडन करता है। एक यथार्थवादी के रूप में मध्व स्वप्न और भ्रम ज्ञान को वास्तविक मानते हैं। भ्रम 'अनिश्चित ज्ञान' के रूप में परिभाषित है। जिसमें प्रत्यक्षकर्ता संज्ञान की वस्तु के विशिष्ट गुणों को पहचानने में असफल होता है। इस प्रकार संदेहपूर्ण ज्ञान में वैकल्पिक गुणों, जोकि वस्तु को निर्धारित करते हैं, के साथ एक वस्तु होती है। मध्व स्वप्न लोक के यथार्थ को निश्चित धार्मिक कथनों के आधार पर स्थापित करते हैं। वे स्वप्नलोक को वास्तविक लोक के रूप में मानते हैं क्योंकि यह बाह्य यथार्थ की शर्तों को पूरा करता है।

शब्द / शब्द–प्रामाण्य

मध्व मानते हैं कि दोष रहित कथन वैध शब्द प्रमाण कहलाता है। वे दोषों को सात भागों में वर्गीकृत करते हैं। वे हैं– अबौद्धिकता (अबोधकत्व), निरर्थक शब्दों के प्रयोग का परिणाम (निरभिधेयत्व), वाक्यात्मक रूप से असम्बद्ध शब्दों के प्रयोग का परिणाम (अनवयभाव), त्रुटिपूर्ण ज्ञान के परिणाम में (विपरीत बोधकत्व), ज्ञात को व्यक्त करना (ज्ञात ज्ञापकत्व), व्यर्थ अर्थ का अभिकथन (अप्रयोजनत्व), बिना उचित निहितार्थ के परिणाम देना (अनभिमत प्रयोजनत्व) असंभवता का कथन (अशक्य साधन प्रतिपाद्य), और सहज उपलब्ध प्रणाली की उपेक्षा करके कठिन या असहज (गुरुतर) प्रणाली को प्रयोग में लाना (लघुपाये सति गुरूपायोपदेश)। मध्व कहते हैं कि समग्रता में वाक्यार्थ शब्दार्थ से अभिन्न है। प्रस्थान त्रय के अतिरिक्त, मध्व द्वारा स्वीकृत शब्द प्रमाण चार हैं– *रामायण, महाभारत*, पंचरात्र आगम और वे विभिन्न पुराण जो अंतर्विरोधी न हों। मध्व धर्मग्रंथों के द्वैतवादी कथनों को प्रधान महत्व देते हैं। वह अद्वैतवाची और अंश–समग्र (अंश–अंशी) अवधारणाओं सम्बन्धी कथनों को लक्षणा या व्यञ्जना के रूप में ग्रहण करते हैं। द्वैत विचारधारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य का पठन 'अतत्त्वमसि' के रूप में करती है और स्थापित करती है कि यह महावाक्य स्थापित करता है कि आत्मा ईश्वर पर निर्भर है।

21.8 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

मध्व मानते हैं कि तत्त्वमीमांसा सत् को निर्धारित करती है और जो सत् का विरोधी है, वह असत् है। तत्त्वमीमांसा का कार्य है, अयथार्थ (असत्) को यथार्थ (सत्) से पृथक करना। मध्व ने सत् की शर्त के रूप में यथार्थ ज्ञान, देश और काल का सम्बन्ध और व्यावहारिक दक्षता को स्वीकार किया है। इन शर्तों के पालन का परिणाम बहुलतावादी यथार्थवादी तत्त्वमीमांसा है। द्वैत के लिए तत्त्व वह है जो ज्ञेय, अभिधेय और कथनीय हो।

पदार्थ

द्वैत वेदान्त दस पदार्थों को स्वीकार करता है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, संपूर्ण, शक्ति, सादृश्य और अभाव।

द्रव्य

द्रव्य सकारात्मक श्रेणी है और स्वतंत्र आश्रय है जिस पर आठ सकारात्मक सत्ताएं निर्भर करती हैं। यहां भी, ब्रह्म एकमात्र स्वतंत्र तत्त्व है, जो कि द्रव्यों में से एक है। अन्य सभी तत्त्व (परतंत्रतत्त्व) ब्रह्म पर निर्भर करते हैं। अन्य श्रेणियों का आश्रय होने के कारण द्रव्य अन्य श्रेणियों के सार को अंतर्निहित किये रहता है और निर्मित (संरचित) भी करता है। द्वैतवाद में द्रव्य की बीस श्रेणियां निर्धारित की गई हैं जिनमें ब्रह्म, लक्ष्मी और जीव चेतन हैं और अन्य अचेतन श्रेणियां हैं। अचेतन श्रेणियां हैं– देश, काल, पदार्थ, और इसके आठ उत्पाद हैं– ब्रह्माण्ड, अज्ञान, ध्वनि, अंधकार, मानसिक विकार और प्रतिबिम्ब। यहां हम द्वैतवाद के चेतन द्रव्यों की संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

द्वैतवाद में ब्रह्म, ईश्वर, नारायण इत्यादि के रूप में भी जाना जाता है। ईश्वर को परम यथार्थ माना गया है, जो व्यक्तित्व वाला है और जिसमें अनंत गुण हैं। यही संसार का रचयिता और नियंता है। ईश्वर उपासना का विषय है। द्वैतवादी ईश्वर को निर्गुण नहीं मानते हैं, और सगुण ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। विश्व का भौतिक कारण ब्रह्म से भिन्न है, और वह भिन्न तत्त्व माया है। द्वैत के अनुसार माया वास्तविक है।

लक्ष्मी द्रव्य का दूसरा प्रकार है जो कि ब्रह्म पर निर्भर है, किंतु जो अन्य समस्त द्रव्यों से स्वतंत्र हैं। वह ब्रह्म की पत्नी हैं, इसलिए ब्रह्म से आंतरिक रूप से जुड़ी हुई हैं। जीव चेतन है और सत्, चित् और आनंद उसके मूल गुण हैं। जीव विशेष नामक विशिष्ट तत्त्व से पृथक रहते हैं। ये आदि और अंत से परे नित्य हैं। जीव को अण्ड के आकार का माना गया है। यह ज्ञाता, कर्ता और फलभोक्ता है। द्वैतवादी जीव को कर्त्ता और भोक्ता की शक्ति धारण करने वाले के रूप में परिभाषित करते हैं। यह शरीर युक्त है किंतु यह शरीर भौतिक शरीर से भिन्न है। यह साक्षी द्वारा 'मैं' के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। सत् के अतिरिक्त चित् और आनन्द के स्तर पर जीव ब्रह्म के समान है किन्तु अपने अस्तित्व, कर्म और ज्ञान के लिए पूर्ण रूप से ब्रह्म पर निर्भर करता है। मध्व कहते हैं कि जीव बिना किसी माध्यम (उपाधि) के ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है (निरूपाधि प्रतिबिम्ब)। द्वैतवाद जीवों की बहुलता और उनके अनंत स्वभाव की यथार्थता को स्थापित करता है। उन्होंने स्वभाव के आधार पर जीवों को तीन श्रेणियों में–जिसे स्वरूप त्रैविध्य के रूप में जाना जाता है– विभाजित किया है। जिन जीवों में सत्त्वगुण का प्राधान्य है वे अच्छे कर्मों में लगे रहते हैं ओर मोक्ष के लिए उपयुक्त होते हैं। इन्हें मुक्तियोग के रूप में वर्गीकृत किया गया है, जैसे कि – दिव्य, सन्त और श्रेष्ठ गुणों से संपन्न व्यक्ति। कुछ जीवों में रजस्‌गुण की पूर्वप्रधानता होती है। ऐसे जीवों में अच्छाई और बुराई का मिश्रण होता है। ये मोक्ष के लिए उपयुक्त नहीं है। इन्हें सर्वदा सुख और दुख का सामना करना पड़ता है। ये नित्य संसारी अथवा जन्म–मृत्यु के चक्र में फंसे हुए के रूप में जाने जाते हैं। जीवों का तीसरा वर्ग वह है जिसमें तमस् गुण की प्रधानता होती है। उन्हें तमोयोग्य के रूप में जाना जाता है। इन्हें नरक के कष्टों को भोगने की सजा मिलती है क्योंकि ये बुरे कर्मों में संलग्न रहते हैं। इस प्रकार द्वैतवाद जीवों की बहुलता और सोपानबद्धता को स्वीकार करता है।

जगत्

द्वैतवाद के लिए ब्रह्माण्ड वास्तविक है क्योंकि यह यथार्थता (सत्) की शर्तों को पूरा करता है। भौतिकजगत् प्रत्यक्ष रूप से जाना जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का वैध स्रोत है। ब्रह्म विश्व का निमित्त कारण तथा प्रकृति अथवा माया, जो कि ब्रह्म से पूर्णतः भिन्न है, विश्व का भौतिक कारण है। ब्रह्म भौतिक जगत् का नियंत्रक है। भौतिक जगत् का कोई भी परिवर्तन ब्रह्म के द्वारा ही होता है और इसलिए ब्रह्म को अगोचर (अनुभव निरपेक्ष) और व्याप्त (अंतर्भूत) दोनों माना जाता है। बहुलतारूपी यह संसार भौतिक जगत् में अव्यक्त स्थिति में है और रूपांतरण उसके द्वारा विभिन्न विशिष्टताओं को ग्रहण करने के द्वारा होता है। इस प्रकार प्रकृति सूक्ष्म से स्थूल को विकसित करती है।

21.9 मोक्ष

द्वैत के अनुसार आत्म की प्रकृति का ज्ञान न होना बंधन का कारण है। जीव ईश्वर से अपने सम्बन्ध के बारे में नहीं जानता। इसे स्वभाव–अज्ञान–वाद के रूप में जाना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्म के वास्तविक स्वरूप, जो स्वतन्त्र ब्रह्म पर निभर होना है, का ज्ञान न होने के कारण बंधन होता है। अज्ञानता की दो शक्ति होती है– पहली यह जीव के ईश्वर पर निर्भर होने के स्वभाव को छिपाती है (जीव आच्छादिक) और दूसरी शक्ति यह छिपाती है कि केवल ईश्वर ही स्वतंत्र है (परमात्मा आच्छादिक)। मोक्ष केवल उन्हीं जीवों को मिलता है जो इस अंतर को अनुभव करते हैं और मृत्यु के बाद ईश्वर (नारायण) के निवास पर पहुँचने के लिए ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

द्वैतवाद के अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार अथवा अपरोक्ष दर्शन अकेले मोक्ष का समीपवर्ती कारण है। मध्व के अनुसार दैवीय कृपा परम सत्ता की प्राप्ति में केन्द्रीय भूमिका निभाती है। एक वस्तुवादी के रूप में मध्व मानते हैं कि मोक्ष के बाद नारायण निवास में जीव का मृत्यु से बचे रहना आवश्यक है अन्यथा जीव की वैयक्तिकता के नष्ट होने के बाद मोक्ष का आनंद कौन उठाएगा। द्वैतवाद के लिए मोक्ष आत्माभिव्यक्ति, आत्मप्रकाशन और आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति में जगत् की बहुलता समाप्त नहीं हो जाती है, बल्कि अलगाव और स्वाधीनता की मिथ्या भावना नष्ट हो जाती है। नारायण के निवास में मोक्ष प्राप्त आत्मा ईश्वर की आंख से सब कुछ देखती है। मोक्ष प्राप्त करने वाले विभिन्न जीव एक समान आनंद का अनुभव नहीं करते हैं। मध्व इसमें भी सोपानबद्धता को बनाये रखते हैं।

परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करने के लिए द्वैत दर्शन ने साधनों की एक श्रृंखला बताई है। द्वैतवाद मोक्ष के निम्नलिखित साधनों को महत्वपूर्ण माना है – वैराग्य, भक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, और साक्षात्कार। इसमें से, ध्यान अथवा निदिध्यासन को साक्षात्कार के लिए प्राथमिक साधन माना जाता है और दूसरे साधन सहायक साधन के रूप में काम करते हैं। मध्व वेदांतसूत्र पर टीका करते हुए गुरु–कृपा की प्राप्ति को मूलभूत महत्व देते हैं। मध्व द्वारा विचारे गये मुक्ति के साधन के विशिष्ट गुण इस प्रकार हैं, दार्शनिक खोज अथवा विचार, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का अभ्यास, भक्ति और उपासना की प्रभावशीलता, परम साधन के रूप ईश्वर का साक्षात्कार, और परम सत्ता के साक्षात्कार होने पर सम्बद्ध नैतिक मूल्य का ज्ञान। मध्व भक्ति को केवल भावनाओं और भावुकता और की अभिव्यक्ति नहीं मानते, बल्कि इसे ज्ञान और नैतिक पूर्णता का उच्च स्तर स्वीकारते हैं। वे जीवन की शुद्धता अथवा आचार को भक्ति का कुंजीपरक घटक तत्त्व मानते हैं। तीव्रता और समर्पण के आधार पर मध्व तीन प्रकार के भक्तों की बात करते हैं– उत्तम, मध्यम और अधम। यह सोपानबद्धता मध्व के भक्ति सिद्धान्त का आवश्यक घटक है। वे भक्ति को भी तीन स्तरों

पर विभाजित करते हैं– ईश्वर के मध्यस्थ ज्ञान की पूर्ववर्ती, मध्यस्थ ज्ञान, और साक्षात्कार (अपरोक्ष अनुभूति; बिना किसी माध्यम (इन्द्रिय मन आदि के बिना) का सीधा अनुभव) की परवर्ती जहां ईश्वर कृपा प्राप्त हो चुकी है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. द्वैत द्वारा स्वीकृत पदार्थ कौन से हैं?

....

....

....

....

....

21.10 रामानुज

रामानुज (1017 ई.) असुरी केशव सोमयाजी दीक्षितर और कांतिमती के यहाँ तमिलनाडु के पेरुंबदूर में पैदा हुए थे। रामानुज ने नौ ग्रन्थ लिखे जिनमें *वेदान्त–सूत्र* पर प्रसिद्ध संक्षिप्त भाष्य *वेदान्तसार* और *वेदान्त दीपिका* और *भगवद्गीता* पर भाष्य सम्मिलित हैं। उनकी अन्य रचनाएं विशिष्टाद्वैत की अवधारणाओं को स्पष्ट करने वाले स्वतंत्र प्रबंध हैं। ये रचनाएं हैं– *वेदार्थ संग्रह, नित्य ग्रंथ,* और तीन अन्य गद्य रचनाएं हैं जो समर्पण का मुक्ति के साधन के रूप में यशोगान करती हैं। 1137 ई. में 120 साल की वृद्धावस्था में उन्होंने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया और परम सत्ता में विलीन हो गये।

21.11 ज्ञानमीमांसा

विशिष्टाद्वैत के अनुसार, अंतिम सत्ता एक है। किंतु यह निर्गुण सत्ता नहीं है क्योंकि गुण रहित सत्ता प्रत्यक्ष योग्य नहीं है और तर्क द्वारा सिद्ध नहीं है। विशिष्टाद्वैत तीन मूल वास्तविकताओं को स्वीकार करते हैं,जगत् (अचित्), जीव (चित्) और ईश्वर। अंतिम सत् एक है। जगत् और जीव इसके अंग हैं। आमतौर पर विशिष्टाद्वैत शब्द सर्वेश्वरवाद के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है कि परमेश्वर संबद्ध सत्ताओं से भिन्न और स्वतंत्र है और फिर भी सम्पूर्ण की तरह संबद्ध सत्ताओं को अपने में सम्मिलित रखता है। विशिष्टाद्वैतवादी ज्ञान के तीन साधनों को स्वीकार करते हैं– प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान। यहाँ हम केवल प्रत्यक्ष और शब्द की चर्चा करेंगे। रामानुज का अनुमान न्याय के अनुमान के समान ही है।

प्रत्यक्ष

एक वस्तुवादी विचारधारा के रूप में विशिष्टाद्वैत प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन इन्द्रियों के वस्तु से संपर्क से उत्पन्न हुए ज्ञान के रूप में करते हैं। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में, ज्ञान (अर्थ प्रकाश)

होता है जो कि वस्तु (ज्ञेय; जिसका ज्ञान हो रहा है वह विषय या वस्तु), ज्ञाता, ज्ञान के लक्ष्य और ज्ञान के साधन को प्रकट करता है। जीव का ज्ञान मन से होकर विषय के सम्पर्क में आने वाली इन्द्रियों तक प्रवाहित होता है, और तब प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, जैसे यह ज्ञान कि 'यह बर्तन है'। इस प्रणाली में विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, केवल सगुण वस्तु का ही ज्ञान हो सकता है। निर्गुण वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। विशिष्टाद्वैतवादी यथार्थ से परे किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं।

शब्द / शब्द–प्रमाण

धर्मग्रंथों के कथन अथवा शब्द प्रमाण विशिष्टाद्वैतवादियों द्वारा ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकार किये गये हैं। प्राथमिक शास्त्र प्रस्थानत्रय हैं, किंतु, विशिष्टाद्वैतवादियों ने पुराणों और पांचरात्र आगमों को भी समान स्तर के ज्ञान के प्रामाणिक (प्राधिकृत) और वैध स्रोत के रूप में सम्मिलित किया है। पुराण *सात्विक*, *तामसिक* और *राजसिक* के रूप में वर्गीकृत किये गये हैं। सात्विक पुराण विष्णु की महानता की प्रशंसा करते हैं इसलिए ये ज्ञान के सबसे प्रामाणिक स्रोत के रूप में लिये गये हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों के लिए पांचरात्र आगम ईश्वर द्वारा व्यक्त माने जाने के कारण अद्वितीय स्थान रखते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों द्वारा मान्य, शब्द ज्ञान का सिद्धान्त यह सूचित करता है कि शब्दों के पास अपने अर्थ के साथ–साथ गुणों या भेदों को बताने की शक्ति होती है। विषय या वस्तु को निदर्शित (बताने वाली) करने वाली शब्द–शक्ति गुण बताने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह द्रव्य को भी निर्दिष्ट करती है (शब्द वस्तु के न केवल गुण को बल्कि वस्तु के द्रव्य को भी बताता है या निदर्शित करता है)। इसे 'अपर्यवसनवृत्ति' कहते हैं। चित् और अचित् ब्रह्म के अविच्छिन्न (अपृथक) गुण हैं इसलिए प्रत्येक शब्द ब्रह्म को सब वस्तुओं में व्याप्त (अंतर्भूत) रूप में संकेतित करता है। चूंकि, सभी शब्द प्राथमिक रूप से ब्रह्म का संकेत करते हैं, इस अर्थ में, ब्रह्म 'सर्व शब्द वाच्य' के रूप में जाना जाता है। विशिष्टाद्वैतवादी उपमान को स्मृति के तहत स्वीकार करते हैं। उपमान तीन स्रोतों पर आधारित है– प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण और इसलिए यह ज्ञान के स्वतंत्र साधन के रूप में स्वीकृत नहीं है। अभाव प्रत्यक्ष के अन्तर्गत् और अर्थापत्ति अनुमान में सम्मिलित है। इस प्रकार, विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार, ज्ञान के वैध साधन केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण हैं।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य: क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. रामानुज द्वारा स्वीकृत प्रमाण कितने हैं?

....

....

....

....

....

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

21.12 तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएं

विशिष्टाद्वैतवाद सगुण की अवधारणा पर विकसित हुआ और यह तीन तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं पर अवस्थित है: वस्तु और गुण की अवधारणा, सम्बन्ध की अवधारणा और कारण और कार्य की अवधारणा। विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार कोई निर्गुण वस्तु नहीं हो सकती है।

- पहली अवधारणा 'अपृथकसिद्धि' के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यायित है। गुण द्रव्य से अपृथक है और द्रव्य भी अपने गुणों से अपृथक है।

- द्वितीय अवधारणा सम्बन्ध के बारे में है। सम्बन्ध द्रव्य और गुण तथा द्रव्य और द्रव्य के मध्य होता है। अतः भौतिक शरीर और आत्मा एक–दूसरे से अपृथक सत्ताएं हैं। इसी तरह चित् और अचित् ईश्वर से अपृथक हैं।

- तीसरी अवधारणा कारण और कार्य की है जो इस बात की व्याख्या करती है कि कैसे 'एक' 'अनेक' हो जाता है। कार्य कारण में मौजूद नहीं रहता और न ही यह कारण से भिन्न होता है। दोनों एक एवं समान द्रव्य की भिन्न स्थितियां हैं। यह सत्कार्यवाद का संशोधित सिद्धान्त है।

उक्त तीनों अवधारणाओं के आधार पर विशिष्टाद्वैतवादी तत्त्वमीमांसीय तत्वों की व्याख्या की शुरूआत करते हैं, मोटेतौर पर ये तत्त्वमीमांसीय तत्त्व द्रव्य और अद्रव्य में विभाजित हैं। द्रव्य छह हैं, जड़, और अजड़। अजड़ को आगे स्व–प्रकाशक (प्रत्यक), और पर–प्रकाशक (परक) के रूप में वर्गीकृत किया गया है। जीव और ईश्वर स्व–प्रकाशक द्रव्य हैं और नित्य विभूति और ज्ञान पर–प्रकाशक द्रव्य (परक) हैं। प्रकृति और काल जड़ वस्तुएं हैं। अ–द्रव्य दस हैं, सत्त्व रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, संयोग और शक्ति। ये प्राथमिक तत्त्वमीमांसीय गुण हैं।

द्रव्य

द्रव्य वह है जो रूपान्तरण के आश्रय का कार्य करता है और रूपान्तरण द्रव्य से अपृथक आकस्मिक गुण है। विशिष्टाद्वैत जीव की एक भिन्न अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जो कि ब्रह्म से भिन्न है। यहाँ तक कि मोक्ष प्राप्त होने के बाद भी जीव अपना व्यक्तित्व (जीवत्व) नहीं खोता है। जीवों की संख्या अनंत है और वे अनिवार्यतः ज्ञान–स्वरूप होते हैं। जीव ज्ञाता होता है क्योंकि वह ज्ञान के आश्रय के रूप में काम करता है। ज्ञान संपन्न जीव को आधारभूत ज्ञान (धर्मीज्ञान) कहते हैं, जो स्वयं प्रमाण है, किंतु यह ज्ञान बाह्य वस्तुओं को व्यक्त नहीं करता है। यह ज्ञान उसे जानता है जो उसके सम्मुख व्यक्त होता है। ज्ञान अपने आप में जीव का एक अनिवार्य गुण है, जो कि गुणात्मक ज्ञान (धर्मभूत ज्ञान) के रूप में जाना जाता है। ज्ञान अपने को और बाह्य वस्तुओं को व्यक्त करता है, किंतु उन्हें जानता नहीं है। जीव कर्ता और फल भोक्ता है। यह एक अणु का आयाम है। जीव पंचकोषों से भिन्न है। जीव अनंत है। वेदान्तसूत्र की टीका करते समय रामानुज स्थापित करते हैं कि जीव न तो ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न किंतु, यह ब्रह्म का अंश है। अंश और पूर्ण (अंशी) सिद्धान्त से तात्पर्य है कि जीव संश्लिष्ट समग्रता के अपरिहार्य गुण हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद एक धर्मशास्त्रीय दर्शन है जो परम सत्य को वैयक्तिक ईश्वर, नारायण मानते हैं जिसका व्युत्पत्तिपरक आशय है चित् और अचित् का आधार। ब्रह्म अथवा परम सत्य को विष्णु के रूप में भी जाना जाता है, जिसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है सर्वव्यापी। रामानुज अपने धर्मशास्त्र की वैधता उपनिषदों और पुराणों से प्राप्त करते हैं। अद्वैतवादियों के द्वारा निर्गुण ब्रह्म को विशिष्टाद्वैतवादियों द्वारा तत्त्वमीमांसीय अमूर्तता मानकर अस्वीकार कर दिया गया। विशिष्टाद्वैतवादियों ने ईश्वर के रूप में ब्रह्म को सगुण माना। ईश्वर अनंत गुणों और महिमा के साथ शरीरी है। जीव के समान शरीरी ब्रह्म कर्म से नहीं बंधा हुआ है, किंतु, यह भक्तों के कल्याण के लिए संकल्प–स्वातन्त्र्य से कार्य करता है। शरीरी ब्रह्म ईश्वर के रूपमें भी जाना जाता है। ईश्वर अनंत और सत्त्व गुणों (शुद्ध सत्त्व) वाला है। ब्रह्म की प्रकृति को पांच भेदक लक्षणों द्वारा निर्धारित किया गया है। ये लक्षण हैं– सत्यम्, ज्ञानम्, अनंतम्, आनन्दम्, और अमलम्। ये लक्षण औपनिषदिक कथनों पर आधारित हैं। विशिष्टाद्वैतवादी ईश्वर में छह गुणों– ज्ञान, शक्ति, प्रभुत्व, पुरुषत्व, अविकार (शक्ति) ओर वैभव को मानते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार ईश्वर अपने को पांच रूपों में व्यक्त करता है: आनुभविक रूप से पर (अनुभव–निरपेक्षय पर), दैवीय अभिव्यक्ति के रूप में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध (व्यूह), अनेक अवतार (विभव), भक्तों द्वारा निर्मित पदार्थों (मूर्तियों) में प्रवेश करके (अर्चा) और जीवों के हृदय में निवासी के रूप में (अंतर्यामी)। विविध अविभावों का लक्ष्य है बुराई को पराजित करना और सच्चाई की पुनर्स्थापना।

प्रकृति अथवा आद्य लौकिक द्रव्य एक निष्क्रिय, अंनत और रूपान्तरण वाला द्रव्य है। यह तीन गुणों से युक्त है– सत्त्व, रजस् और तमस्। यह ईश्वर द्वारा नियन्त्रित और अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर है। विशिष्टाद्वैतवादियों की विकासवादी प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति से तेईस तत्त्व विकसित होते हैं। ये तत्त्व इस प्रकार हैं: महत्, अहंकार, सात्विक अहंकार से उत्पन्न मनस, पांच ज्ञानेन्द्रियां और कर्म, महत् अंहकार से पांच सूक्ष्म उत्पन्न पाँच तन्मात्राएं या सूक्ष्म तत्त्व। रजस् अहंकार तमस् और सात्विक की उत्पत्तियों में सहायता करता है। समग्र और स्थूल रूप मे विकास के कुल दो चरण हैं। पहला चरण समष्टि सृष्टि का प्राथमिक विकास तत्त्व माना जाता है और दूसरा चरण भौतिक संसार के विकास का होता है, जहाँ तत्त्व पञ्चीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी अद्वैतवादियों के विवर्तवाद को नहीं मानते और विश्व वस्तुता (सत्ता) का समर्थन करते हैं। प्रत्यक्ष विश्व आभास नहीं है, बल्कि यह ब्रह्म का अभिन्न अंग है। कार्य–कारण सम्बन्धी तीसरी तत्त्वमीमांसीय अवधारणा के आधार पर, ब्रह्म चित् और अचित् के साथ सूक्ष्म रूप (अव्यक्त रूप) में कारण है और व्यक्तरूप में कार्य है। रामानुज अद्वैतवादियों द्वारा समर्थित विभ्रम के सिद्धान्त को माया के विरुद्ध सात असंगतियों के आधार पर निरस्त करते हैं। माया के विरूद्ध इन सात असंगतियों की विस्तृत चर्चा श्रीभाष्य में की गई है। रामानुज के अनुसार, सबसे पहले तो माया की प्रकृति ही अंतर्विरोधी है, दूसरा, माया की अव्याख्येय प्रकृति अतार्किक है, तीसरे, माया के इस सिद्धान्त के समर्थन में ज्ञान का कोई साधन नहीं है, चौथा, माया की अवस्थिति का जीव अथवा ब्रह्म के द्वारा भी पता नहीं लगाया जा सकता है, पांचवा, माया का अस्पष्ट स्वभाव अबोधगम्य है, छठवां, वैध (यथार्थ) ज्ञान के द्वारा माया के उन्मूलन की प्रक्रिया अज्ञेय है, और अंत में, माया के विनाश (लय) की अवधारणा ही अतार्किक है।

नित्य विभूति अथवा शुद्ध सत्त्व लौकिक द्रव्य प्रकृति की तुलना में परा विषय है। भौतिक द्रव्य, जिनके तीन गुण होते हैं, के विपरीत यह शुद्ध तत्त्व आध्यात्मिक वस्तु है। यह अभौतिक और निर्जीव है। यह परक् के तहत वर्गीकृत है इसलिए यह समस्त वस्तुओं को प्रकाशित तो करता है लेकिन जानता कुछ नहीं। विशिष्टाद्वैतवादी इसलिये शुद्ध सत्व की

श्रेणी को स्वीकार करते हैं, क्योंकि आगम उन मूर्तियों को प्रतिष्ठित करते हैं और इस प्रकार पूजा स्थल को आध्यात्मिक रूप से पवित्र बनाते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर का सगुण रूप लौकिक वस्तुओं, जोकि उत्पत्ति और मृत्यु का विषय है, से नहीं बनाया जा सकता, बल्कि यह शुद्ध सत्त्व से बना होता है। जो भी हो, ईश्वर प्रकृति और शुद्धसत्त्व दोनों का नियामक और आधार है।

काल अथवा समय का सिद्धान्त भी निष्क्रिय द्रव्यों में से एक है। काल अनंत है। यह स्वतंत्र और यथार्थ द्रव्य है, किन्तु प्रकृति का हिस्सा नहीं है। यह आदि या अंत के बिना प्रकृति के साथ–साथ अस्तित्व में रहता है। यह ब्रह्म की अधीनता में रहता है और सेंकड, मिनट, घंटों, दिनों इत्यादि के रूप में रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजरता है।

अद्रव्य

सत्व, तमस्, और रजस् प्रकृति के तीन प्राथमिक गुण हैं। सत्त्व प्रकाशयुक्त होता है और आनंद प्रदान करता है। *रजस्* कर्मों का प्रतिनिधित्व करता है और विषाद का जनक है। *तमस्* का अर्थ है जड़ता जो अज्ञानता पैदा करती है। पांच तत्वों – ध्वनि, स्पर्श, दृष्टि, रस और गंध – के गुण अपने तत्सम्बन्धी इन्द्रिय के द्वारा पहचाने जाते हैं। संयोग सम्बन्ध अद्रव्य है जो दो वस्तुओं को एक साथ लाता है। पुरुष और प्रकृति के बीच यह संयोग ही है जिससे ब्रह्मांड की रचना होती है। शरीर और आत्मा संयोग के कारण ही एक साथ होती हैं। इस सम्बन्ध के कारण ही ब्रह्म घास के तिनके से भिन्न होता है। बुद्धि और बाह्य पदार्थ के बीच संयोग से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सम्बन्ध ईश्वर और काल के जैसे दो सर्वव्यापी द्रव्यों के मध्य सम्बन्ध के रूप में सम्भव होता है।

21.13 मोक्ष

जीव ईश्वर से दूर हो गये हैं और नारायण से नारायण के शरीर के रूप में अपने सम्बन्ध के प्रति अज्ञानी बन गये हैं। शरीर–शरीरी अथवा अंश–अंशी के सम्बन्ध का विस्मरण ही दुख और बंधन की ओर ले जाता है। इस प्रकार मोक्ष आत्म का ज्ञान प्राप्त करना और बैकुण्ठ में ईश्वर का चरणामृत प्राप्त करना है।

विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं कि जीव नित्य व्यक्ति है। मोक्ष की अवस्था में अनंत ज्ञान ओर आनंद के साथ अपनी मूल अवस्था में बना रहता है। इस प्रकार प्रत्येक जीव को नारायण तक पहुंचने के अपने लक्ष्य का अहसास होना चाहिए और मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। विशिष्टाद्वैतवादियों के लिए मोक्ष ईश्वर का निवास प्राप्त करना है। यह केवल बंधनों से मुक्ति नहीं है बल्कि यह व्यक्तित्व को खोये बिना अस्तित्व की उच्चतर लोक में सकारात्मक स्थिति है। मोक्ष–प्राप्त आत्मा (मुक्त आत्मा) सर्वज्ञता प्राप्त करती है और ईश्वर के समान नित्य आनंद का अनुभव करती है। मोक्ष प्राप्ति के बाद जीव के कर्म समाप्त हो जाते हैं और इसलिए इसमें ज्ञान अपनी पूर्णता के साथ व्यक्त होता है। रामानुज अद्वैत द्वारा स्वीकृत जीवनमुक्ति की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि ईश्वर का निवास केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब व्यक्ति के सभी कर्म समाप्त हो जाएं और शरीर का पतन हो जाए। आकार में अणु रूप होता है (न कि ईश्वर के समान विभु) और रचना, पालन और संहार की शक्ति के सिवाय मोक्ष प्राप्त जीव ईश्वर की सभी पूर्णताओं को प्राप्त करता है।

विशिष्टाद्वैतवाद में जीवों को तीन अवस्थाओं में बांटा गया है– बद्ध, मुक्त और नित्य। बद्ध जो जागतिक बंधनों में बंधा है। ये जीव जो सांसारिक आनंद से विरक्ति विकसित कर लेते हैं, उन्हें मुमुक्ष कहा जाता है। जीव अगर पंच तत्वों की प्रकृति को जानता है तो वह ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। पंच तत्त्व (अर्थपंचकम्) आत्मा की प्रकृति ईश्वर से गौण है। ईश्वर प्रकृति ही एकमात्र और परम सत्य है। साध्य (लक्ष्य) की प्रकृति है, ईश्वर की प्राप्ति और उनकी सेवा। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने लिए पूर्ण आत्म समर्पण ही साधन की प्रकृति है, और बाधा की प्रकृति है, अर्थपंचकम् की अज्ञानता।

विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर की भक्ति अथवा परम सत्ता के प्रति प्रेमसहित अविरत साधना ही मोक्ष का साधन या उपाय है। भक्ति–धर्म ग्रंथों में निर्धारित वर्ग और जीवन की अवस्थाओं के वर्गीकरण के अनुरूप धार्मिक कर्तव्यों के पूर्ण पालन से उत्पन्न होती है। विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार भक्ति से पहले कर्म और ज्ञान आता है इसलिए कर्म और ज्ञान भक्ति के सहायक हैं और भक्ति मोक्ष का एकमात्र साधन है। चूंकि विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार भक्ति मोक्ष का एकमात्र साधन है इसलिए यह ईश्वर के प्रति सर्वोत्तम भक्ति अथवा पराभक्ति के विकास की प्रक्रिया को निर्धारित करती है। धर्मग्रंथों के अध्ययन और भक्तों के निकट संसर्ग के कारण किसी व्यक्ति में सबसे पहले ईश्वर के प्रति प्रेम का विकास होता है। इसे सामान्य भक्ति के रूप में जाना जाता है। तत्पश्चात् परिणाम को ईश्वर का प्रसाद स्वीकारते हुए व्यक्ति को कठोरतापूर्वक कर्मयोग का पालन करना चाहिए। ईश्वर की कृपा की प्राप्ति से व्यक्ति वैयक्तिक आत्म की वास्तविक प्रकृति को प्रतिबिम्बित करता है। इसे आत्मानुसंधान के रूप में जाना जाता है। अगला चरण है ईश्वर के सेवक के रूप में स्वयं को जानना, इसे स्वयं का ईश्वर के अंशरूप में जानना अथवा शेषत्व ज्ञान के रूप में जाना जाता है। अगले चरण तक क्रमिक प्रगति, ईश्वर के साथ एकता की अनुभूति है। पराभक्ति वह होती है जिसमें व्यक्ति ईश्वर के दर्शन की उत्कृष्ट अभिलाषा और दृढ़ निश्चय का विकास करता है। प्रपत्ति या ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की अवधारणा भी मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन मानी जाती है। विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार, वास्तव में, भक्ति और प्रपत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं इसलिए ये ईश्वर के चरण प्राप्ति के प्रत्यक्ष साधन का कार्य करती है। फिर भी, दोनों साधन भिन्न और अलग हैं जिनकी आध्यात्मिक विकास में अपनी–अपनी भूमिका है। भक्ति को साधन भक्ति और प्रपत्ति को साध्य भक्ति में माना जाता है इसलिए पहला साधन है और दूसरी साध्य। वास्तव में, बाद के चरण में विशिष्टाद्वैतवाद ने प्रपत्ति पर बल दिया क्योंकि भक्ति मार्ग उच्च स्तरीय गुणवत्ता की मांग करता है, जो बहुत से अन्वेषकों को मोक्ष के मार्ग से दूर कर सकता है। रामानुज ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य का निर्वचन इस तरह किया है। महावाक्य में 'तत्' शब्द सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्ड को अपने शरीर के रूप में धारण करने वाले ईश्वर को संदर्भित करता है और 'त्वं' शब्द वैयक्तिक प्राणियों (जीव) को अपने शरीर के रूप में धारण करने वाले ईश्वर को संदर्भित करता है। इस प्रकार, अचित् और चित् ईश्वर के गुण (लक्षण) हैं और इन दो शब्दों (तत् एवं त्वं) से व्यक्त हुए हैं। अंत में, क्रिया शब्द (धातु) 'असि' दोनों (ईश्वर और जीव) की तादात्म्यता को व्यक्त करता है।

21.14 सारांश

इस इकाई में हमने शंकर, रामानुज और मध्व के दर्शन की सामान्य समझ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमने ज्ञानमीमांसा के उद्देश्य की चर्चा की और तत्त्वमीमांसीय कोटियों

को परिभाषित एवं परीक्षित किया। मोक्ष उपाय के रूप में ज्ञान की महत्ता का स्वीकरण अद्वैत वेदान्त को अन्य वेदान्त सम्प्रदायों से अलग करता है। रामानुज का लक्ष्य परम के साथ व्यक्तिगत ईश्वरवाद की एकता का प्रयास है। रामानुज के दर्शन को 'विशिष्ट अद्वैत' के रूप में जाना जाता है। मध्व का एकमात्र लक्ष्य ईश्वर की स्वतन्त्र प्रकृति एवं परतन्त्र जीवों की सत्ता की स्थापना है। मध्व के अनुसार, यह परम सत्ता, जोकि नारायण है, के साथ सम्बन्ध को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त करता है।

21.15 कुंजी शब्द

अनादि	:	यह तत्त्व जिसके आरम्भ का निर्धारण काल और देष के माध्यम से नहीं किया जा सकता।
अर्थप्रकाश	:	विषय की अभिव्यक्ति
ब्रह्मलोक	:	ब्रह्म द्वारा शासित सातवां स्वर्ग जहां ब्रह्म ज्ञान प्रदान करते हैं, जिसका परिणाम क्रमिक मुक्ति होता है।
धर्मभूत ज्ञान	:	ज्ञान आत्म का सार गुण (स्वरुपलक्षण)।
शरीर—शरीरी सम्बन्ध	:	शरीर का आत्म से और चित् और अचित् निर्मित ब्रह्माण्ड का ईश्वर से जैविक सम्बन्ध।

21.16 अन्य सहायक अध्ययन—सामग्री एवं सन्दर्भ

अनन्त, रंगाचार्य एन.एस. *विशिष्टाद्वैतिक ऐपिस्टेमोलॉजी एण्ड डॉक्ट्रिन ऑफ मैटर.* बेंगलोर, 2006.

उपाध्याय, के एन. "शंकर ऑन रीजन, स्क्रिप्चरल ऑथोरिटी एण्ड सेल्फ—नॉलेज." *जर्नल ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी,* 19(1991): 121—132.

चक्रवर्ती, निरोद बरन. *ए डिक्शनरी ऑफ वेदान्त.* केलकट्टा: द रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट ऑफ कल्चर, 2003.

धर्मराज, अध्वरीन्द्र. *वेदान्तपरिभाषा,* ट्रान्स्लेटिड बाइ एस एस सूर्यनारायण शास्त्री. मद्रास: द अडयार लायब्रेरी एन्ड रिसर्च सेन्टर, 1984.

नारायण, के. *एन आउट लाईन ऑफ मध्व फिलॉसोफी.* इलाहाबाद: उदयन, 1962.

नागराज राव, पी. द *एपिस्टिमोलॉजी ऑफ द्वैत वेदांत,* वोल्यूम, 107. मद्रास: द अडयार लाइब्रेरी एंड रिसर्च सेंटर, 1976.

पॉटर, कार्ल एच. *इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डियन फिलॉसोफीज,* वो. 3. देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 2000.

ब्रह्मसूत्र चतुस्सूत्री: *द फर्स्ट फॉर अफॉरिज्म ऑफ ब्रह्मसूत्र अलांग विद् शंकराचार्य'स कमेन्ट्री,* ट्रान्स्लेटिड विद नोट्सम बाइ हर दत्त शर्मा. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2005.

बाला सुब्रमण्यन, आर. *अद्वैत वैद्दान्त.* मद्रासः यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, 1976.

मिश्र, गणेश्वर. *लैंग्वेज, रियल्टी एण्ड एनालिसिसः एस्सेज ऑन इण्डियन फिलॉसोफी.* एडिटिड बाइ जे एन मोहन्ती. ब्रिल एकेडेमी पब्लिशर्स, 1997.

राधाकृष्णन्, एस. *इन्डियन फिलॉसोफी,* वोल्यूम 2. न्यू देल्हीः ऑक्सफोर्ड यूनिविर्सिटी प्रेस, 1999.

रामचंद्रन, टी पी. *द्वैत वेदांत.* न्यू देल्हीः अर्नोल्ड–हेनमान, 1976.

शर्मा, बी के एन. *फिलॉसोफी ऑफ श्री मध्वाचार्य.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 2002.

शर्मा, सी.डी. *अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 2003.

सत्प्रकाशानन्द. *द मेथड ऑफ नॉलेज एकॉर्डिंग टु अद्वैत वेदान्त.* कलकत्ताः अद्वैत आश्रम, 2005.

स्वामी कृष्णानन्द. *एन एनालिसिस ऑफ ब्रह्म सूत्र.* ऋषिकेशः अ डिवाइन लाइफ सोसायटी, 2000.

श्रीनिवास चारी, एस. एम. *फण्डामेन्टल्स ऑफ विशिष्टाद्वैत वेदान्तः ए स्टडी बेस्ड ऑन वेदान्त देसिकास तत्त्वमुक्तकल्प.* देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 2004.

हिरियण्णा, एम. *द एसेन्शियल्स ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी.* देल्हीः मोतीलाल बनारसी दास, 1995.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

माधवाचार्य. *सर्वदर्शनसंग्रह.* अनुवाद– उमाशंकर शर्मा. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2016.

दासगुप्त, सुरेन्द्र नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

धर्मराजाध्वरीन्द्र. *वेदान्तपरिभाषा.* हिन्दी व्याख्याकार– गजानन शास्त्री मुसलगांवकर. वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, 2010.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण.* दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, 2005.

हिरियण्णा, एम. *भारतीय दर्शन की रूपरेखा.* हिन्दी अनुवाद– गोवर्धन भट्ट आदि दिल्लीः राजकमल प्रकाशन, 1969.

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

21.17 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. समानाधिकरण्य के द्वितीयक निर्वचन की प्रथम अवस्था है; 'तत्' एवं 'त्वं' और इसलिए दोनों शब्द समान आश्रय को संदर्भित करते हैं। लेकिन शब्दार्थ एक–दूसरे के विपरीत हैं।

बोध प्रश्न 2

1. द्वैत दस पदार्थों की पहचान करता है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव।

बोध प्रश्न 3

1. विशिष्टाद्वैत तीन प्रमाण स्वीकारता है; प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 22 शैव दर्शन और वैष्णव दर्शन[22]

रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 परिचय

22.2 शैवमत का उद्भव और विकास

22.3 वैष्णवमत का उद्भव और विकास

22.4 शैवमत के दार्शनिक सम्प्रदाय

22.5 वैष्णवमत के दार्शनिक सम्प्रदाय

22.6 सारांश

22.7 कुंजी शब्द

22.8 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री और संदर्भ

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

22.0 उद्देश्य

इस इकाई में छात्र/छात्राओं का परिचय मध्यकालीन धार्मिक दर्शनों– शैवमत और वैष्णवमत से कराया जायेगा। ये दर्शन अपने चरित्र में शास्त्रीय दार्शनिक विचारधाराओं, जिन्होंने शुद्ध, अमूर्त, और अनुमानात्मक दार्शनिक विचार–विमर्शों पर ध्यान केन्द्रित किया था, से हल्के–से–भिन्न हैं। शैव और वैष्णव परम्पराएं व्यावहारिक जीवन और दार्शनिक चिंतन के मेल पर विशेष बल देती हैं। भक्ति आन्दोलन के अंग के रूप में इनका विकास लोकप्रिय दर्शनों के रूप में हुआ। छात्र/छात्राएं इन दार्शनिक परम्पराओं का अध्ययन करेंगे। इन परम्पराओं ने भारतीय जन–मानस में सदियों तक प्रभावशाली उपस्थिति बनाये रखी।

22.1 परिचय

शैवमत ओर वैष्णवमत अनुयायियों की विशाल संख्या के साथ हिंदू आस्था के लोकप्रिय रूप हैं। इन दार्शनिक परम्पराओं में क्रमशः भगवान शिव और भगवान विष्णु की परम सत्ता के रूप में पूजा होती है। तथापि, लोकप्रिय हिंदूवाद में शिव त्रिदेव में से एक हैं, जिनका कार्य है संहार करना, जबकि ब्रह्मा और विष्णु को क्रमशः रचयिता और पालनकर्ता माना गया है। शैवमत और वैष्णवमत दोनों में विविध धार्मिक विश्वास और व्यवहार हैं। उनके विभिन्न सम्प्रदाय पूरे भारत में पाये जाते हैं। ये भारत की प्राचीन आस्थाएं हैं। इन देवताओं के कुछ प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष उल्लेख वेदों में भी हुए हैं। तथापि शिव और विष्णु सम्बन्धी वैदिक समझ इतनी विकसित नहीं थी कि वे इन्हें परमेश्वर के रूप में मानते। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के परिणाम स्वरूप ये धार्मिक परम्पराएं धार्मिक वृत्त और दार्शनिक वृत्त दोनों में

[22] डॉ. जॉन पीटर, इग्नू, नई दिल्ली, अनुवाद– डॉ. आनन्द पाण्डे, जे एन यू दिल्ली

विकसित होती हैं। आइए हम शैवमत और वैष्णवमत दोनों के धार्मिक और दार्शनिक पक्षों का विवेचन करें।

22.2 शैवमत का उद्भव और विकास

शैवमत भारत और सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व का प्राचीनतम और प्रागैतिहासिक धर्म है। शैवमत केवल इसलिए सराहनीय नहीं है कि वह सबसे प्राचीनतम धर्म है बल्कि इसलिए भी कि आज भी इसका बहुसंख्यक जनता द्वारा पालन किया जाता है। यह धर्म शिव को परम सत्ता के रूप में मानता है। इतिहासकार इसके उद्भव के सूत्र पूर्व वैदिक काल तक पाते हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के संदर्भ में सर जॉन मार्शल कहते हैं, "इस पृथ्वी अथवा देवी मां के आस–पास मोहनजोदड़ो में एक देवता प्रतीत होता है जिसे ऐतिहासिक शिव के मूल रूप में पहचाना जा सकता है।" वे आगे कहते हैं कि शैवमत का इतिहास कैलोलिथिक काल तक जाता है। यह दुनिया की सबसे प्राचीन जीवित आस्था है। इस बात पर विद्वानों में मतभेद है कि शैवमत वैदिक है अथवा अवैदिक। सर जॉन मार्शल, जी यू पोप, जी स्लाटर, मराईमलाई आदिगल जैसे विद्वान इसके उलट यह मानते हैं कि शैवमत आर्यों और वेदों से पहले का है। वे इसकी उत्पत्ति वैदिक परम्परा से विपरीत द्राविड़ परंपरा से मानते हैं। के. ए. नीलकंठ शास्त्री जैसे विद्वान इससे उलट विचार रखते हैं। वे शैवमत की उत्पत्ति वैदिक परंपरा से मानते हैं।

वैदिक काल के गौण देवताओं में से एक रूद्र को शिव से सम्बद्ध माना गया है। ऋग्वेद में रूद्र की जो विशेषताएं वर्णित की गई हैं उसके अनुसार वे एक वायुमण्डलीय देवता हैं – काफी प्रचंड, संहारक और शारीरिक रूप से आकर्षक। वे पशुबलियों के देवता हैं और तूफान, बिजली और जंगल की आग जैसी प्रकृति की विध्वंसक शक्तियों के साथ संबंद्ध हैं। शिव का उद्भव यजुर्वेद में मिलता है जिसमें उनके सौ नाम हैं। इन नामों में से पशुपति, नीलग्रीव, शितिकंठ जैसे नाम ध्यान देने योग्य हैं। यहां शिव के सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ पक्षों का भी वर्णन किया गया है। इससे आगे *श्वेताश्वतर* उपनिषद् में शिव को हर, महादेव, ईश, महेश्वर, और भगवत् जैसे नामों से पुकारा गया है। उन्हें 'पर्वतवासी' 'पर्वतपति' सहस्त्र नेत्रवाला और 'जो अकेले स्थिर खड़ा रहता है', जैसे रूपों में वर्णित किया गया है।' *महाभारत* महाकाव्य शिव के एक हजार आठ नामों की चर्चा करता है। यह हिमालय पर्वत के राजा हिमवान की पुत्री उमा से उनके विवाह का भी मिथकीय विवरण देता है। *रामायण* में शिव गंगा की उत्पत्ति से सम्बन्धित हैं। स्वर्गिक गंगा को भगीरथ ने स्वर्ग से धरती पर उतारा लेकिन उससे पहले शंकर ने गंगा को अपनी जटाओं में उसकी उग्रता और वेग को रोकने के लिए धरती पर आने से पहले ही रोक लिया। बाद के पौराणिक साहित्य –जैसे शिव, लिंग, पद्म पुराण में शिव का वर्णन अर्द्धनारीश्वर के रूप में किया गया है। शिव का सत्य के शिक्षक, शांति में ध्यानरत योगी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। दक्षिण की ओर मुख करके ध्यान करने के कारण उन्हें दक्षिणमूर्ति के रूप में जाना जाता है। ऐसा दावा किया गया है कि उनके ऐसे रूप की उत्पत्ति सिन्धु घाटी सभ्यता से पूर्व प्रागैतिहासिक काल में हुई। शिव को महायोगी, महातपस्वी, यति, तपोनित्या, योगीश्वर के नामों से भी जाना जाता है।

महाकाव्यों और पुराणों में बहुसंख्या में ऐसे उपाख्यान हैं जो असुरों जैसी बुरी शक्तियों के उन्मूलन के प्रसंग पर आधारित हैं। इस प्रकार शिव को संहार अथवा उन्मूलन के देवता के रूप में समझा गया है और इसीलिए उन्हें संहारमूर्ति के रूप में जाना गया है। पौराणिक

साहित्य में शिव के कुछ अन्य उपनामों के प्रसंग हैं। *महाभारत* में उनका वर्णन पशु–चर्म (बाघ या हिरन का) पहने, जटाओं वाले और माथे पर भस्म लगाए हुए, सांप गले में धारण किए हुए, त्रिशूल लिए हुए, बैल की सवारी करने वाले, बुद्धिमत्ता की प्रतीक मस्तक पर तीसरी आंख वाले भगवान के रूप में किया गया है। उनके हाथों में अग्नि, कुल्हाड़ी और डमरू होता है। श्मशान उनका निवास स्थल है और उनका पूरा शरीर भस्म से पुता होता है। दूसरे शक्तिशाली रूप में शिव नटराज हैं। तमिल साहित्य में शिव का गहरा और व्यापक वर्णन है। तमिल देश में उनके कौशल और लोकप्रियता का साक्ष्य प्राचीन संगम साहित्य से लेकर वर्तमान तक का साहित्य प्रस्तुत करता है। शिव ने चौंसठ कलाओं का प्रदर्शन किया है जिनका विस्तृत वर्णन तमिल भक्ति साहित्य में किया गया है। विविध उपनाम, रूप, कर्म, संपत्ति, शस्त्र, आभूषण, वृत्तांत, रूपक उनके व्यक्तित्व और गुणों का वर्णन करते हैं। जिन्हें भक्ति साहित्य में अच्छी तरह से देखा जा सकता है।

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है, शिव सिन्धु घाटी सभ्यता के युग में भी जाने जाते थे। महत्वपूर्ण मिश्रण तब हुआ जब 'वैदिक रूद्र' देशी शिव के साथ जुड़ गये। श्वेताश्वतर उपनिषद् के समय में शिव वैदिक परंपरा में विलीन हो गये और महादेव के रूप में एक उत्कृष्ट पदवी से विभूषित किये गये। विदेशियों में सबसे पहले मेगस्थनीज ने शिव का वर्णन किया है। गुप्त काल में शिव की पूजा ने अच्छा–खासा महत्व प्राप्त कर लिया था। किंतु, शैवमत का भक्ति आन्दोलन केवल दक्षिण भारत में फला–फूला। वहीं इसने महान श्रेष्ठता अर्जित की।

22.3 वैष्णवमत का उद्भव और विकास

वैष्णव भक्ति परंपरा के उद्भव के कई स्रोत हैं। कुछ विद्वान इसे स्वयं वैदिक परंपरा से आरम्भ मानते हैं। भगवान विष्णु की विविध अवधारणाएं विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में ईश्वर की विभिन्न अवधारणाओं में पाई जाती हैं। ये अवधारणाएं हैं– विष्णु की अवधारणा (तीन मुखों वाले भगवान), जैसा की वेदों में वर्णित है, नारायण की अवधारणा (लौकिक और दार्शनिक भगवान), वासुदेव की अवधारणा (ऐतिहासिक भगवान), और कृष्ण की अवधारणा (गोपाल भगवान)। कुछ लोग मानते हैं कि वेदों में वर्णित विष्णु से वैष्णवमत का उद्भव हुआ है। दूसरों का मानना है कि भागवतम् के उद्भव के बाद यह उत्पन्न हुआ। दक्षिण भारतीय वैष्णवमत के मामले में कुछ की मान्यता है कि दक्षिण में कृष्णमत का आरंभ मदुरै के यादवों के साथ होता है जो वरसनी जन का एक सम्प्रदाय है और जिन्होंने पाण्ड्य देश पर अपना साम्राज्य कायम कर लिया था। एक अन्य विचार के अनुसार विष्णु मत का आरम्भ प्राचीन तमिल काल में 'मल्लई' क्षेत्र से हुआ होगा, जिसका देवता पेरूमान माना जाता है।

वैष्णवमत 'भगवत्' के नाम से भी जाना जाता है जिसका अर्थ है, भगवत् सम्प्रदाय। यह अपनी आस्था की प्रेरणा भागवत् पुराण, *गीता* और *महाभारत* के 'नारायणीय भाग' से प्राप्त करता है। पांचरात्र और वैकानस आगम वैष्णवमत के धार्मिक साहित्य हैं। पांचरात्र कर्मकांडीय उपासना का साहित्य हैं, जिनमें ईश्वर के ज्ञान, मानसिक संकेन्द्रण, योग, मंदिरों के निर्माण और मूर्ति स्थापना, क्रिया, और प्रतिदिन के धार्मिक कर्मकांड के पालन, और व्यवहारों, कार्यों के निर्धारण का विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है।

विष्णु वैकुण्ठ में निवास करते हैं। वे राजगद्दी पर अपनी पत्नी लक्ष्मी या श्री के साथ बैठते हैं। लक्ष्मी धन–सम्पदा और सांसारिक आनन्द की संरक्षिका हैं। विष्णु के पांच रूप हैं–

परा, व्युह, विभव, अंतर्यामी ओर अर्च। परा के रूप में भगवान् छह गुणों से संपन्न हैं– ज्ञान, प्रभुता, सामर्थ्य, शक्ति, सर्वज्ञता और अर्चा। भगवान के चार व्युह हैं– वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। सृष्टि निर्माण तथा जीवों के उद्धार में प्रत्येक व्युह के अलग–अलग कर्म निर्धारित किये गये हैं। अपने सांसारिक सरोकारों के लिए वे समय–समय पर अवतार लेते हैं। वैष्णववादी परंपरा के अनुसार अब तक केवल 9 ऐसे अवतार हुए हैं, और एक और होना शेष है। जब–जब संसार अव्यवस्था के संकट में होता है और दुष्टता (अधर्म) द्वारा नष्ट हो रहा होता है तब–तब भगवान अवतार धारण करते हैं। मत्स्य, कच्छप, सुअर (शूकर) इत्यादि अवतार अत्यन्त लोकप्रिय हैं, फिर भी आज इनका धार्मिक महत्व बहुत कम है। इन रूपों में ईश्वर संसार को जल प्लावन से बचाने के लिए पशु के रूप में प्रकट हुए। नरसिंह (मनुष्य–सिंह), और वामन (बौना) के अवतारों में उन्होंने पिशाचों द्वारा विश्व को नष्ट होने से बचाने का काम किया।

मानवीय नायक के रूप में परशुराम उनके अवतार हैं। जिन्होंने आक्रामक और दंभी क्षत्रियों को नष्ट करने के लिए और ब्राह्मणों की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए अवतार लिया। राम और कृष्ण के अवतार और अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि विष्णु की पूजा मुख्य रूप से उत्तर भारत में इन्ही रूपों में होती है। *रामायण* और *महाभारत* जैसे काव्य इन्ही दो अवतारों की महिमा का बखान करते हैं। बुद्ध के रूप में नवें अवतार को मध्यकाल में जोड़ा गया, जो कि आश्चर्यजनक है। कहा गया है कि इस अवतार का उद्देश्य था– पशु बलि को समाप्त करना, किंतु बाद में वेद विरोधी लोगों के उन्मूलन को इसका लक्ष्य माना गया। अन्तिम अवतार कल्कि होगा। ऐसा माना जाता है कि इस अंधकार युग की समाप्ति पर असुरों के विनाश के लिए और स्वर्ण युग (कृत युग या सतयुग) की पुनर्स्थापना के लिए विष्णु एक बार पुनः अवतरित होंगे।

मूर्ति ईश्वर का सबसे सजीव और ठोस रूप है। वैष्णवमत मूर्ति को भगवान के वास्तविक रूप में मानता है। ऐसे माना जाता है कि भगवान मूर्ति में अवतरित होते हैं और उसमें प्राण–प्रतिष्ठा करते हैं ताकि वे भक्तों के लिए सहज–सुलभ रह सकें। मूर्ति की सेवा को भक्त के प्राथमिक कर्तव्य के रूप में महत्व दिया गया है।

बोध प्रश्न 1

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. शैवमत की उत्पत्ति का संक्षेप में वर्णन करें।

....

....

....

....

....

2. विष्णु के विभिन्न रूपों की चर्चा करें।

....

....

....

....

....

22.4 शैवमत के दार्शनिक सम्प्रदाय

ईश्वर की केन्द्रीय अवधारणाः कल्याणकारी के अतिरिक्त शिव के स्वभाव का श्याम और भयानक पक्ष भी है। वैदिक रूद्र की अवधारणा में शिव का वर्णन प्रायः प्रचंड रूपों में किया गया है, जैसे डरावने स्थानों (जैसे श्मशान) में घात लगा के बैठना, सांप की माला धारण करना और रूद्र तांडव, जिससे वे कल्प के अंत में संसार का नाश करते हैं। फिर भी शिव का वर्णन महान तपस्वी, हिमालय की चोटियों पर निरंतर ध्यान मग्न ध्यानी, जटावाले, चंद्रमा युक्त मस्तक वाले जिससे पवित्र गंगा बहती है, के रूप में किया गया है। स्पष्ट रूप से कृषि और चरागाहों के उत्पादक ईश्वर शिव में विलीन हो गये हैं। उन्हें प्रायः पशुओं का स्वामी (पशुपति) तथा पशुओं और मनुष्यों की प्रजनन क्षमता का रक्षक माना जाता है। सामान्य तौर पर उनके लिंग की पूजा की जाती है। कुछ शैव मतों ने उनमें कुछ अप्रशंसनीय गुणों जैसे पशुबलि, मानसिक संताप आदि का भी आरोपण किया है। अधिकांश शैव सम्प्रदाय शिव को प्रेम और अनुग्रह का ईश्वर मानते हैं। तमिल शैववादी साहित्य उनका वर्णन श्रेष्ठ सशक्त नैतिक बल के साथ करते हैं। इस शैवमत में व्यावहारिक स्तर पर शिव की सभी कठोरताएं विलुप्त हो गई हैं। वे सभी जीवितों के करूणामय पिता के रूप में माने जाते हैं जो प्रेम और न्याय देते हैं और बुराइयों से बचाते हैं। शैवमत की बहुत सी धार्मिक और दार्शनिक परम्पराएं हैं। यहाँ हम उनके बारे में संक्षिप्त चर्चाएं करेंगे।

पाशुपत अथवा कापालिक

पाशुपत उत्तर में सर्वाधिक प्राचीन शैववादी परम्परा है। उनमें तपस्वी प्रवृत्तियां अधिक हैं। यद्यपि उनके सिद्धान्त सांख्य और योग दर्शन के निकट प्रतीत होते हैं फिर भी वे उन्हें इन विचारधाराओं से अलग करते हैं। और शैव एकेश्वरवाद पर बल देते हैं। उनके लिए शिव पूर्ण स्वतंत्र हैं और विश्व के निमित कारण हैं। प्रकृति और आत्माएं कार्य हैं। उनका मूल ईश्वर की इच्छा में है। मोक्ष प्राप्त आत्माएं शिव के साहचर्य में नित्य हो जाती हैं। उनके योगाभ्यास एकांत में शिव के निरंतर संपर्क में सम्पन्न होते हैं। इसी कारण से शैववादी श्मशान पर बारम्बार जाते हैं। उनके कर्मकांडीय व्यवहार प्रायः विद्रोही प्रवृत्ति के हैं। अधिक अतिवादी समूह, कापालिक, सांसारिक वस्तुओं से आडंबरपूर्ण अभेद में विश्वास करते हैं। वे दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि यह किसी व्यक्ति की भव सागर से मुक्ति का श्रेष्ठ तरीका है। वे मनुष्य की खोपड़ी और मदिरा का कटोरा साथ में रखते हैं। इस घटक के कारण उनकी कापालिक अथवा भैरव के रूप में पूजा की गई है।

कश्मीरी शैवमत (काश्मीर शैवमत)

नौवीं शताब्दी में कश्मीर में शैवमत का एक अद्वैतवादी रूप विकसित हुआ। इस सम्प्रदाय को त्रिकशास्त्र अथवा त्रिक शैववादी के नाम से जाना जाता है। त्रिक के प्राथमिक साहित्य हैं– *सिद्धतंत्र, मालिनीतंत्र और वामतंत्र*। ये साहित्य अपने चरित्र में रहस्योद्घाटक हैं, जिसमें दार्शनिक विचारों की अपेक्षा धर्मशास्त्रीय विचार अधिक हैं। वासुगुप्त पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिवसूत्र में त्रिक दर्शन को व्यवस्थित रूप में व्याख्यायित किया। बाद में इसे सोमानंद, उत्पलदेव, भाष्कराचार्य, अभिनवगुप्त और क्षेमराज और अन्यों द्वारा विकसित किया गया। कश्मीरी (काश्मीर) शैवमत ईश्वर, आत्मा और द्रव्य के तीन सिद्धांतों के तहत परम सत्ता का वर्णन करता है। अद्वैतवाद से प्रभावित होने के कारण कश्मीरी शैवमत यह शिक्षा देता है कि शिव परम सत्य हैं जिससे सब–कुछ उत्पन्न हुआ है। धर्मशास्त्रीय और नास्तिकतावादी दृष्टिकोण से वे शिव और शक्ति दोनों हैं। परम सत्ता केवल ईश्वर नहीं है बल्कि देवत्व भी है। यद्यपि सत्य केवल एक है, फिर भी इसे दो दृष्टिकोणों से समझा जा सकताहै। त्रिक दर्शन को शैव व शाक्त पक्षों को मिलाते हुए अभिनवगुप्त ने जो दर्शन दिया, वह अद्वैतवादी के साथ–साथ आस्तिकतावादी भी था। अद्वैत सत्य एकमात्र परम सत्य है। जो अलौकिक तथा मन, बुद्धि और वाक् (वाणी या भाषा) से परे है। शिव सम्पूर्ण हैं जैसे स्थिर आकृति में शुद्ध चेतना होती है। गतिशील पक्ष से संपूर्ण सत्ता अपने को शक्ति से विश्व को व्यक्त करती है। व्यक्त संसार माया अथवा अविद्या के कारण नहीं है, बल्कि सत्य है, क्योंकि संपूर्ण सत्ता से अभिन्न है। ब्रह्मांड के रूप में अपने को अभिव्यक्ति करते समय परम सत्ता किसी प्रकार के परिवर्तन, रूपांतरण अथवा विभाजन से नहीं गुजरती है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया परम सत्ता की आत्म चेतना का अपने भीतर प्रतिबिम्बन के माध्यम से होती है। जैसे की दर्पण में होता है। ईश्वर स्वयं सीमित विश्व और सीमित व्यक्ति के रूप में अवतरित होता है। कश्मीरी शैवमत अद्वैत एकेश्वरवाद की तुलना में भौतिक द्रव्य पर अधिक जोर देने का प्रयास है। यह विश्व में जीवन के नकारात्मक दृष्टिकोण को सिरे से नकारता है। तंत्रवाद में गहरी जड़ होने के कारण यह संसार को त्यागने में विश्वास नहीं करता है बल्कि सांसारिकता को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करता है। बंधन ईश्वर की गतिविधि है, जिससे वह अपनी सारभूत प्रकृति को स्पष्ट करता है। मोक्ष कुछ नहीं है, वह ईश्वर के आवश्यक स्वभाव की अभिव्यक्ति है। मोक्ष यह बौद्धिक अनुभव है कि परम सत्ता और वैयक्तिक आत्मा एक समान हैं। संसार में जीवन का आनंद उठाते हुए मोक्ष का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। त्रिक शैवमत में व्यक्ति के स्वभाव के साथ–साथ उसकी बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखते हुए मुक्ति के अनेक ढंग निर्धारित किये गये हैं। इस शैवमत में भक्ति के लिए भी स्थान है। यह यौगिक दृष्टिकोण को निरस्त करता है जिसके अनुसार, व्यक्ति प्रयास से मोक्ष प्राप्त करता है। आत्म–प्रयास मोक्ष में उतनी ही भूमिका निभाता है, जितनी दैवीय कृपा। यह मानता है कि किसी भी तरह आत्म प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक ईश्वर कृपा नहीं प्राप्त हो जाती। शिव की कृपा परम सत्ता की अभिन्न आत्मानुभूति के लिए आवश्यक और पर्याप्त है। कृपा ईश्वर का निःशुल्क उपहार है और किसी के अच्छे कार्यों के परिणाम पर निर्भर करती है। कृपा बिन मांगा निष्काम उपहार है, जो ईश्वर की ओर से अबोध और स्वतः स्फूर्त प्रवाह है। वैयक्तिक आत्म–समर्पण और कृपा दोनों साथ–साथ चलती हैं। और एक दूसरे को सशक्त और दृढ़ बनाती हैं।

वीर शैवमत

वीर शैवमत अथवा लिंगायतमत एक शैवमत के धार्मिक आन्दोलन के रूप में बारहवीं शताब्दी में कर्नाटक के पश्चिमोत्तर भागों में विस्तारित हुआ। लिंगायत मत भी 28 शैव

आगमों पर आधारित हैं। यह परम्परा मानती है कि यह बहुत प्राचीनतम है और पांच तपस्वियों– एकोरामा, पंडिताराध्य, देवना, मरूला और विश्वाराध्य– द्वारा स्थापित की गई थी। ऐसा माना जाता है कि ये तपस्वी शंकर के मस्तक से उत्पन्न हुए थे। बहरहाल, श्री बसवेश्वर को इसका संस्थापक माना जाता है। उन्होंने अपने को परम्परागत हिंदुत्व से अलग कर लिया और पवित्र यज्ञोपवीत संस्कार से इंकार करके इसके निरर्थक कर्मकांडों का उग्रतम विरोध किया। उनके अनुयायी मानते हैं कि वे नंदी के अवतार हैं। यह परम्परा शिव को सर्वोपरि मानती है। इसके अनुसार केवल शिव की ही उपसना करनी चाहिए। वीर शिव पद का अर्थ है दिग्गज शिव। एक छोटे –से लिंग को धातु की डिबिया में गले में पहनना लिंगायतों की भेदक पहचान है। सैद्धांतिक रूप से वे जाति के समस्त भेदों को नकारते हैं और स्त्रियों को पुरुषों के समान स्थान देते हैं। वे कट्टर शाकाहारी होते हैं। और जादू–रहस्य का विरोध करते हैं। लिंगायतों के लिए लिंग अनिवार्य रूप से लिंगोपासना का प्रतीक नहीं है बल्कि यह अग्नि और प्रकाश की एकाग्रता के रूप में माना जाता है, जो व्यक्ति के शरीर और मस्तिष्क को शुद्ध करता है। अग्नि को वे इतना पवित्र मानते हैं कि इसका उपयोग वे अंतिम संस्कार के लिए नहीं करते हैं। फलस्वरूप लिंगायत शवों को जलाने की बजाय दफनाते (मिट्टी में गाड़ना) हैं। शिव की आंतरिक शक्ति सभी जीवों में है, जो उसे दैवीय अभिव्यक्तियों को देखने में सक्षम बनाती है।

शैव सिद्धान्त

शैव सिद्धान्त शैव आगमों, उपनिषदों, 12 तिरुमुराइयों, 14 मीकांत शास्त्रों पर आधारित तमिल शैववादियों में विकसित दर्शन है। सिद्धान्त का अर्थ है स्थापित निष्कर्ष। शैव सिद्धान्त शैव उपासकों के प्रति समावेशी दर्शन है। यह दर्शन दक्षिण भारत में बहुत लोकप्रिय है। शैव सिद्धान्त को आगमांत–आगमों का निष्कर्ष माना जाता है। यद्यपि यह आगम परम्परा से उत्पन्न है किन्तु यह वेदान्त परम्परा को कभी निरस्त नहीं करती है। इसमें वेदों को सामान्य स्रोत के रूप में लिया गया है। आगम इस दर्शन के विशिष्ट स्रोत हैं। शैव–सिद्धान्त आस्तिकतावादी दर्शन हैं, जिसमें दर्शन और धर्म का समावेश है। बहुतलतावादी यथार्थवादी होने के कारण यह तीन आंतरिक यथार्थों को स्वीकार करता है किसी दर्शन की भांति इसमें भी ईश्वर, द्रव्य और आत्मा के सम्बन्ध को निर्धारित किया गया है। इसने घोषणा की है कि ईश्वर की तरह द्रव्य और आत्मा भी नित्य हैं। परम सत्ता अपने करूणामय रूप के माध्यम से आत्माओं को द्रव्य और तीन धब्बो (मलों), जो उनकी पवित्रता को कलुषित करते हैं, से मुक्त कराने में सदा निरत रहती है। ईश्वर आत्मा अथवा ब्रह्माण्ड के समान नहीं है। वह उनका उपादान कारण भी नहीं है फिर भी वह उनमें निवास करता है और वे उनमें। अद्वैत एकत्व नहीं है, बल्कि अपृथकता है। गुरू से ज्ञान आता है। यद्यपि शिव सभी प्रकार के ज्ञान के स्रोत, व सभी प्रकार की बुद्धिमत्ता और करूणा का मूर्त रूप हैं।

ईश्वर और आत्मा की प्रकृति

शैव सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर अपने मूल स्वभाव में समय और काल की दृष्टि से निर्विकार और अपार है। यह सभी अनुभववादी ज्ञान से परे है। यह अनाम और निर्गुण है। निम्नलिखित 8 गुण ईश्वर के चरित्र की विशेषताएं हैं– आत्म निर्भरता, निर्मल शरीर, सहज ज्ञान, सर्वज्ञ, आंतरिक रूप से स्वतंत्र, अपरिमित कृपा, अपरिमित शक्ति और अपरिमित आनन्द। अपने मूल रूप में ईश्वर को परा शिवम और उनकी अविच्छिन्न ऊर्जा को पराशक्ति कहा जाता है। ईश्वर अनिर्वचनीय है क्योंकि वह शब्द और उसकी अंतर्वस्तु से परे है। यद्यपि ईश्वर सबसे परे हैं लेकिन वह सबमें व्याप्त हैं, वह सभी में अंतःवासी और अंतःशासक के रूप में अंतर्यामी हैं। वह अपनी अपरिमित दया से आत्माओं की भलाई के लिए विभिन्न रूप धारण

करते हैं। शिव और शक्ति सूर्य और उसकी किरणों की तरह अविच्छिन्न हैं। परम सत्ता की स्थिर स्थिति शिव है और उसकी गतिशील स्थिति शक्ति है। शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव की कल्पना नहीं की जा सकती। ईश्वर की पत्नी शक्ति उनकी कृपा का मूर्त रूप हैं। अपनी शक्ति के माध्यम से भगवान लौकिक कार्यों– जैसे रचना, पालन, संहार, कृपा, दान, को पूरा करते हैं। इन कार्यों का उद्देश्य आत्माओं को दैहिक और दैविक खुशियां और आनन्द प्रदान करना है। विश्व की रचना आत्माओं को क्रियाओं में संलिप्त करने और अनुभव प्रदान करने के लिए की जाती है, ताकि मूलभूत बुराई आणव समाप्त हो सके। सृष्टि पालन आत्माओं के कर्म–फल का अनुभव कराने के लिए किया जाता है। कर्म–फल का अनुभव लेने के बाद आत्माओं को आराम देने के लिए संहार होता है। आणव के माध्यम से आत्मा दैहिक सुखों को इसकी क्षमता के चुकने तक भोगने के लिए आकर्षित करने का कार्य करता है। सृष्टि निर्माण का उद्देश्य आणव को परिपक्वता प्रदान करना है। ईश्वर आत्माओं पर कृपादृष्टि आणव को परिपक्वता और आध्यात्मिक प्रगति को देखकर ही करता है। ईश्वर आत्माओं को पवित्र करने और उन्हें बुद्धिमत्ता प्रदान करने के लिए गुरु के रूप में प्रकट होता है। ईश्वर को पति कहा जाता है। आत्माएं असीमित संख्या में हैं और आरंभ से ही ये आणव मल के संपर्क में रहती हैं। ये आत्माएं ईश्वर की कृपा से ही अस्तित्व में आती हैं। मलों की प्रचंडता के अनुसार, आत्माएं तीन समूहों में विभाजित की गई हैं– विज्ञान कलस, प्रलय कलस, और सकलस। विज्ञान कलस वे आत्माएं हैं जिनके पास आणव मल होता है। जब आत्माएं दैहिक शरीर, ज्ञानेन्द्रियों, कर्म–वस्तुपरक विश्व, विलास की वस्तुओं के संपर्क में होती हैं तो वे सांसारिक ज्ञान, आनंद और दुख का अनुभव करती हैं। ये पांच विभिन्न परिस्थितियों–जाग्रत् (जागना), स्वप्न (स्वप्न देखना), सुषुप्ति (स्वप्नहीन निद्रा), तुरीय (गहरी निद्रा) और तुरीयातीत (गहरी निद्रा से परे)– से गुजरती हैं। विविध जन्मों और मरणों के माध्यम से आत्मा अपने कर्म–फलों से युक्त हो जाती है और प्रभु कृपा से मोक्ष प्राप्त करती है। ईश्वर के बाद आत्मा को उत्कृष्ट, गरिमामय, और आध्यात्मिक सत्ता, माना जाता है। शैव सिद्धान्त आत्मा की सामर्थ्य में विश्वास करता है। इसमें कुछ निश्चित गुण ईश्वर के समान होते हैं। यह बुद्धिमान सत्ता है लेकिन सर्वज्ञ नहीं है। उसके पास इच्छा शक्ति और अंतर्ज्ञान होता है। यह केवल ईश्वर–कृपा ग्रहण करती है। चूंकि इसमें दैवीयता होती है। इसलिए यह ईश्वर को जान सकती है। भौतिक द्रव्य के पास यह नहीं होती है। बुराई से दूर रहते और अच्छाई करने की इच्छा–शक्ति होने के कारण यह ईश्वर–कृपा की सहायता से मलयुक्त से जीवनमुक्ति की ओर अपने स्तर को उठा सकती है। कुछ सम्प्रदाय आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। कुछ आत्मा के स्थान पर विभिन्न वस्तुओं को निर्धारित करते हैं। शैव सिद्धान्त ऐसे मतवादों का खंडन करता है और आत्मा की प्रकृति को स्थापित करता है। आत्मा के महत्व को बढ़ाना सृष्टि रचना का उद्देश्य है। शैव सिद्धान्त में आत्मा कर्त्ता एवं भोक्ता है।

बंधन और मोक्ष

पशु का अर्थ है, वह व्यक्ति जो बंधन युक्त है। बंधन पाश है, दोष अथवा अशुद्धि। ये हैं– आणव, कर्म और माया। आणव मुनष्य में मूल दोष हैं आध्यात्मिक अंधकार मनुष्य से संबद्ध सहज मल हैं। माया और कर्म आध्यात्मिक अंधकार के दुष्प्रभावों का सामना करते हैं। आणव जीव की चेतना को छिपाता है, जैसे तांबे का जंग तांबे की चमक को ढक लेता है। आणव की प्रकृति है आत्मा को सक्रिय होने से रोकना। आणव और आत्मा के बीच अनादि सम्बन्ध है। यह उतना ही पुराना है जितना कि जीव। दूसरा बंधन है माया। यह तत्वों का भौतिक कारण है। माया, ब्रह्माण्ड का भौतिक कारण है, सबका आधार, मौलिक कारण, वास्तविक और नित्य है। माया की प्रकृति सूक्ष्म, अप्रत्यक्षणीय, निर्गुण और अनुभव

योग्य होती है। माया मा और या है, यानि संकल्प और क्रमिक विकास। माया सूक्ष्म रूप में है। अभिव्यक्त रूप में तत्त्व माया का क्रमिक विकास है। ईश्वरेच्छा से तत्त्व आत्माओं की रक्षा के लिए उत्पन्न किये जाते हैं। कर्म तीसरा बंधन है। यह गुण–अवगुण और धर्म–अधर्म के रूप में है।

शैव सिद्धान्त मोक्ष के साधन के रूप में सेवा और उपासना पर बल देता है। चरियाई और क्रियाई मार्ग मुक्ति के साधन हैं। ईश्वर –कृपा–प्राप्ति के शक्तिशाली साधन के रूप में सेवा पर काफी बल दिया गया है। योग और ज्ञान अन्य साधन हैं। इन साधनों के निरंतर अभ्यास से आत्मा संतुलित दृष्टिकोण की स्थिति (इरुविनई ओप्पु) प्राप्त करती है, जिससे आत्मा विरोधी स्थिति में न तो चिढ़ती है और न ही समृद्धि की स्थिति में उल्लसित होती है। आत्मा विभिन्न गतिविधियों से संसार में संलिप्तता के माध्यम से कर्मों और आणव को समाप्त करती है और फिर मलपरिपगम की स्थिति में पहुचती हैं। पूर्णता की यात्रा में ईश्वर स्वयं गुरु, प्रत्यक्षकर्ता के रूप में प्रकट होता है और यथार्थ की प्रकृति का निर्देशन करता है। अनुग्रह आत्मा पर पड़ता है। इस प्रकार ईश्वर द्वारा प्रकाशित आत्मा बंधन से मुक्त हो जाती है।

बोध प्रश्न 2

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. शैव सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

22.5 वैष्णवमत के दार्शनिक सम्प्रदाय

विभिन्न संतों और तपस्वियों के भक्ति आन्दोलनों से संचालित वैष्णवमत धर्म और दर्शन दोनों क्षेत्रों में विकसित हुआ। यहां पर हम कुछ प्रमुख वैष्णव दार्शनिकों के अल्प ज्ञात पक्षों पर चर्चा करेंगे। उनमें से रामानुज और मध्व पर स्वतंत्र अध्याय पहले ही प्रस्तुत किये जा चुके हैं। यहां हम पहले इन दोनों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे और फिर अन्यों की।

वैष्णव दार्शनिकों में महान रामानुज अस्तिकतावादी दार्शनिक थे। उन्होंने घोषणा की कि भक्ति मार्ग मोक्ष की ओर ले जाता है। इसे केवल ईश्वर के प्रति समर्पण–भक्ति के द्वारा अर्जित किया जा सकता है। उपासक भक्ति में यह अनुभव करता है कि वह ईश्वर का अंश है और उस पर पूर्णतः निर्भर है। मोक्ष ईश्वर के ऊपर अपने को पूर्णतः छोड़ देने और उसकी कृपा की विनम्रता पूर्वक प्रतीक्षा करने से मिलता है। परम सत्ता व्यक्तित्व संपन्न है।

रचना ईश्वर के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। उसकी प्रेम करने और प्रेम पाने की आदिम आवश्यकता की अभिव्यक्ति है। वैयक्तिक आत्मा ईश्वर के सार से बनी है। फिर भी पूरी तरह से उसके समान नहीं है। आनंद की चरम स्थिति में वह ईश्वर से जुड़ जाती है। वह कुछ निश्चित जीव की चेतना को बनाये रखती है। यदि आत्मा आत्म–चेतना को खोती है तो यह उसकी वैयक्तिक आत्म के अस्तित्व पर विराम होगा। यह कभी भी मर नहीं सकती है क्योंकि यह दैवीय सार का अंश है और दैवीय नित्यता की सहभागी है। इसलिए, मोक्ष प्राप्त आत्मा ईश्वर के साथ होते हुए भी अलग है। इसलिए रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैतवाद कहा जाता है। मध्व ने द्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार ईश्वर, आत्माएं और पदार्थ अनंत काल से भिन्न हैं। मोक्ष ईश्वर में विलीन होना नहीं है, बल्कि उसके निकट पहुंचना है और सदा के लिए ईश्वर की शांत और गंभीर चिंतन की महिमा में निवास करना है। मोक्ष पूर्णतः ईश्वर की कृपा से मिलता है। आत्मा की गहरी भक्ति और कठोर नैतिकता से मोक्ष नहीं मिलता है। ईश्वर की कृपा सही और उपयुक्त आत्मा को दान में मिलती है।

बारहवीं सदी में रामानुज के बाद निम्बार्क आते हैं। संभवतः वे मध्व से पहले के थे। वे कृष्ण के भक्त थे। उन्होंने मथुरा, कृष्ण की जन्म स्थली, में ही अपने जीवन का अधिकांश समय बिताया। उनके लिए ब्रह्म राधा के संगी–साथी गोपाल कृष्ण हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक संक्षिप्त टीका लिखी है। उनके द्वारा प्रचारित मत को द्वैताद्वैत, एकता में द्वैत, कहा जाता है। उन्होंने भास्कर के मत भेदाभेद को स्वीकार किया। जैसा कि उपनिषदों के कई अंश जो परम सत्ता को अद्वितीय और निर्गुण मानते हैं वहीं ऐसे भी अंश हैं जो परम सत्ता को असंख्य गुणों से संपन्न बताते हैं। अद्वैतवादियों ने माया की अवधारणा और दो स्तरीय यथार्थ के सिद्धान्त– वास्तविक यथार्थ और प्रकट यथार्थ के द्वारा निर्गुण अद्वैत परम सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। भास्कर का भेदाभेद सिद्धान्त ऐसे ब्रह्म को प्रस्तुत करता है जो असंख्य गुणों से संपन्न है किंतु बिना किसी रूप के है। परम सत्ता के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रखते हुए ब्रह्म अपने आपको द्वैतवादी संसार और परिवर्तन के रूप में रूपांतरित करता है। निम्बार्क के लिए तीन यथार्थ सत्ताएं हैं– ब्रह्म, आत्मा, और द्रव्य। ये समान रूप से नित्य हैं। ब्रह्म नियंत्रक, आत्मा भोक्ता और द्रव्य भोग्य हैं। ब्रह्म स्वतंत्र सत्ता है, जबकि आत्मा और द्रव्य परतंत्र वास्तविकताएं हैं। उनके बीच का सम्बन्ध स्वाभाविक भेद और अभेद है (स्वाभाविकभेदाभेद)। आत्माएं द्रव्य से भिन्न हैं, क्योंकि उनका परतंत्र और भिन्न अस्तित्व है। (परतंत्रसत्ताभाव)। विभिन्न में एकता के सम्बन्ध को कारण–कार्य सम्बन्ध, अंश–अंशी सम्बन्ध के आधार पर समझा जा सकता है। जैसा कि बर्तन मिट्टी से भिन्न और अभिन्न दोनों है। आत्माएं और द्रव्य ब्रह्म से संबद्ध हैं। मोक्ष की स्थिति में आत्मा अपने व्यक्तित्व को नहीं खोती है। इस स्थिति में आत्मा केवल ईश्वर से अपनी समानता का अनुभव करती है। मोक्ष कर्म, ज्ञान, उपासना, प्रपत्ति और गुरूपसत्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है। ईश्वर का प्रेम ही मोक्ष का साधन है। ईश्वर का प्रेम केवल ईश्वर की महानता की पहचान (ऐश्वर्य प्रधान भक्ति) नहीं बल्कि उनकी अपरिमित मधुरता (माधुर्य प्रधान भक्ति) पर आधारित होता है। निम्बार्क के अनुसार, मोक्ष मृत्यु के बाद प्राप्त होता है, शरीर जीवित रहते नहीं।

बनारस में पैदा हुए वल्लभ (1479–1531) एक महत्वपूर्ण संत और दार्शनिक थे। इन्होंने वैष्णव भक्ति आन्दोलन को बहुत लोकप्रिय बनाया और स्थापित किया कि मोक्ष कृष्ण के प्रति भक्ति से ही संभव है। उनकी कई रचनाओं में से सुबोधिनी और सिद्धान्त रहस्य बहुत लोकप्रिय हुई। उनके अनुसार गोपाल–कृष्ण परम ब्रह्म हैं। ब्रह्म और संसार के

बीच सम्बन्ध शुद्धाद्वैत का है। उनका मतवाद शुद्धाद्वैतवाद के रूप में स्वीकार्य है जो कि शंकर के केवलाद्वैत से भिन्न है। उनके अनुसार शंकर का मत अशुद्ध है क्योंकि विश्व की व्याख्या के लिए वह माया–विभ्रम के सिद्धान्त – पर निर्भर है। परम सत्ता उपनिषदों में ब्रह्म और *गीता* में परमात्मा के रूप में जानी जाती है। वे श्रेष्ठ व्यक्ति हैं– पुरूषोत्तम हैं। वह सच्चिदानन्द है। उनमें सभी गुणों हैं। वे नित्य और अपरिवर्तनशील हैं। फिर भी माया शक्ति के द्वारा सब–कुछ हो जाता है। इसलिए वे संसार से भिन्न नहीं हैं। आत्माएं उन्हीं के द्वारा बनाई और नष्ट की जाती हैं। वल्लभ के लिए परम ब्रह्म अंतर्यामी और अक्षर के रूप में स्वयं को प्रकट करता है। वे अंतर्यामी के रूप में आत्माओं में सीमित आनंद के साथ निवास करते हैं। ज्ञानी अपने लक्ष्य को पाने के लिए 'अक्षर' ध्यान लगाते हैं। आत्मा ब्रह्म का अंश और नित्य है। जैसे आग से ज्वाला निकलती है वैसे ही आत्माएं ब्रह्म से उत्पन्न होती हैं।

आत्माएं ज्ञाता, प्रतिनिधि और भोक्ता होती हैं। उनमें सत् और चित् अभिव्यक्त होते हैं और आनंद अविकसित बना रहता है। तीन प्रकार की आत्माएं होती हैं। प्रवाह (जो संसार सागर में प्रवाहित होती रहती है), मर्यादा (जो वैदिक मार्ग पर चलती हैं) और पुष्टि (जो ईश्वर की उपासना ईश्वर–कृपा और विशुद्ध प्रेम से करते हैं)। संसार मिथ्या या विभ्रम नहीं है। यह ब्रह्म से अभिन्न (अभेद) है। विश्व ब्रह्म का रूपांतरण है जिसमें सत् के तत्त्व अभिव्यक्ति होते हैं जबकि अन्य तत्त्व चित् और आनंद अविकसित बने रहते हैं। जीव का 'मैं और मेरा' का बोध अवास्तविक हैं, जिसे ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

बंगाल के सबसे सम्मानित और लोकप्रिय सुधारक चैतन्य वल्लभ के समकालीन थे। इन्होंने कीर्तन अथवा भक्ति गीतों के माध्यम से कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने राधा–कृष्ण के प्रेममय भक्ति गीतों को लोकप्रिय बनाया। चैतन्य के लिए सत्–चित्–आनंद के रूप में ब्रह्म केवल अभेदहीन सत्ता नहीं है। उनके पास अपरिमित शक्तियां हैं। मुख्य शक्तियां– स्वरूपा शक्ति, माया शक्ति और जीवन शक्ति हैं। आत्म–शक्ति या स्वरूपा शक्ति उनमें निहित होती है। यही शक्ति सभी लीलाओं के लिए जिम्मेवार है। माया शक्ति ईश्वर की शक्ति है जो भौतिक संसार के लिए जिम्मेवार है माया शक्ति बाह्य शक्ति है जिसके दो पक्ष हैं– लौकिक (गुणोमय माया) और वैयक्तिक (जीव–माया)। ईश्वर लौकिक शक्ति द्वारा सत्त्व, *रजस्*, *तमस्* से ब्रह्मांड की रचना करता है। वैयक्तिक शक्ति द्वारा वह जीवों को आत्म–प्रकृति को विस्मृत कराकर हर्ष–विषाद का भोक्ता बनाता है। जीवन शक्ति परिमित आत्माओं के सार का निर्माण करती है और अन्य दोनों शक्तियों के मध्य में स्थित रहती है। ईश्वर रस और रसिक दोनों हैं। उनकी शक्ति राधा हैं जिनके साथ प्रेम में वे एकमेव रहते हैं। वे एक में दो हैं और अविच्छिन्न रूप से एक दूसरे से बंधे हुए हैं। अंतर्यामी ब्रह्म ईश्वर का एक पक्ष है और पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। निर्विशेष ब्रह्म परम सत्ता निम्न पक्ष है जो कि भेद हीन सत्ता और चैतन्य के लिए भक्ति मार्ग ज्ञान और योग से श्रेष्ठ मार्ग है। भक्ति की पराकाष्ठा पूर्ण आत्मदान है, ईश्वर के प्रति शर्तरहित समर्पण है। 'केवला भक्ति' साधन मात्र नहीं है वह मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य भी है। यह पांचवा पुरूषार्थ है। यह मोक्ष के भी परे है। इसकी अनुभूति जिसे होती है, वह केवल कृष्ण की विशिष्ट सेवा करना चाहता है। आत्मा, जगत् और ईश्वर के बीच सम्बन्ध औचित्य भेदाभेद का है। यह सम्बन्ध कारण–कार्य, अंश–अंशी शक्ति का है। यह सम्बन्ध एक ही समय भेद और अभेद दोनों है।

बोध प्रश्न 3

ध्यातव्य : क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग कीजिए।

ख) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान कीजिए।

1. निम्बार्क की ईश्वर की अवधारणा की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

2. चैतन्य के वैष्णव दर्शन पर टिप्पणी लिखें।

....

....

....

....

....

22.6 सारांश

शैवमत और वैष्णवमत भारत में लोकप्रिय धार्मिक और दार्शनिक परम्पराएं हैं जो मध्य काल में बहुत लोकप्रिय हुईं। इन्होंने व्यावहारिक जीवन को दार्शनिक विचार के साथ जीने की परम्परा विकसित की। दोनों परम्पराओं में प्रत्येक के अपने भगवान हैं क्रमशः शिव और विष्णु उनके परमेश्वर हैं। पूरे भारत में फैले होने के नाते उनमें ईश्वर, आत्मा और जगत् सम्बन्धी विभिन्न दार्शनिक अवधारणाओं के साथ कई सम्प्रदाय हैं। फिर भी वे प्रेम और भक्ति के सूत्र में बंधे हुए हैं। दोनों धार्मिक परम्पराएं हैं। कुछ लोग मानते हैं कि वैदिक रूद्र ही बाद में चलकर शिव के रूप में विकसित हुए। पाशुपत, काश्मीर शैवमत, वीर शैवमत, और शैव सिद्धान्त इस सम्प्रदाय के प्रमुख उप सम्प्रदाय हैं। इसी तरह से, वैष्णव धार्मिक परंपरा भी बहुत पुरानी है। इसमें विष्णु परमेश्वर माने जाते हैं। विष्णु के पांच महत्वपूर्ण रूप हैं जिनके द्वारा वे स्वयं को भक्तों के सामने प्रकट करते हैं। वैष्णवमत के कई उप सम्प्रदाय हैं। इसमें भक्ति के प्रखर रूप मिलते हैं। भक्ति का दर्शन विभिन्न उप संप्रदायों में बहुत अच्छी तरह से विकसित हुआ है। इसमें कई महत्वपूर्ण संत और दार्शनिक हुए है। जिनमें रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क और चैतन्य आदि प्रमुख हैं। इन दार्शनिकों के विचारों की व्याख्या हमने की है। अंत में, हम यह कह सकते हैं कि ये व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं के लिए उपयोगी धार्मिक दर्शन हैं।

22.7 कुंजी शब्द

तुरीय : गहनतम निद्रा

प्रपत्ति : स्व–समर्पण

22.8 अन्य सहायक अध्ययन–सामग्री एवं सन्दर्भ

अरूलसामी, एस. *रिलीजन फॉर अ न्यू सोसाइटी.* देल्हीः आईएसपीसीके, 2000.

ईश्वरन, के. *रिलीजन एंड द सोसाइटी अमंग द लिगायत्स ऑफ साउथ इंडिया.* न्यू देल्हीः विकास पब्लिशिंग हाउस, 1983.

कण्डास्वामी, एस.एन. *तमिल लिटरेचर एण्ड इंडियन फिलॉसोफी.* चेन्नईः इन्टरनेशनल इंस्टीटूयूट ऑफ तमिल स्टडीज, 2001.

कपूर, सुबोध. *अ शॉर्ट इन्ट्रोडक्शन टू शैविज्म.* न्यू देल्हीः इंडिगो बुक्स, 2002.

कार्पोटर, जे. एस्टलीन. *थीइज्म इन मिडिवल इंडिया.* न्यू देल्हीः ओरियन्टल बुक्स, 1977.

चितोगोपोकर, नीलिमा. *एनकाउन्टरिंग शैविज्मः द डेइटी, मिल्यू, द इन्टोरेज.* न्यू देल्हीः मुंशीराम मनोहरलाल, 1998.

जोसेफ, वी एस जार्ज. *सेन्ट्रलिटी ऑफ सेल्फ इन शैव सिद्धान्त.* बैंग्लोरः एटीसी, 2009.

डुनुविला, रोहन ए. *शैव सिद्धान्त थ्योरि.* देल्हीः मोतीलाल बनारसीदास, 1985.

देसाई, पीबी. *बसवेश्वर एण्ड हिज टाइम्स.* धारवाड़ः कर्नाटक विश्वविद्यालय, 1968.

देवसेनापति, वी ए. *शैव सिद्धान्त.* मद्रासः मद्रास विश्वविद्यालय, 1974.

पाण्डेय, के.सी. *ऐन आउटलाइन ऑफ हिस्ट्री ऑफ फिलॉसोफी.* न्यू देल्हीः मातीलाल बनारसीदास, 1986.

परनजोति, वी. *शैव सिद्धान्त.* लंदनः लुजाक एण्ड कंपनी लिमिटेड, 1954.

पंडित मोती लाल. *एन इन्ट्रोडक्शन टू द फिलॉसोफी ऑफ त्रिक शैविज्म.* न्यू देल्हीः मुंषीराम मनोहरलाल, 2007.

पार्थसारथी, इंदिरा. *वैष्णविज्म इन तमिल लिटरेचरः बिटवीन द सेवेंथ एण्ड एट्थ सेंचुरीज.* चेन्नईः इन्टरनेशनल इंस्टीटयूट ऑफ तमिल स्टडीज, 2002.

भट्टाचार्य, एन एन. *मिडिवल भक्ति मूवमेन्ट इन इंडिया.* न्यू देल्हीः मुंशीराम मनोहरलाल, 1999.

विजयलक्ष्मी, आर. एन. *इन्ट्रोडक्शन टू रिलीजन एण्ड फिलॉसोफी, तेवरम एण्ड तिव्यप्पिरपन्तम.* चेन्नईः इन्टरनेशनल इंस्टीटयूट ऑफ तमिल स्टडीज, 2001.

शास्त्री के. ए. नीलकण्ठ. *डेवेलपमेंट ऑफ रिलीजन इन साउथ इंडिया.* न्यू देल्हीः मुंशीराम मनोहरलाल, 1992.

शर्मा, कृष्ण. *भक्ति ऐंड भक्ति मूवमेंट.* न्यू देल्हीः मुंशीराम मनोहरलाल, 2002.

सिद्धांलिंगैयाह, टीबी. *शैव सिद्धान्त इन हिस्टोरिकल परस्पेक्टिव.* चेन्नई: उमा रामजी ट्रस्ट, 2004.

सियारमन, के. *शैविज्म इन फिलॉसोफिकल परस्पेक्टिव.* न्यू देल्ही: मोतीलाल बनारसीदास, 1973.

हिन्दी अध्ययन सामग्री

दासगुप्त, सुरेन्द्र नाथ. *भारतीय दर्शन का इतिहास* (पांच भाग). अनुवाद– कलानाथ शास्त्री एवं सुधीर कुमार. जयपुर: राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1977.

राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन* (दो खण्ड). अनुवाद– नन्दकिशोर गोभिल. दिल्ली: राजपाल एण्ड सन्स, 2015.

शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण.* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2005.

हिरियण्णा, एम. *भारतीय दर्शन की रूपरेखा.* हिन्दी अनुवाद– गोवर्धन भट्ट आदि दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1969.

22.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. शैवमत का उद्भव: शैवमत भारत और संभवत पूरी दुनिया का प्राचीनतम और प्रागैतिहासिक धर्म है। शिव को वैदिक देवता रूद्र से जोड़ा जाता है। वेदों में शिव के समान देवता का उल्लेख हुआ है। बाद में शिव की अवधारणा का विकास हुआ। ऐसा भी माना जाता है कि शैवमत अवैदिक परंपरा पर आधारित है। शिव का सम्बन्ध सिन्धु घाटी सभ्यता से भी जोड़ा जाता है। इनका संगम तब हुआ जब वैदिक रूद्र देशी शिव के साथ मिल–जुल गये और दोनों को एक ही मान लिया गया। विदेशियों में सबसे पहले मेगस्थनीज ने शिव का उल्लेख किया। गुप्तकाल में शिव की उपासना महत्वपूर्ण बन चुकी थी। शिव का विकास और उनका हिन्दू परंपरा में एक शक्तिशाली ईश्वर के रूप में समावेश के प्रमाण वैदिक, पौराणिक और तमिल संगम साहित्य से मिलते हैं। हिन्दु धर्म के विकास के बाद के चरण में शिव त्रिदेव में एक माने गये जो संहार करते हैं।

2. विष्णु के विविध रूप: विष्णु के पांच रूप हैं– परा, व्युह, विभव, अंतर्यामी और अर्चा। परा के रूप में भगवान छह गुणों से संपन्न होता है– ज्ञान, प्रभुता, प्रभविष्णुता, शक्ति, सर्वज्ञता और वैभव। भगवान के चार व्यूह हैं– वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध। प्रत्येक व्युह के अलग–अलग कर्म निर्धारित किये गये हैं। अपने सांसारिक सरोकारों के लिए वे समय–समय पर अवतार लेते हैं। वैष्णववादी परंपरा के अनुसार अब तक केवल 9 ऐसे अवतार हुए हैं, एक और होना शेष है। विष्णु संसार और प्राणियों के दिलों में बसते हैं। मूर्ति भगवान का सबसे ठोस और सजीव रूप है। वैष्णवमत विष्णु की मूर्ति को वास्तविक विष्णु के रूप में मानते हैं। मूर्ति उन्हें सजीव बनाती है और भक्तों के लिए सदा सहज सुलभ भी। मूर्ति की सेवा भक्त का प्राथमिक कर्तव्य है।

बोध प्रश्न 2

1. शैव सिद्धान्त के लक्षण: यह तीन यथार्थ सिद्धांतों को मानता है। उनमें ईश्वर स्वतंत्र, बुद्धिमान ओर परम आनंद है। अन्य हैं– ब्रह्माण्ड और आत्माएं। ब्रह्मांड और आत्माएं अपने अस्तित्व के लिए भगवान शिव पर निर्भर हैं। सृजन का मुख्य लक्ष्य है अनादि आत्माओं की मुक्ति। आत्मा को पशु के रूपक में समझाया गया है। पाश्यू के नाक में नकेल लगी है। ये अशुद्धता, मल और आध्यात्मिक अज्ञान में लिप्त हैं। इसी कारण कर्म के चक्र में फंसे हुए हैं। तथापि यह कर्म प्रक्रिया लाभदायक है क्योंकि इससे ही उसे कर्म से मुक्ति का रास्ता मिलता है। यह कर्म, क्रिया, योग, और ज्ञान की प्रक्रिया का आरम्भिक चरण होती है। ईश्वर इस प्रक्रिया में आत्मा के हित में हस्तक्षेप करने का इच्छुक रहता है। तब वह, शिव, पूर्ण स्वतंत्र आध्यात्मिक मार्गदर्षक के रूप में आता है और आत्मा को अपनी अनुभूति कराता है।

बोध प्रश्न 3

1. निम्बार्क की ईश्वर की अवधारणा: निम्बार्क के लिए राधा पति गोपाल कृष्ण ब्रह्म हैं। ब्रह्म नियंत्रक है, आत्माएं भोक्ता हैं, जबकि पदार्थ भोग्य हैं। ब्रह्म स्वतंत्र सत्ता है जबकि आत्माएं और पदार्थ ईश्वर पर निर्भर हैं। उनके बीच सम्बन्ध स्वाभाविक भेद और अभेद (स्वाभाविक भेदाभेद) का है। आत्माएं और पदार्थ ब्रह्म से भिन्न हैं क्योंकि उनका अपना स्वतंत्र और भिन्न अस्तित्व है। (परतंत्र सत्ताभाव)। वे अभिन्न हैं, क्योंकि उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है (स्वतंत्र सत्ताभाव)। जैसे बर्तन मिट्टी से भिन्न और अभिन्न है वैसे ही आत्माएं और पदार्थ ब्रह्म से सम्बन्धित हैं। मोक्ष की अवस्था में आत्माएं अपनी वैयक्तिकता नहीं खोती हैं। इस अवस्था में आत्माएं केवल यह अनुभव करती हैं कि उनके और ईश्वर के बीच कुछ स्वाभाविक समानताएं हैं। मोक्ष कर्म, ज्ञान, उपासना प्रपत्ति ओर गुरुपसत्ति के प्रति भक्ति से प्राप्त होता है। ईश्वर का प्रेम ही मुक्ति की साधन है।

2. चैतन्य का दर्शन: चैतन्य का दर्शन पूर्णतः धार्मिक और भक्तिपरक है। उनके लिए ईश्वर सत्–चित्–आनंद है। ईश्वर न केवल रस है बल्कि रसिक भी है। उनकी शक्ति राधा है जिनके साथ प्रेम में वे एकमेक हैं। राधा और कृष्ण अविच्छिन्न हैं। ईश्वर अंतर्यामी और सर्वव्यापी है। वह लीला करता है। भक्ति का मार्ग ज्ञान और योग से श्रेष्ठ है। भक्ति की पराकाष्ठा परमेश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण में है। कैवल्य अथवा शुद्ध भक्ति केवल साधन नहीं है, यह आत्मा का अंतिम लक्ष्य है, यह पांचवा पुरुषार्थ है। यह मोक्ष से भी परे जाती है। इसकी अनुभूति जिसे प्राप्त होती है, वह सभी इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, केवल कृष्ण की सेवा ही उसकी एकमात्र इच्छा होती है। चैतन्य के दर्शन को अचिन्त्य भेदाभेद माना जाता है। यह आत्मा और ईश्वर के साथ सम्बन्ध की व्याख्या करता है। आत्माओं और जगत् का सम्बन्ध एक तरफ और इनका ईश्वर के साथ सम्बन्ध दूसरी ओर, दोनों को अचिन्त्यभेदाभेद कहा जाता है। इनका अर्थ हुआ कि उनका सम्बन्ध एक ही साथ भेद और अभेद दोनों का है।

NOTE

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

QR Code-website ignou.ac.in

QR Code - e Content-App

QR Code - IGNOU-Facebook (@OfficialPageIGNOU)

QR Code Twitter Handel (OfficialIGNOU)

INSTAGRAM (Official Page IGNOU)

QR Code - e Gyankosh-site

IGNOU SOCIAL MEDIA

QR Code generated for quick access by Students

IGNOU website

eGyankosh

e-Content APP

Facebook (@offical Page IGNOU)

Twitter (@ Offical IGNOU)

Instagram (official page ignou)

Like us, follow-us on the University Facebook Page, Twitter Handle and Instagram

To get regular updates on Placement Drives, Admissions, Examinations etc.

MPDD/IGNOU/P.O. 3K/January, 2021

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ISBN: 978-93-90773-69-5